वेद-रहस्य

प्रथम खण्ड

अनुवादक तथा सपादक
आचार्य अभयदेव विद्यालकार

प्रतापनिधि द्वारा प्रकाशित
२४ नवबर १९४८

प्रथम वार
१००० प्रति

अजिल्द ८)
सजिल्द ९)

प्राक्कथन

श्रीअरविंद की योगविपयक तथा आध्यात्मिक विचारधारा से तो अव लोग धीरे धीरे कुछ कुछ परिचित होने लगे है, उनकी इस विषय की पुस्तको में विचारशील लोगो की रुचि वढने लगी है ऐसा दीख रहा है। पर उन्होने वेद के सवध मे जो कुछ लिखा है उससे अव भी वहुत कम लोग परिचित है, यद्यपि वेद के विपय में लिखा हुआ उनका साहित्य किसी भी तरह उनके अन्यान्य लेखो से कम महत्त्वपूर्ण नही है। श्री-अरविंद और उनके आश्रम मे सपर्क होने पर १९३६ मे जव पहिली वार ही मुझे मालूम हुआ कि उन्होने वेद पर भी वहुत लिखा है तो मैने–विशेपत एक आर्यसमाजी होने मे–उमे वडे कुतूहल से देखा, पढा। सन् १९१४ मे १९२० तक जो उनका मासिक 'आर्य' पत्र निकलता रहा था उसमे 'The Secret of the Veda' तथा 'Selected Hymns' ये दो प्रसिद्ध लेखमालाए उन्होने वेद पर लिखी थी। इनके अतिरिक्त 'A Defence of Indian Culture' लेखमाला में तथा 'आर्य' के अन्य लेखो में एव आश्रम के साधको द्वारा पूछे गये वेदसवधी प्रश्नो के उत्तर मे भी वेद के सवध मे श्रीअरविंद ने अपने विस्तृत विचार प्रकट किये है। उन सवको पढने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ। मैने पाया कि उस सवमे श्रीअरविंद के वडे पाडित्यपूर्ण, महत्त्वपूर्ण और प्रकाशपूर्ण विचार प्रकट हुए है। अत स्वभावत इच्छा हुई कि उनका हिंदी में अनुवाद किया जाय। और मैने यह कार्य प्रारभ कर दिया। पर श्रीअरविंद के लेखो का अनुवाद करना आसान कार्य नही है। पाठको को मालूम नही होगा कि श्रीअरविंद के वैदिक साहित्य के हिंदी मे पुस्तकाकार इस प्रथम प्रकाशन के पीछे लगभग छ वर्ष का परिश्रम छिपा हुआ है।

श्रीअरविंद की अनुमति से हम उनके वेदसबधी साहित्य को अभी 'वेदरहस्य' नाम से तीन खडो में प्रकाशित करने का विचार रखते हैं। उनमेंसे प्रथम खड पाठको के हाथ में है। यह 'आर्य' में प्रकाशित 'The Secret of the Veda' नामक लेखमाला का हिंदी अनुवाद है। ये अध्याय स्वाध्यायमडल 'औंध' के मासिक पत्र 'वैदिक धर्म' में सवत् '९८, '९९ में प्रकट होते रहे हैं। पर इनका फिर सशोधन व परिवर्धन किया गया है।

यह केवल अनुवाद भी नही है। विचार को स्पष्ट करने के लिये कई जगह सक्षिप्त कथन को कुछ समझाकर लिखा गया है, कई जगह अपनी तरफ से टिप्पणी दी गयी है, बहुत जगह वेदमत्रो के पते दे दिये गये हैं, बहुत जगह जिन ऋचाओ का प्रसग चल रहा है वे ऋचाए उद्धृत कर दी गयी हैं, जहा वेद के किन्ही स्थलो की तरफ सकेत है वहा उन स्थलो का निर्देश कर दिया गया है। जिन वैदिक शब्दो या शब्दावली का उल्लेख अपने विषय के समर्थन में किया गया है वे वेद में कहा आये हैं यह ढूढकर लिख दिया गया है। इनके अतिरिक्त अत मे एक अनुक्रमणिका दी गयी है जिससे कि इस पुस्तक में आये विशेष प्रसगो, स्मरणीय विषयो तथा विशिष्ट उल्लेखो की तालिका पाठको को उपलब्ध हो गयी है। इस पुस्तक मे आये वेदमत्रो की सूची भी दे दी गयी है। यह होते हुए भी जहा तक अनुवाद का सबध है वह स्वतत्र अनुवाद की जगह शब्दश अनुवाद ही अधिक है। क्योकि श्रीअरविंद का शब्दप्रयोग गभीर अर्थपूर्ण तथा कुछ न कुछ महत्त्व को लिये होता है। इसलिये अनुवाद में भाषा के मुहावरेदार होने की अपेक्षा भी भाव पूरा पूरा आ गया है इसका ही अधिक ध्यान रखा गया है।

श्रीअरविंद के अनुसार 'वेद का प्रतिपाद्य', वेद का असली आशय, क्या है यह तो पाठक श्रीअरविंद के शब्दो में इस पुस्तक में ही पढेंगे। पर उसमे सुगम प्रवेश के लिये इतना कह देना पर्याप्त है कि उन्होने यह सिद्ध किया है कि वेद की प्रकृतिवादी या ऐतिहासिक व्याख्या (जैसे कि योरो-

पियन विद्वान् करते हैं) या कर्मकाण्डपरक व्याख्या (जैसे कि सायण आदि विद्वान् करते हैं) असली व्याख्या नही है। वेद का असली अर्थ आध्यात्मिक अर्थ है जो कि प्रतीको के पीछे गुप्त है, जानबूझकर छिपाकर रखा हुआ है जिससे कि अनधिकारी लोगो से अगम्य रहे, वही वेद का रहस्य है। प्रतीको को समझने का सूत्र हाथ लगते ही, कुजी मिलते ही वेद का रहस्य साफ खुल जाता है, वेद का प्रतिपाद्य साफ दीखने लगता है। तब मालूम पडता है कि 'सारा ऋग्वेद प्रकाश की शक्तियो का एक विजयगीत है और गीत है प्रकाश की शक्तियो के ऊर्ध्वारोहण का'। वेद तब न तो असभ्य जगलियो के ऊटपटाग गीत रहते है न प्रकृति के अध पुजारियो के मूर्खतापूर्ण स्तोत्र, न आर्य और द्रविडियो के युद्ध के निर्देशक छद।

श्रीअरविंद की शैली थोडे में बहुतसा कहने की है। उसे बहुत ध्यान से, तन्मय होकर और बार-बार पढने की आवश्यकता है। तभी लाभ उठाया जा सकता है।

वेद-रहस्य के द्वितीय खड मे Selected Hymns का अनुवाद होगा जिसमे वेद के एक एक देवता का उसका स्वरूप दिखानेवाला चुना हुआ सूक्त दिया गया है। इसका नाम 'देवताओ का स्वरूप' होगा। इसमे १३ अध्याय होगे। तीसरे खड का नाम 'अग्निस्तुति' है। इसमें अग्निदेवता के बहुत से सूक्तो का हिन्दी भाष्य होगा।

अत मे मै गुरुकुल कागडी के वर्तमान वेदोपाध्याय प० रामनाथजी वेदालकार का आभार मानता हू जिन्होने अनुवाद के प्रारभिक कठिन कार्य मे मुझे निरतर सहायता पहुचायी है तथा शुजाबाद के श्री मान्य चौधरी प्रतापसिंहजी का भी जिन्होने गतवर्ष के पजाब के उपद्रवो मे अति क्षतिग्रस्त होते हुए भी अपनी आर्थिक सहायता प्रदान की जिससे इसका प्रकाशन सुलभ हो गया।

श्रीअरविंद निकेतन
महरोली (दिल्ली)

—अभय

प्रथम खण्ड

वेद का प्रतिपाद्य

अध्याय-सूची

पहला अध्याय

प्रश्न और उसका हल १

दूसरा अध्याय

वैदिकवाद का सिंहावलोकन (क)
वैदिक साहित्य ११

तीसरा अध्याय

वैदिकवाद का सिंहावलोकन (ख)
वैदिक विद्वान् २१

चौथा अध्याय

आधुनिक मत ३०

पाचवा अध्याय

आध्यात्मिकवाद के आधार ४४

छठा अध्याय

वेद की भाषावैज्ञानिक पद्धति ६२

सातवा अध्याय

अग्नि और सत्य ७५

आठवा अध्याय

वरुण, मित्र और सत्य ९०

नवा अध्याय

अश्विन्, इन्द्र, विश्वेदेवा १०३

दसवा अध्याय

सरस्वती और उसके सहचारी- ११८

ग्यारहवा अध्याय

समुद्रों और नदियो का रूपक १३०

बारहवा अध्याय

सात नदिया १४२

तेरहवा अध्याय

उषा की गौए १६०

चौदहवा अध्याय

उषा और सत्य १७२

पन्द्रहवा अध्याय

आगिरस उपाख्यान और गौओ का रूपक १८१

सोलहवा अध्याय

खोया हुआ सूर्य और खोयी हुई गौए . . १९८

सत्रहवा अध्याय

अगिरस ऋषि २१३

अठारहवा अध्याय

सात-सिरोंवाला विचार, स्व और दशग्वा ऋषि ... २३३

उन्नीसवा अध्याय

मानव पितर ... २५२

बीसवा अध्याय

पितरो की विजय .. २७०

इक्कीसवा अध्याय

देवशुनी सरमा २८९

बाईसवा अध्याय

अधकार के पुत्र ३०८

तेईसवा अध्याय

दस्युओ पर विजय ३२२

चौवीसवा अध्याय

परिणामो का सार ३३८

इन अध्यायों के कुछ वचन

ये (वेद) न केवल ससार के कुछ सर्वोत्कृष्ट और गभीरतम धर्मों के अपितु उनके कुछ सूक्ष्मतम पराभौतिक दर्शनो के भी सुविख्यात आदिस्रोत के रूप में माने जाते रहे है।

*

'वेद' यह उस सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्य के लिये माना हुआ नाम है जहातक कि मनुष्य के मन की गति हो सकती है।

*

स्वय ऋग्वेद मानवविचार के उस प्रारभकाल से आया एक बडा भारी विविध उपदेशो का ग्रथ है जिस विचार के ही टूटे-फूटे अवशेष वे ऐति-हासिक एलूसिनियन तथा औफिक रहस्य-वचन थे।

*

और इस (वेद) की भाषा को ऐसे शब्दो और अलकारो में आवृत कर दिया था जो कि एक ही साथ विशिष्ट लोगो के लिये आध्यात्मिक अर्थ तथा साधारण पूजार्थियो के समुदाय के लिये एक स्थूल अर्थ प्रकट करती थी।

*

ऋषि सूक्त का वैयक्तिक रूप से स्वयं निर्माता नहीं था, वह तो द्रष्टा था एक सनातन सत्य का और एक अपौरुषेय ज्ञान का।

*

(वेद) दिव्य वाणी है जो कपन करती हुई असीम में से निकलकर उस मनुष्य के अन्त.श्रवण में पहुची जिसने पहिले से ही अपने आपको अपौरुषेय ज्ञान का पात्र बना रखा था।

*

अपने गूढ अर्थ में भी, जैसे कि अपने साधारण अर्थ में, यह (वेद)

कर्मों की पुस्तक है, आभ्यन्तर और बाह्य यज्ञ की पुस्तक है, यह है आत्मा की संग्राम और विजय की सूक्ति जब कि वह विचार और अनुभूति के उन स्तरों को खोजकर पा लेता है और उनमें आरोहण करता है जो कि भौतिक अथवा पाशविक मनुष्य से दुष्प्राप्य हैं।

*

यह (वेद) है मनुष्य की तरफ से उन दिव्य ज्योति, दिव्य शक्ति और दिव्य कृपाओं की स्तुति जो मर्त्य में कार्य करती हैं।

*

वैदिक मन्त्र उस ऋषि के लिये जिसने उसकी रचना की थी, स्वयं अपने लिये तथा दूसरों के लिये आध्यात्मिक प्रगति का साधन था। वह उसकी आत्मा में से उठा था . .।

*

पूर्णता की प्राप्ति के लिये संघर्ष करनेवाले आर्य के हाथ में वह (वेदमन्त्र) एक शस्त्र का काम देता था।

*

वे (वेद) असभ्य, जंगली और आदिम कारीगरों की कृति नहीं हैं बल्कि वे एक परम कला और सचेतन कला के सजीव निःश्वास हैं।

*

(वेद) जैसे कि अपनी भाषा में और अपने छन्दों में वैसे ही अपनी विचार-रचना में भी आश्चर्यजनक हैं।

*

(वेद का सायण भाष्य) एक ऐसी चाबी है जिसने वेद के आन्तरिक आशय पर दोहरा ताला लगा दिया है, तो भी वह वैदिक शिक्षा की प्रारंभिक कोठरियों को खोलने के लिये अत्यन्त अनिवार्य है .. ... प्रत्येक पग पर हम उसके साथ मतभेद रखने के लिये बाध्य हैं, पर प्रत्येक पग पर इसका प्रयोग करने के लिये भी बाध्य हैं।

*

वेद की प्राचीन पुस्तक उस (योरोपियन) पाडित्य के हाथ में आयी जो परिश्रमी, विचार में साहसी.....किंतु फिर भी प्राचीन रहस्यवादी कवियो की प्रणाली को समझने के अयोग्य था।

*

दयानन्द ने ऋषियो के भाषासबंधी रहस्य का मूल सूत्र हमें पकडा दिया है और वैदिक धर्म के एक केंद्रभूत विचार (अनेक देव एक परम देव में आ जाते हैं) पर फिर से बल दिया है।

*

मैंने यह देखा कि वेद के मत्र, एक स्पष्ट और ठीक प्रकाश के साथ, मेरी अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियो को प्रकाशित करते हैं।

*

इस परिणाम पर पहुचने में, सौभाग्यवश मैंने जो सायण के भाष्य को पहिले नहीं पढा था, उसने मेरी बहुत मदद की।

*

तब यह धर्मपुस्तक वेद ऐसी प्रतीत होने लग गयी कि यह अत्यंत बहुमूल्य विचार-रूपी सुवर्ण की एक स्थिर रेखा को अपने अदर रखती है और आध्यात्मिक अनुभूति इसके अश-अश में चमकती हुई प्रवाहित हो रही है।

*

ऋषियो का भाषाप्रयोग शब्द के इस प्राचीन मनोविज्ञान के द्वारा शासित था।

*

देवताओं के नाम, अपने अर्थ में ही, इसका स्मरण कराते हैं कि वे केवल विशेषण हैं, अर्थसूचक नाम है, वर्णन है, न कि किसी स्वतत्र व्यक्ति के वाचक नाम।

*

यह सोमरस उस आनद की मस्ती का, सत्ता के दिव्य आनंद का

प्रतिनिधि है जो कि 'ऋतम्' या सत्य के बीच में से होकर अतिमानस चेतना से मन में प्रवाहित होता है।

*

हम यह पायेंगे कि सारा-का-सारा ऋग्वेद क्रियात्मक रूप से इस द्विविध विषय पर ही सतत रूप से चक्कर काट रहा है, मनुष्य की अपने मन और शरीर में तैयारी और सत्य तथा नि श्रेयस की प्राप्ति और विकास के द्वारा अपने अदर देवत्व और अमरत्व की परिपूर्णता।

*

ऋषि वामदेव हक्का-बक्का रह जाता, यदि वह कहीं देख पाता कि उसके यज्ञसवधी रूपको को आज ऐसा अप्रत्याशित उपहास-रूप दिया जा रहा है।

*

वेद और पुराण दोनो एक ही प्रतीकात्मक अलकारो का प्रयोग करते हैं, समुद्र उनके लिये असीम और शाश्वत सत्ता का प्रतीक है। नदी या वहनेवाली धारा के रूपक को सचेतन सत्ता के प्रवाह का प्रतीकात्मक वर्णन करने के लिये प्रयुक्त किया गया है।

*

वेद की व्याख्या जुदा-जुदा सदर्भो या सूक्तो को लेकर नहीं की जा सकती। यदि इसका कोई सगत और सबद्ध अर्थ होना है तो हमें इसकी व्याख्या समग्र रूप में करनी चाहिये।

*

तो इन प्राचीन वेदमत्रो में जो ऊपर से दीखनेवाली असगतिया, अस्पष्टताए तथा क्लिष्ट क्रमहीन अस्तव्यस्तता प्रतीत होती है वे सब क्षण भर में लुप्त हो जाती है।

*

इस प्रकार उषा का यह उज्ज्वल अलकार हमें वेदसबधी उन सब भौतिक, कर्मकाडिक, अज्ञानमूलक भ्रातियो से मुक्त कर देता है जिनमें

कि यदि हम फसे रहते तो वे हमें असगति और अस्पष्टता की रात्रि में ठोकरो-पर-ठोकरें खिलाती हुई एक से दूसरे अधकूप में ही गिराती रहतीं; यह (उषा) हमारे लिये बद द्वारो को खोल देती है और वैदिक ज्ञान के हृदय के अदर हमारा प्रवेश करा देती है।

*

यात्रा वह है जो कि प्रकाश और शक्ति और ज्ञान के हमारे बढते हुए धन के द्वारा हमें दिव्य सुख और अमर आनद की अवस्था की ओर ले जाती है।

*

वेद के प्रतीकवाद का आधार यह है कि मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है, एक यात्रा है, एक युद्धक्षेत्र है।

*

सचमुच, यदि एक बार हम केद्रभूत विचार को पकड़ लें और वैदिक ऋषियों की मनोवृत्ति तथा उनके प्रतीकवाद के नियम को समझ ले तो कोई भी असगति और अव्यवस्था शेष नहीं रहती।

*

ये रहस्यमय (वेद के) शब्द हैं, जिन्होंने कि सचमुच रहस्यार्थ को अपने अदर रखा हुआ है जो अर्थ पुरोहित, कर्मकाण्डी, वैयाकरण, पडित, ऐतिहासिक तथा गाथाशास्त्री द्वारा उपेक्षित और अज्ञात रहा है।

*

अदिति है वह सत्ता जो अपनी असीमता में रहती है और देवों की माता है।

प्रतिनिधि है जो कि 'ऋतम्' या सत्य के बीच में से होकर अतिमानस चेतना से मन में प्रवाहित होता है।

-

हम यह पायेंगे कि सारा-का-सारा ऋग्वेद क्रियात्मक रूप से इस द्विविध विषय पर ही सतत रूप से चक्कर काट रहा है, मनुष्य की अपने मन और शरीर में तैयारी और सत्य तथा निःश्रेयस की प्राप्ति और विकास के द्वारा अपने अंदर देवत्व और अमरत्व की परिपूर्णता।

-

ऋषि वामदेव हक्का-बक्का रह जाता, यदि वह कहीं देख पाता कि उसके यज्ञसबधी रूपकों को आज ऐसा अप्रत्याशित उपहास-रूप दिया जा रहा है।

-

वेद और पुराण दोनों एक ही प्रतीकात्मक अलंकारों का प्रयोग करते है, समुद्र उनके लिये असीम और शाश्वत सत्ता का प्रतीक है। नदी या वहनेवाली धारा के रूपक को सचेतन सत्ता के प्रवाह का प्रतीकात्मक वर्णन करने के लिये प्रयुक्त किया गया है।

-

वेद की व्याख्या जुदा-जुदा सदर्भो या सूक्तों को लेकर नहीं की जा सकती। यदि इसका कोई सगत और सबद्ध अर्थ होना है तो हमें इसकी व्याख्या समग्र रूप में करनी चाहिये।

-

तो इन प्राचीन वेदमत्रो में जो ऊपर से दीखनेवाली असगतिया, अस्पष्टताए तथा क्लिष्ट क्रमहीन अस्तव्यस्तता प्रतीत होती है वे सब क्षण भर में लुप्त हो जाती है।

*

इस प्रकार उषा का यह उज्ज्वल अलकार हमें वेदसबधी उन सब भौतिक, कर्मकाडिक, अज्ञानमूलक भ्रातियो से मुक्त कर देता है जिनमें

कि यदि हम फसे रहते तो वे हमें असगति और अस्पष्टता की रात्रि में ठोकरो-पर-ठोकरें खिलाती हुई एक से दूसरे अधकूप में ही गिराती रहतीं, यह (उषा) हमारे लिये वद द्वारो को खोल देती है और वैदिक ज्ञान के हृदय के अंदर हमारा प्रवेश करा देती है।

*

यात्रा वह है जो कि प्रकाश और शक्ति और ज्ञान के हमारे वढते हुए धन के द्वारा हमें दिव्य सुख और अमर आनंद की अवस्था की ओर ले जाती है।

*

वेद के प्रतीकवाद का आधार यह है कि मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है, एक यात्रा है, एक युद्धक्षेत्र है।

*

सचमुच, यदि एक वार हम केंद्रभूत विचार को पकड ले और वैदिक ऋषियो की मनोवृत्ति तथा उनके प्रतीकवाद के नियम को नमझ ले तो कोई भी असगति और अव्यवस्था शेष नहीं रहती।

*

ये रहस्यमय (वेद के) शव्द है, जिन्होने कि सचमुच रहस्यार्थ को अपने अंदर रखा हुआ है जो अर्थ पुरोहित, कर्मकाण्डी, वैयाकरण, पडित, ऐतिहासिक तथा गाथाशास्त्री द्वारा उपेक्षित और अज्ञात रहा है।

*

अदिति है वह सत्ता जो अपनी असीमता में रहती है और देवों की माता है।

पहला अध्याय

प्रश्न और उसका हल

वेद में कुछ रहस्य की बात है भी कि नही, अथवा क्या अब भी वेद में कुछ रहस्य की बात रह गयी है ?

यह है प्रश्न जिसका उत्तर साधारणतया 'नकार' में दिया जाता है, क्योकि प्रचलित विचारो के अनुसार तो उस पुरातन गुह्य का—वेद का—हृदय निकालकर बाहर रख दिया गया है और उसे सबके दृष्टिगोचर बना दिया गया है, बल्कि अधिक ठीक यह है कि उसमें वास्तविक रहस्य की कुछ बात कभी कोई थी ही नही। वेद के जो सूक्त है, वे एक आदिम और जो जगलीपन से अभीतक नही उठी ऐसी जाति की यज्ञबलिदान-विषयक रचनाये है, जो कि धर्मानुष्ठान तथा शातिकरण-सबधी रीति-रिवाजो की एक परिपाटी की रट मे लिखे गये है, प्रकृति की शक्तियो को सजीव देवता मानकर उन्हे सबोधित किये गये है और अध-कचरी गाथाओ तथा अभी बन रहे अधूरे नक्षत्रविद्या-सबधी रूपको की गडबड और अव्यवस्थित सामग्री से भरपूर है। केवल अन्तिम सूक्तो में हमे कुछ गभीरतर आध्यात्मिक तथा नैतिक विचारो का प्रथम आविर्भाव देखने को मिलता है—यह भी कइयो की सम्मति मे उन विरोधी द्राविडियो से लिया गया है, जो "लुटेरे" और "वेदद्वेषी" थे, जिन्हे इन सूक्तो में ही जी-भरकर कोसा गया है—और यह चाहे किसी तरह प्राप्त किया गया हो, आगे आनेवाले वैदान्तिक सिद्धान्तो का प्रथम बीज बना। वेद के सम्बन्ध मे यह आधुनिक वाद उस गृहीत हुए विचार के अनुसार है, जो मानता है कि मनुष्य का विकास बिल्कुल हाल की जगली अवस्था से शीघ्रतापूर्वक हुआ है और इस वाद का समर्थन किया गया है, समालोचनात्मक अनुसन्धान की एक रोबदाबवाली साधनसामग्री द्वारा तथा इसे पुष्ट किया गया है अनेक शास्त्रो की साक्षी द्वारा—जो शास्त्र दुर्भाग्यवश अभीतक बाल-अवस्था में है और अभीतक बहुत कुछ जिनके तरीके अटकल

करनेवाले तथा जिनके परिणाम बदलनेवाले है, अर्थात् तुलनात्मक भाषाशास्त्र, तुलनात्मक गाथाशास्त्र तथा तुलनात्मक धर्म का शास्त्र।

'वेदरहस्य' नाम से इन अध्यायो के लिखने का मेरा उद्देश्य यह है कि मै इस पुरातन प्रश्न के लिये एक नयी दृष्टि का निर्देश करू। इस प्रश्न के जो अभी-तक हल प्राप्त हुए है उनके विरुद्ध एक अभावात्मक और खण्डनात्मक तरीका इस्तेमाल करने का मेरा इरादा नही है, मै तो यहा केवल भावात्मक और रचना-त्मक रूप मे एक कल्पना उपस्थित करूगा, एक स्थापना (प्रतिज्ञा) रखूगा, जो अधिक विस्तृत आधार पर रची गयी है और जो पुरानी स्थापना से एक प्रकार से पूरक स्थापना है—इसके अतिरिक्त यह भी सभव है कि यह स्थापना प्राचीन विचार और मत के इतिहास मे एक-दो ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर भी प्रकाश डाल सके, जो प्रश्न अभीतक के सामान्य वादो द्वारा ठीक तरह हल नही किये जा सके है।

ऋग्वेद मे—योरोपियन विद्वानो के ख्याल मे यही सच्चा एकमात्र वेद है—हमे जो यज्ञसम्बन्धी सूक्तो का समुदाय मिलता है वह एक ऐसी अति प्राचीन भाषा में निबद्ध है जो बहुतसी लगभग न हल होने लायक कठिनाइया उपस्थित करती है। यह ऐसे शब्दो और शब्दरूपो से भरा पडा है जो कि आगे की भाषा मे नही पाये जाते और जिन्हे प्राय बौद्धिक अटकल द्वारा कुछ सन्देहयुक्त अर्थ मे लेना पडता है। ऐसे बहुतसे शब्द भी जो वेद की तरह शुद्ध सस्कृत मे भी वैसे ही पाये जाते है वेद मे उससे कुछ भिन्न अर्थ रखते प्रतीत होते है या कम-से-कम उससे भिन्न अर्थवाले हो सकते है जो आगे की साहित्यिक सस्कृत मे उनका अर्थ हुआ है। और इसकी शब्दावली का एक बहुत बडा भाग, विशेषतया अतिसामान्य शब्द, वे जो कि अर्थ की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, आश्चर्यजनक रूप से इतने विविध प्रकार के परस्पर असम्बद्ध से अर्थ देनेवाले होते है कि जिनमे, चुनाव की अपनी पसदगी के अनुसार, सपूर्ण मत्र को, सपूर्ण सूक्त को बल्कि सपूर्ण वैदिक अभिप्राय को एक बिल्कुल दूसरी रगत दी जा सकती है। इन वैदिक प्रार्थनाओ के अभि-प्राय और अर्थ को निश्चित करने के लिये पिछले कई हजार वर्षो मे कम-से-कम तीन गम्भीर प्रयत्न किये जा चुके है। इनमेसे एक तो—

(१) ऐतिहासिक काल से पूर्व का है और यह केवल विच्छिन्न रूप मे ब्राह्मणो

और उपनिषदो मे मिलता है।

(२) परतु भारतीय विद्वान् सायण का परपरागत भाष्य सपूर्ण रूप मे उपलब्ध है, तथा–

(३) आज अपने ही समय में आधुनिक योरोपियन विद्वन्मण्डली द्वारा तुलना और अटकल के महान् परिश्रम के उपरात तैयार किया भाष्य भी विद्यमान है।

इन पिछले दोनो (सायण और योरोपियन) भाष्यो मे एक विशेषता समान रूप से दिखायी देती है–असाधारण असम्बद्धता और अर्थलाघव। वेद मे कहे गये विचार अत्यत असम्बद्ध है और उनमें कोई अर्थगौरव नही है, यह है छाप जो परिणामत इन भाष्यो द्वारा उन प्राचीन सूक्तो (वेद) पर लग जाती है। एक वाक्य को जुदा लेकर उसे, चाहे स्वाभाविकतया अथवा अटकल के जोर पर एक उत्कृष्ट अर्थ दिया जा सकता है या ऐसा अर्थ दिया जा सकता है जो सगत लगे, शब्दविन्यास जो बनता है–चाहे वह चटकीली-भडकीली शैली में है, चाहे फालतू और शोभापरक विशेषणो से भरा है, चाहे तुच्छ से भाव को असाधारण तौर पर मनमौजी अलकार के या शब्दाडबर के आश्चर्यकर विशाल रूप मे बढा दिया गया है–उसे बुद्धिगम्य वाक्यो मे रखा जा सकता है, परतु जब हम सूक्तो को इन भाष्यो के अनुसार समूचे रूप में पढकर देखते है, तो हमे प्रतीत होता है कि इनके रचयिता ऐसे लोग थे जो कि, अन्य जातियो के ऐसे प्रारभिक रचयिताओ के विसदृश, सगत और स्वाभाविक भावप्रकाशन करने के या सुसबद्ध विचार करने के अयोग्य थे। कुछ छोटे और सरल सूक्तो को छोडकर, इनकी भाषा या तो धुधली है या कृत्रिम है, विचार या तो सबध-रहित है या व्याख्या करनेवाले द्वारा जबरदस्ती और ठोक-पीटकर ठीक बनाये गये है। ऐसा मालूम देता है कि मूल मत्रो को लेकर बैठे विद्वान् को इस बात के लिये बाधित सा होना पडा है कि उनकी व्याख्या करने के स्थान पर वह लगभग नयी गढन्त करने की प्रक्रिया को स्वीकार करे। हम अनुभव करते हैं कि भाष्यकार वेद के ही अर्थ को उतना प्रकट नही कर रहा है जितना कि वह काबू में न आनेवाली इसकी सामग्री को पकडकर उससे कुछ शकल बनाने और उसे सगत करने के लिये इसे ठोक-पीट रहा और कुछ बना रहा है।

तो भी इन धुधली और जगली रचनाओ को समस्त साहित्य के इतिहास में

करनेवाले तथा जिनके परिणाम वदलनेवाले है, अर्थात् तुलनात्मक भाषाशास्त्र, तुलनात्मक गाथाशास्त्र तथा तुलनात्मक धर्म का शास्त्र।

'वेदरहस्य' नाम से इन अध्यायो के लिखने का मेरा उद्देश्य यह है कि मै इस पुरातन प्रश्न के लिये एक नयी दृष्टि का निर्देश करू। इस प्रश्न के जो अभी-तक हल प्राप्त हुए है उनके विरुद्ध एक अभावात्मक और खण्डनात्मक तरीका इस्तेमाल करने का मेरा इरादा नही है, मै तो यहा केवल भावात्मक और रचनात्मक रूप मे एक कल्पना उपस्थित करूगा, एक स्थापना (प्रतिज्ञा) करूगा, जो अधिक विस्तृत आधार पर रची गयी है और जो वृहत्तर तथा एक प्रकार मे पूरक स्थापना है—इसके अतिरिक्त यह भी सभव है कि यह स्थापना प्राचीन विचार और मत के इतिहास में एक-दो ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर भी प्रकाश डाल सके, जो प्रश्न अभीतक के सामान्य वादो द्वारा ठीक तरह हल नही किये जा सके है।

ऋग्वेद में—योरोपियन विद्वानो के ख्याल मे यही सच्चा एकमात्र वेद है—हमे जो यज्ञसम्वन्धी सूक्तो का समुदाय मिलता है वह एक ऐसी अति प्राचीन भाषा में निवद्ध है जो वहुतसी लगभग न हल होने लायक कठिनाइया उपस्थित करती है। यह ऐसे शव्दो और शव्दरूपो से भरा पडा है जो कि आगे की भाषा मे नही पाये जाते और जिन्हे प्राय बौद्धिक अटकल द्वारा कुछ सन्देहयुक्त अर्थ मे लेना पडता है। ऐसे वहुतसे शव्द भी जो वेद की तरह शुद्ध सस्कृत मे भी वैसे ही पाये जाते है वेद में उससे कुछ भिन्न अर्थ रखते प्रतीत होते है या कम-से-कम उससे भिन्न अर्थवाले हो सकते है जो आगे की साहित्यिक सस्कृत मे उनका अर्थ हुआ है। और इसकी शव्दावली का एक वहुत वडा भाग, विशेषतया अतिसामान्य शव्द, वे जो कि अर्थ की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, आश्चर्यजनक रूप से इतने विविध प्रकार के परस्पर असम्वद्ध से अर्थ देनेवाले होते है कि जिनसे, चुनाव की अपनी पसदगी के अनुसार, सपूर्ण मन्त्र को, सपूर्ण सूक्त को वल्कि सपूर्ण वैदिक अभिप्राय को एक बिल्कुल दूसरी रगत दी जा सकती है। इन वैदिक प्रार्थनाओ के अभिप्राय और अर्थ को निश्चित करने के लिये पिछले कई हजार वर्षो मे कम-से-कम तीन गम्भीर प्रयत्न किये जा चुके है। इनमेंसे एक तो—

(१) एतिहासिक काल से पूर्व का है और यह केवल विच्छिन्न रूप मे ब्राह्मणो

और उपनिषदो मे मिलता है।

(२) परतु भारतीय विद्वान् सायण का परपरागत भाष्य सपूर्ण रूप मे उपलब्ध है, तथा–

(३) आज अपने ही समय में आधुनिक योरोपियन विद्वन्मण्डली द्वारा तुलना और अटकल के महान् परिश्रम के उपरात तैयार किया भाष्य भी विद्यमान है।

इन पिछले दोनो (सायण और योरोपियन) भाष्यो मे एक विशेषता समान रूप से दिखायी देती है—असाधारण असम्बद्धता और अर्थलाघव। वेद मे कहे गये विचार अत्यत असम्बद्ध हैं और उनमें कोई अर्थगौरव नही है, यह है छाप जो परिणामत इन भाष्यो द्वारा उन प्राचीन सूक्तो (वेद) पर लग जाती है। एक वाक्य को जुदा लेकर उसे, चाहे स्वाभाविकतया अथवा अटकल के जोर पर एक उत्कृष्ट अर्थ दिया जा सकता है या ऐसा अर्थ दिया जा सकता है जो सगत लगे, शब्दविन्यास जो बनता है—चाहे वह चटकीली-भडकीली शैली में है, चाहे फालतू और शोभापरक विशेषणो से भरा है, चाहे तुच्छ से भाव को असाधारण तौर पर मनमौजी अलकार के या शब्दाडबर के आश्चर्यकर विशाल रूप में बढा दिया गया है—उसे बुद्धिगम्य वाक्यो में रखा जा सकता है, परतु जब हम सूक्तो को इन भाष्यो के अनुसार समूचे रूप में पढकर देखते है, तो हमें प्रतीत होता है कि इनके रचयिता ऐसे लोग थे जो कि, अन्य जातियो के ऐसे प्रारभिक रचयिताओ के विसदृश, सगत और स्वाभाविक भावप्रकाशन करने के या सुसबद्ध विचार करने के अयोग्य थे। कुछ छोटे और सरल सूक्तो को छोडकर, इनकी भाषा या तो धुधली है या कृत्रिम है, विचार या तो सबध-रहित है या व्याख्या करनेवाले द्वारा जबरदस्ती और ठोक-पीटकर ठीक बनाये गये है। ऐसा मालूम देता है कि मूल मत्रो को लेकर बैठे विद्वान् को इस बात के लिये बाधित सा होना पडा है कि उनकी व्याख्या करने के स्थान पर वह लगभग नयी गढन्त करने की प्रक्रिया को स्वीकार करे। हम अनुभव करते है कि भाष्यकार वेद के ही अर्थ को उतना प्रकट नही कर रहा है जितना कि वह काबू मे न आनेवाली इसकी सामग्री को पकडकर उससे कुछ शकल बनाने और उसे सगत करने के लिये इसे ठोक-पीट रहा और कुछ बना रहा है।

तो भी इन धुधली और जगली रचनाओ को समस्त साहित्य के इतिहास में

एक अत्यत शानदार उत्तम सौभाग्य प्राप्त हुआ है। ये न केवल ससार के कुछ सर्वोत्कृष्ट और गभीरतम धर्मो के अपितु उनके कुछ सूक्ष्मतम पराभौतिक दर्शनो के भी सुविख्यात आदिस्रोत के रूप मे मानी जाती रही है। सहस्रो वर्षो से चली आयी परपरा के अनुसार ब्राह्मणो और उपनिषदो मे, तत्रो और पुराणो मे, महान् दार्शनिक सप्रदायो के सिद्धातो मे तथा प्रसिद्ध सतो-महात्माओ की शिक्षाओ मे जो कुछ भी प्रामाणिक और सत्य करके माना जा सकता है, उस सबके आदश मान-दड और मूलस्रोत के रूप मे ये सदा आदृत की गयी है।

इन्होने जो नाम पाया वह था वेद, अर्थात् ज्ञान—वेद यह उस सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्य के लिये माना हुआ नाम है जहातक कि मनुष्य के मन की गति हो सकती है। किंतु यदि हम प्रचलित भाष्यो को, चाहे सायण के या आधुनिक विद्वानो के, स्वीकार करते है तो वेद की यह सब-की-सब अत्युत्कृष्ट और पवित्र ख्याति एक बडी भारी गप्प हो जाती है। तब तो उलटे वेदमत्रो में इससे अधिक और कुछ नही है कि ये ऐसे अशिक्षित और भौतिकवादी जगलियो की अनाडी और अध-विश्वास-पूर्ण कल्पनाए है जिन्हे केवल अत्यत स्थूल लाभो और भोगो से ही मतलब था और जो अत्यत प्रारभिक नैतिक विचारो तथा धार्मिक भावनाओ के सिवाय और किसी भी बात से अनभिज्ञ थे। और इन भाष्यो द्वारा वेद के विषय मे हमारे मनो पर जो यह अखड छाप पडती है, उसमें कही-कही आ जानेवाले कुछ भिन्न प्रकार के वेदवाक्यो के कारण, जो कि वेद की अन्य सामान्य भावना के बिलकुल विसवादी होते है, कुछ भग नही पडता। उनके इस विचार के अनुसार आगे आनेवाले धर्मो और दार्शनिक विचारो के सच्चे आधारभूत या उद्गम-स्थानभूत तो उप-निषदे है न कि वेद। उपनिषदो के विषय में हमें फिर यह कल्पना करनी पडती है कि ये उपनिषदे दार्शनिक और विचारशील प्रवृत्ति रखनेवाले मनस्वी पुरुषो द्वारा वेद के कर्मकाडमय भौतिकवाद के विरुद्ध किये गये विद्रोह के परिणाम है।

परतु इस कल्पना द्वारा, जिसका योरोपीय इतिहास के समानान्तर उदाहरणो द्वारा जो कि भ्रमोत्पादक है समर्थन भी किया गया है, वस्तुत कुछ सिद्ध नही होता। ऐसे गभीर और चरम सीमा तक पहुचे हुए विचार, ऐसी सूक्ष्म और महाप्रयत्न द्वारा निर्मित अध्यात्मविद्या की पद्धति जैसी कि भारत उपनिषदो मे पायी जाती

है, किमी पूर्ववर्ती शून्य से नही निकल आयी है । प्रगति करता हुआ मानव मन एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान तक पहुचता है या किसी ऐसे पूर्ववर्ती ज्ञान को जो कि धुधला पड गया है और ढक गया है, फिर से नया करता है और वृद्धिगत करता है अथवा किन्ही पुराने अधूरे सूत्रो को पकडता और उनके द्वारा नये आविष्कारो को प्राप्त करता है । उपनिषदो के विचार अपनेसे पहले विद्यमान किन्ही महान् उद्भवो की कल्पना करते है और ये उद्भव प्रचलित वादो के अनुमार कोई भी नही मिलते । और इस रिक्त स्थान को भरने के लिये, जो यह कल्पना गढी गयी है कि ये विचार जगली आर्य आक्रान्ताओ ने सभ्य द्राविड लोगो से लिये थे, एक ऐसी अटकल है जो केवल दूसरी अटकलो द्वारा ही सपुष्ट की गयी है । सचमुच यह अव शकास्पद हो चुका है कि पञ्जाव द्वारा आर्यों के आक्रमण करने की कहानी कही भापाविज्ञानियो की गढन्त तो नही है । अस्तु ।

प्राचीन योरुप में जो बौद्धिक दर्शनो के सम्प्रदाय हुए थे, उनसे पहले रहस्य-वादियो के गुह्यसिद्धान्तो का एक समय रहा था, औॅफिक (Orphic) और एलूसिनियन (Eleusinian) रहस्यविद्या ने उस उपजाऊ मानसिक क्षेत्र को तैयार किया था जिसमेंसे पिथागोरस और प्लैटो की उत्पत्ति हुई । इसी प्रकार का उद्गमस्थान भारत में भी आगे के विचारो की प्रगति के लिये रहा हो, यह वहुत सभवनीय प्रतीत होता है । इसमें सन्देह नही कि उपनिषदो मे हम जो विचारो के रूप और प्रतीक पाते है उसका वहुत भाग तथा ब्राह्मणो की विषय-सामग्री का वहुतसा भाग भारत में एक ऐसे काल की कल्पना करता है जिस समय में विचारो ने इस प्रकार की गुह्य शिक्षाओ का रूप या आवरण धारण किया था जैसी कि ग्रीक रहस्यविद्याओ की शिक्षायें थी ।

दूसरा रिक्त स्थान जो अभीतक माने गये वादो द्वारा भरा नही जा सका है, वह वह खाई है जो कि एक तरफ वेद में पायी जाती वाह्य प्राकृतिक शक्तियो की जड-पूजा को और दूसरी तरफ ग्रीक लोगो के विकसित धर्म को तथा उपनिपदो और पुराणो में जिन्हे हम पाते है ऐसे देवताओ के कार्यों के साथ सम्वन्धित किये गये मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक विचारो को विभक्त करती है । क्षण भर के लिये यहा हम इस मत को भी स्वीकार किये लेते हैं कि मानवधर्म का सवसे

प्रारम्भिक पूर्णतया बुद्धिगम्य रूप अवश्य ही—क्योकि पार्थिव मनुष्य बाह्य से प्रारम्भ करता है और आतर की तरफ जाता है—प्रकृति-शक्तियो की पूजा ही होता है, जिसमे वह इन शक्तियो को वैसी ही चेतना और व्यक्तित्व से युक्त मानता है जैसी यह अपनी निजी सत्ता में देखता है।

यह तो मान ही रखा है कि वेद का **अग्नि** देवता आग है, **सूर्य** देवता सूर्य है, **पर्जन्य** बरसनेवाला मेघ है, **उषा** प्रभात है, और यदि किन्ही अन्य देवताओ का भौतिक रूप या कार्य इतना अधिक स्पष्ट नही है, तो यह आसान काम है कि उस अस्पष्टता को भाषाविज्ञान की अटकल या कुशल कल्पना द्वारा दूर कर उसे स्पष्ट भौतिक अर्थ में ठीक कर लिया जाय। पर जब हम ग्रीक लोगो की देव-पूजा पर आते है, जो कि आधुनिक कालगणना के विचारो के अनुसार वेद के काल से अधिक पीछे की नही है, तो हम महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन पाते है। देवताओ के भौतिक गुण बिल्कुल मिट गये है या वे उनके आध्यात्मिक रूपो के उपसर्जनीभूत हो गये है। तीक्ष्णस्वभाव अग्नि (आग) का देवता बदलकर लगडा श्रम का देवता हो गया है। अपोलो (Apollo) सूर्य देवता, कविता और भविष्य-वाणीसम्बन्धी अन्त स्फुरणा का अधिष्ठातृ-देवता हो गया है। एथिनी (Athene) जिसे प्रारम्भिक अवस्था मे हम सम्भवत उषादेवी करके पहचान सकते है, अब अपने भौतिक व्यापारो की सब याद भूल गयी है और बुद्धिशालिनी, बलधारिणी शुद्ध **ज्ञान** की **देवी** हो गयी है। इसी तरह अन्य देवताए भी है, जैसे युद्ध की, प्रेम की, सौन्दर्य की देवताए जिनके कि भौतिक व्यापार दिखायी नही देते है, यदि वे कभी थे भी। इसके स्पष्टीकरण मे इतना कह देना पर्याप्त नही है कि ऐसा परिवर्तन मानव-सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ होना अवश्य-म्भावी ही था, इस परिवर्तन की प्रक्रिया भी खोज और स्पष्टीकरण चाहती है।

हम देखते है कि इस प्रकार की क्रान्ति पुराणो में भी हुई जो कि कुछ तो कुछ पुरानो की जगह नये नामो और रूपोवाले अन्य देवताओ के आ जाने से, पर कुछ इसी प्रकार की अविज्ञात प्रक्रिया द्वारा हुई जिस प्रक्रिया को हम ग्रीक देवता-ख्यान के विकास में देखते है। नदी सरस्वती म्यूज (Muse) और विद्या की देवी बन गयी है, वेद के विष्णु और रुद्र अब सर्वोच्च देवताए, देवतात्रयी में से दो

अर्थात् क्रमश जगत् की सरक्षिका और विनाशिका प्रक्रिया की द्योतक बन गयी है। ईशोपनिषद् में हम देखते है कि वहा सूर्य से एक ऐसे स्वयप्रकाश दिव्य-ज्ञान के देवता के रूप में प्रार्थना की गयी है जिसके कि कार्य द्वारा हम सर्वोत्कृष्ट सत्य को पा सकते है। और सूर्य का यही व्यापार गायत्री नाम से प्रसिद्ध उस पवित्र वैदिक मत्र में है जिसका कि जप न जाने कितने सहस्रो वर्षों से प्रत्येक ब्राह्मण अपने दैनिक सन्ध्यानुष्ठान में करता आया है, और यहा यह भी ध्यान देने लायक है कि यह मत्र ऋग्वेद का, ऋग्वेद मे ऋषि विश्वामित्र के एक सूक्त का है। इसी उपनिषद् में अग्नि से विशुद्ध नैतिक कार्यों के लिये प्रार्थना की गयी है, उसे पापो मे पवित्र करनेवाला एव दिव्य आनद के प्रति सुपथ द्वारा आत्मा का नेता माना गया है और यहा अग्नि सकल्प की शक्ति के साथ एकात्मता रखने-वाला तथा मानवकर्मों के लिये उत्तरदाता प्रतीत होता है। अन्य उपनिषदो में यह स्पष्ट है कि देवताए मानवदेह में होनेवाले ऐन्द्रियिक व्यापारो के प्रतीक है। सोम, जो कि वैदिक यज्ञ के लिये सोमरस (मदिरा) देनेवाला पौधा (वल्ली) था, वह न केवल चन्द्रमा का देवता हो गया है अपितु मनुष्य में वह अपनेको मन के रूप में अभिव्यक्त करता है।

शब्दो के इस प्रकार के विकास कुछ काल की अपेक्षा करते हैं, जो काल वेदो के बाद और पुराणो से पहले बीता है, जिससे पहले भौतिक पूजा या सर्वदेवता-वादी चेतनावाद था, जिससे कि वेद का सम्बन्ध जोडा जाता है और जिसके बाद वह विकसित पौराणिक देवगाथाशास्त्र हुआ जिसमें देवता और अधिक गम्भीर मनोवैज्ञानिक व्यापारोवाले हो गये। और यह बीच का समय, बहुत सम्भव है, एक रहस्यवाद का युग रहा हो। नही तो जो कुछ अबतक माना जाता है, उसके अनुसार या तो बीच में यह रिक्त स्थान छूटा रहता है या फिर यह रिक्त स्थान हमने बना लिया है, इस कारण बना लिया है क्योकि हम वैदिक ऋषियो के धर्म के विषय में अनन्य रूप से एकमात्र प्रकृतिवादी तत्त्व के साथ आबद्ध हो गये हैं।

मेरा निर्देश यह है कि यह रिक्त स्थान हमारा अपना बनाया हुआ है और असल मे उस प्राचीन, पवित्र साहित्य में ऐसे किसी रिक्त स्थान की सत्ता है नही। मै

जो मत प्रस्तुत करता हू वह यह है कि स्वय ऋग्वेद मानवविचार के उस प्रारम्भ-काल से आया एक वडा भारी विविध उपदेशो का ग्रन्थ है, जिस विचार के ही टूटे-फूटे अवशेप वे ऐतिहासिक एलूसिनियन तथा ऑर्फिक रहस्य-वचन थे और वह वह काल था जब कि जाति का आध्यात्मिक और सूक्ष्म मानसिक ज्ञान, किस कारण से इसका निश्चय करना अव कठिन है, एक ऐसे स्थूल और भौतिक अलकारो तथा प्रतीकचिह्नो के पर्दे से ढका हुआ था जिसके कारण उसका तत्त्व अनधिकारी पुरुषो से सुरक्षित रहता तथा दीक्षितो को प्रकट हो जाता था।

आत्मज्ञान की तथा देवताओ-विपयक सत्यज्ञान की गुप्तता एव पवित्रता रखना, यह रहस्यवादियो के प्रमुख सिद्धान्तो मे से एक था। उनका विचार था कि ऐसा ज्ञान साधारण मानवमन को दिये जाने के अयोग्य, वल्कि शायद खतरनाक था, हर हालत मे यह ज्ञान यदि लौकिक और अपवित्रीभूत आत्माओ को प्रकट किया जाय तो इसके विकृत हो जाने और दुरुपयुक्त होने तथा विगुण हो जाने का भय तो था ही। इसलिये उन्होने एक वाह्य पूजाविधि का रखना पसद किया था, जो प्राकृत जनो के लिये उपयोगी पर अपूर्ण थी और दीक्षितो के लिये एक आन्तरिक अनुशासन का काम देती थी और इसकी भापा को ऐसे शब्दो और अलकारो से आवृत कर दिया था जो कि एक ही साथ विशिष्ट लोगो के लिये आध्यात्मिक अर्थ तथा साधारण पूजार्थियो के समुदाय के लिये एक स्थूल अर्थ प्रकट करती थी। वैदिक सूक्त इसी सिद्धान्त को विचार में रखकर रचे गये थे। वैदिक कडिकाए और विधि-विधान ऊपर से तो सर्वेश्वरवाद की प्रकृतिपूजा (जो उस समय का सामान्य धर्म था) के लिये आयोजित किये गये एक बाह्य कर्मकाण्ड के विस्तृत आचार थे, पर गुप्त तौर से ये पवित्र वचन थे, आध्यात्मिक अनुभूति और ज्ञान के प्रभावोत्पादक प्रतीकचिह्न थे और आत्म-साधना के आन्तरिक नियम थे (जो कि उस समय मानवजाति की सर्वोच्च उपलब्ध वस्तुएँ थी)।

सायण द्वारा अभिमत कर्मकाण्डप्रणाली अपने बाह्य रूप मे बेशक रहे, योरोपियन विद्वानो द्वारा प्रकट किया गया प्रकृतिपरक आशय भी सामान्य रूप मे माना जा सकता है, पर फिर भी इनके पीछे सदा ही एक सच्चा और अभीतक भी छिपा

हुआ वेद का रहस्य है, ये वे रहस्यमय वचन, 'निण्या वचासि'[1] है, जो कि आत्मा में पवित्र और ज्ञान में जागे हुए पुरुषो के लिये कहे गये थे। तो वेद के इस कम प्रकट किन्तु अधिक आवश्यक गुह्यतत्त्व का वैदिक शब्दो के आशयो, वैदिक प्रतीकचिह्नो के अभिप्रायो और देवताओ के अध्यात्मव्यापारो के निश्चित करन द्वारा आविष्करण कर देना एक बडा कठिन किन्तु अति आवश्यक कार्य है। यह लेखमाला तथा इसके साथ में दी गयी वैदिक सूक्तो की व्याख्यायें[2] इस (कठिन और आवश्यक) कार्य की केवल तैयारी के रूप में ही है।

वेद के विषय में मेरी यह स्थापना यदि प्रामाणिक सिद्ध होती है तो इससे तीन लाभ होगे। इससे जहा उपनिपदो के वे भाग जो अभीतक अविज्ञात पडे है या जो ठीक तरह समझे नही गये है, खुल जायेंगे वहा पुराणो के वहुत कुछ मूलस्रोत भी आसानी से और सफलतापूर्वक खुल जायेंगे। दूसरे, इससे सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय परम्परा युक्तिपूर्वक स्पष्ट हो जायगी और सत्य प्रमाणित हो जायगी, क्योकि इससे यह सिद्ध हो जायगा कि गम्भीर सत्य के अनुसार वेदान्त, पुराण, तन्त्र, दार्शनिक सम्प्रदाय, सब महान् भारतीय धर्म अपने मौलिक प्रारम्भ में वस्तुत वैदिक स्रोत तक जा पहुचते है। आगे आये भारतीय विचार के सब आधारभूत सिद्धान्तो को तब उनके मूल बीज मे या उनके प्रारम्भिक वल्कि आदिम रूप में हम वेद में देख सकेगे। इस तरह भारतीय क्षेत्र में तुलनात्मक धर्म का अधिक ठीक अध्ययन कर सकने के लिये एक स्वाभाविक प्रारम्भविन्दु उपलब्ध हो जायगा। इसके स्थान पर कि हम असुरक्षित कल्पनाओ में भटकते रहे अथवा असभावित विपर्ययो के लिये और जिनका स्पष्टीकरण नही किया जा सकता ऐसे सक्रमणो के लिये उत्तरदायी वनें, हमें एक ऐसे स्वाभाविक और क्रमिक विकास का सकेत मिल जायगा जो सर्वथा वुद्धि को सन्तोष देनेवाला होगा। इस-से सयोगप्राप्त, अन्य प्राचीन जातियो की प्रारम्भिक गाथाओ और देवताख्यानो में जो कुछ अस्पष्टतायें है, उनपर भी प्रकाश पड सकता है। और अन्त में, तीसरे,

---

[1] ऋग्वेद ४-३-१६। इसका अर्थ है 'गुह्य या गुप्त वचन'।

[2] ये व्याख्यायें वेद-रहस्य के द्वितीय भाग में प्रकाशित की जावेगी।

इससे मूल वेद में जो असगतिया दीखती है उनका एकदम स्पष्टीकरण हो जायगा और वे जाती रहेगी। ये असगतिया ऊपर-ऊपर ही दीखती है, क्योंकि वैदिक अभिप्राय का असली सूत्र तो इसके आन्तरिक अर्थो मे ही पाया जा सकता है। वह सूत्र ज्योही मिल गया त्योही वैदिक सूक्त बिल्कुल युक्तियुक्त और सर्वांगपूर्ण लगने लगते है, इनकी भावप्रकाशनशैली—यद्यपि हमारे आधुनिक विचारने और बोलने के तरीके की दृष्टि से चाहे कुछ विचित्र ढग की लगे—अपने ढग से ठीक-ठीक और यथोचित हो जाती है। इसे शब्दावली के अतिरेक की अपेक्षा शब्दसकोच की तथा अर्थलाघव की जगह अर्थगाम्भीर्य के अतिरेक की ही दोषिणी माना जा सकता है। वेद तब जगलीपन के केवल एक मनोरजक अवशेष के रूप में नहीं दीखते, बल्कि जगत् की प्रारम्भिक धर्मपुस्तको मे से सर्वश्रेष्ठो की गिनती में जा पहुचते है।

दूसरा अध्याय

वैदिकवाद का सिंहावलोकन (क)

वैदिक साहित्य

तो वेद एक ऐसे युग की रचना है जो हमारे वौद्धिक दर्शनो से प्राचीन था। उस प्रारम्भिक युग मे विचार हमारे तर्कशास्त्र की युक्तिप्रणाली की अपेक्षा भिन्न प्रणालियो से आरम्भ होता था और भाषा की अभिव्यक्ति के प्रकार ऐसे होते थे जो हमारी वर्तमान आदतो में विल्कुल अनुपादेय ठहरते। उस समय वुद्धिमान् से वुद्धिमान् मनुष्य अपने सामान्य व्यावहारिक वोधो तथा दैनिक क्रियाकलापो से परे के वाकी सव ज्ञान के लिये आभ्यन्तर अनुभूति पर और अन्तर्ज्ञानियुक्त मन की सूझो पर निर्भर करता था। उनका लक्ष्य था ज्ञानालोक, न कि तर्क-सम्मत निर्णय, उनका आदर्श था अन्त प्रेरित द्रष्टा, न कि ययार्थ तार्किक। भारतीय परम्परा ने वेदो के उद्भव के इस तत्त्व को वडी सच्चाई के साथ सभाल कर रखा हुआ है। ऋषि सूक्त का वैयक्तिक रूप से स्वय निर्माता नही था, वह तो द्रष्टा था एक सनातन सत्य का और एक अपौरुषेय ज्ञान का। वेद की भापा स्वय 'श्रुति' है, एक छन्द है जिसका वुद्धि द्वारा निर्माण नही हुआ वल्कि जो श्रुतिगोचर हुआ, एक दिव्य वाणी है जो कंपन करती हुई असीम में से निकलकर उस मनुष्य के अत श्रवण में पहुची जिसने पहले से ही अपने आपको अपौरुषेय ज्ञान का पात्र वना रखा था। 'दृष्टि' और 'श्रुति', दर्शन और श्रवण, ये शव्द स्वय वैदिक मुहावरे है, ये और इसके सजातीय शव्द, मत्रो के गूढ परिभाषाशास्त्र के अनुसार, स्वत प्रकाश ज्ञान को और दिव्य अन्त श्रवण के विषयो को वताते है।

स्वत प्रकाश-ज्ञान (इलहाम या ईश्वरीय ज्ञान) की वैदिक कल्पना मे किसी चमत्कार या अलौकिकता का निर्देश नही मिलता। जिस ऋषि ने इन शक्तियो का उपयोग किया, उसने एक उत्तरोत्तर वृद्धिशील आत्मसाधना के द्वारा इन्हे पाया था। ज्ञान स्वय एक यात्रा और लक्ष्यप्राप्ति थी, एक अन्वेषण और एक

विजय थी, स्वत प्रकाश की अवस्था केवल अन्त में आयी, यह प्रकाश एक अन्तिम विजय का पुरस्कार था। वेद में यात्रा का यह अलकार, सत्य के पथ पर आत्मा का प्रयाण, सतत रूप से मिलता है। उस पथ पर जैसे यह अग्रसर होता है, वैसे ही आरोहण भी करता है, शक्ति और प्रकाश के नवीन क्षेत्र इसकी अभीप्साओ के लिये खुल जाते है, यह एक वीरतामय प्रयत्न के द्वारा अपने विस्तृत हुए आध्यात्मिक ऐश्वर्यो को जीत लेता है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ऋग्वेद को यह समझा जा सकता है कि यह उस महान् उत्कर्ष का एक लेखा है जिसे मानवीयता ने अपनी सामूहिक प्रगति के किसी एक काल मे विशेष उपायो के द्वारा प्राप्त किया था। अपने गूढ अर्थ में भी, जैसे कि अपने साधारण अर्थ मे, यह कर्मों की पुस्तक है, आभ्यन्तर और बाह्य यज्ञ की पुस्तक है, यह है आत्मा की सग्राम और विजय की सूक्ति जब कि वह विचार और अनुभूति के उन स्तरो को खोजकर पा लेना है और उनमे आरोहण करना है जो कि भौतिक अथवा पाशविक मनुष्य से दुष्प्राप्य है, यह है मनुष्य की तरफ से उन दिव्य ज्योति, दिव्य शक्ति और दिव्य कृपाओं की स्तुति जो मर्त्य में कार्य करती है। इसलिये इस वात से यह वहुत दूर है कि यह कोई ऐसा प्रयास हो जिसमें कि बौद्धिक या कल्पनात्मक विचारो के परिणाम प्रतिपादित किये गये हो, नाही यह किसी आदिम धर्म के विधि-नियमो को वतलानेवाली पुस्तक है। केवल अनुभव की एकरूपता में से, प्राप्त हुए ज्ञान की नैर्व्यक्तिकता मे से विचारो का एक नियत समुदाय निरन्तर दोहराया जाता हुआ उद्गत होता है और एक नियत प्रतीकमय भाषा उद्गत होती है, जो सम्भवत उस आदिम मानवीय वोली में इन विचारो का अनिवार्य रूप थी। क्योकि यही सिर्फ अपनी मूर्त्तरूपता के और अपनी रहस्यमय सकेत की शक्ति के—इन दोनोंके—एकत्रित होने के द्वारा इस योग्य थी कि इसे अभिव्यक्त कर सके, जिसका व्यक्त करना जाति के साधारण मन के लिये अशक्य था। चाहे कुछ भी हो हम एक ही विचारो को सूक्त-सूक्त मे दुहराया हुआ पाते हैं, एक ही नियत परिभाषाओ और अलकारो के साथ और वहुधा एक से ही वाक्याशो में और किसी कवितात्मक मौलिकता की खोज के प्रति या विचारो की अपूर्वता और भाषा की नवीनता की माग के प्रति विल्कुल उदासीनता के साथ।

सौंदर्यमय सौष्ठव, आडम्बर या लालित्य का किसी प्रकार का भी अनुसरण इन रहस्यवादी कवियो को इसके लिये नही उकसाता कि वे उन पवित्र प्रतिष्ठापित रूपो को वदल दें जो कि उनके लिये, ज्ञान के सनातन सूत्रो को दीक्षितो की सतत परपरा में पहुचाते जानेवाले, एक प्रकार के दिव्य वीजगणित से वन गये थे।

वैदिक मत्र वस्तुत ही एक पूर्ण छदोवद्ध रूप रखते है, उनकी पद्धति मे एक सतत सूक्ष्मता और चातुर्य है, उनमें शैली की तथा काव्यमय व्यक्तित्व की महान् विविधताए है, वे असभ्य, जगली और आदिम कारीगरो की कृति नहीं है वल्कि वे एक परम कला और सचेतन कला के सजीव नि श्वास है, जो कला अपनी रचनाओ को एक आत्मदर्शिका अत.प्रेरणा की सवल किंतु सुनियन्त्रित गति मे उत्पन्न करती है। फिर भी ये सव उच्च उपहार जानबूझकर एक ही अपरिवर्त-नीय ढाचे के वीच में और सर्वदा एक ही प्रकार की सामग्री से रचे गये है। क्योकि व्यक्त करने की कला ऋषियो के लिये केवल एक सावनमात्र थी न कि लक्ष्यभूत, उनका मुख्य प्रयोजन अविरत रूप से व्यावहारिक था, वल्कि उपयोगिता के उच्चतम अर्थ मे लगभग उपयोगितावादी था।

वैदिक मत्र उस ऋषि के लिये जिसने उसकी रचना की थी, स्वय अपने लिये तथा दूसरोंके लिये आध्यात्मिक प्रगति का साधन था। यह उसकी आत्मा मे से उठा था, यह उसके मन की एक शक्ति वन गया था, यह उसके जीवन के आतरिक इतिहास में कुछ महत्त्वपूर्ण क्षणो में अथवा सकट तक के क्षण मे उसकी आत्माभि-व्यक्ति का माध्यम था। यह उसे अपने अदर देव को अभिव्यक्त करने मे, भक्षक को, पाप के अभिव्यजक को विनष्ट करने में सहायक था, पूर्णता की प्राप्ति के लिये सघर्ष करनेवाले आर्य के हाथ में यह एक शस्त्र का काम देता था, इन्द्र के वज्र के समान यह आध्यात्मिक मार्ग में आनेवाले प्रवणभूमि के आच्छादक पर, रास्ते के भेडिये पर, नदी-किनारे के लुटेरो पर चमकता था।

वैदिक विचार की अपरिवर्तनीय नियमितता को जव हम इसकी गभीरता, समृद्धता और सूक्ष्मता के साथ लेते है तो कुछ रोचक विचार इससे निकलते है। क्योकि हम युक्तियुक्त रूप मे यह तर्क कर सकते है कि एक ऐसा नियत रूप और विषय उस काल मे आसानी से सभव नही हो सकता था जो कि विचार तथा आध्या-

त्मिक अनुभव का आदिकाल था, अथवा उस काल मे भी जब कि उनका प्रारंभिक उत्कर्ष और विस्तार हो रहा था। इसलिये हम यह अनुमान कर सकते है कि हमारी वास्तविक संहिता एक युग की समाप्ति को सूचित करती है, न कि उसके प्रारंभ को और न ही इसकी क्रमिक अवस्थाओ मे के किसी काल को। यह भी संभव है कि इसके प्राचीनतम सूक्त उनसे भी अधिक प्राचीन* गीतिमय छंदो के अपेक्षाकृत नवीन विकसित रूप हो अथवा पाठांतर हो जो और भी पहले की मानवीय भाषा के अधिक स्वच्छंद तथा सुनम्य रूपो मे ग्रथित थे। अथवा यह भी हो सकता है कि इसकी प्रार्थनाओ का संपूर्ण विशाल समुदाय आर्यो के अधिक विविध तथा समृद्ध भूतकालीन वाङ्मय मे से वेदव्यास के द्वारा किया गया केवल एक संग्रह हो। प्रचलित विश्वास के अनुसार जो द्वैपायन कृष्ण है, उस महान् परंपरागत मुनि, महान् संग्रहीता (व्यास) के द्वारा आयस-युग के आरंभ की ओर, बढती हुई संध्या की तथा उत्तरवर्ती अंधकार की तमाब्दियो की ओर, मुह मोडकर बनाया हुआ यह संग्रह शायद दिव्य अन्तर्ज्ञान के युग की, पूर्वजो की ज्योतिर्मयी उषाओ की केवल अंतिम ही वसीयत है जो अपने वंशजो को दी गयी है, उस मानव-जाति को दी गयी है जो पहले से ही आत्मा मे निम्नतर स्तरो की ओर तथा भौतिक जीवन की, बुद्धि और तर्कशास्त्र की युक्तियो की अधिक सुगम और सुरक्षित प्राप्तियो—सुरक्षित शायद केवल प्रतीति मे ही—की ओर मुख मोड रही थी।

परंतु ये केवल कल्पनाए और अनुमान ही है। निश्चित तो इतना ही है कि मानव चक्र के नियम के अनुसार जो यह माना जाता है कि वेद उत्तरोत्तर अंधकार मे आते गये और उनका विलोप होता गया, यह बात घटनाओ से पूरी तौर पर प्रमाणित होती है। यह वेदो का अंधकार में आना पहले से ही प्रारंभ हो चुका था, उससे बहुत पहले जब कि भारतीय आध्यात्मिकता का अगला महान् युग, वेदांतिक युग, आरंभ हुआ, जिसने कि इस पुरातन ज्ञान को सुरक्षित या पुनरुज्जीवित करने के लिये,

---

*वेद मे स्वयं सतत रूप से "प्राचीन" और "नवीन" ऋषियो (पूर्व नूतन) का वर्णन आया है, इनमेंसे प्राचीन इतने अधिक पर्याप्त दूर है कि उन्हें एक प्रकार के अर्ध-देवता, ज्ञान के प्रथम संस्थापक समझना चाहिये।

जितना कि वह उस समय कर सकता था, सघर्ष किया। और तब कुछ और हो सकना प्राय असभव ही था। क्योकि वैदिक रहस्यवादियो का सिद्धात अनुभूतियो पर आश्रित था, जो अनुभूतिया कि साधारण मनुष्य के लिये बडी कठिन होती है और वे उन्हे उन शक्तियो की सहायता से होती थी, जो शक्तिया हममेंसे बहुतो के अदर केवल प्रारभिक अवस्था मे होती है और अभी अधूरी विकसित है और ये शक्तिया यदि कभी हमारे अदर सक्रिय होती भी है तो मिले-जुले रूप में ही और अतएव ये अपने व्यापार में अनियमित होती है। एव एक बार जब सत्य के अन्वेषण की प्रथम तीव्रता समाप्त हो चुकी, तो उसके बाद थकावट और शिथिलता का काल बीच में आना अनिवार्य था, जिस काल मे कि पुरातन सत्य आशिक रूप से लुप्त हो जाने ही थे। और एक बार लुप्त हो जाने पर फिर वे प्राचीन सूक्तो के आशय की छानबीन किये जाने के द्वारा आसानी से पुनरुज्जीवित नही किये जा सकते थे, क्योकि वे सूक्त ऐसी भाषा में ग्रथित थे जो कि जानबूझकर सदिग्धार्थक रखी गयी थी।

एक भाषा जो हमारी समझ के बाहर है, वह भी ठीक-ठीक समझ में आ सकती है यदि एक बार उसका मूलसूत्र पता लग जाय, पर एक भाषा जो जानबूझकर सदिग्धार्थक रखी गयी है, अपने रहस्य को अपेक्षाकृत अधिक दृढता और सफलता के साथ छिपाये रख सकती है, क्योकि यह उन प्रलोभनो और निर्देशो मे भरी रहती है जो भटका देते है। इसलिये जब भारतीय मन फिर से वेद के आशय के अनुसधान की ओर मुडा तो यह कार्य दुस्तर था और इसमे जो कुछ सफलता मिली वह केवल आशिक थी। प्रकाश का एक स्रोत अब भी विद्यमान था, वह परपरागत ज्ञान जो उनके हाथ में था जिन्होने मूलवेद को कण्ठस्थ किया हुआ था और उसकी व्याख्या करते थे, अथवा जिनके जिम्मे वैदिक कर्मकाण्ड था—ये दोनो कार्य प्रारभ मे एक ही थे, क्योकि पुराने दिनो में जो पुरोहित होता था वही शिक्षक और द्रष्टा भी होता था। परतु इस प्रकाश की स्पष्टता पहले से ही धुधली हो चुकी थी। बडी ख्याति पाये हुए पुरोहित भी जिन शब्दो का वे बार-बार पाठ करते थे, उन पवित्र शब्दो की शक्ति और उनके अर्थ का बहुत ही अधूरा ज्ञान रखते हुए याज्ञिक क्रियाए करते थे। क्योकि वैदिक पूजा के भौतिक रूप बढकर

वहा वे जिन वेदमत्रो को उद्धृत करती है उनके यथार्थ आशय को निश्चय करने मे हमारे लिये उतनी ही कम सहायक है जितने कि ब्राह्मण-ग्रन्थ। उनका असली कार्य वेदान्त की स्थापना करना था, न कि वेद की व्याख्या करना।

इस महान् आन्दोलन का फल हुआ, विचार और आध्यात्मिकता की एक नवीन तथा अपेक्षाकृत अधिक स्थिर शक्तिशाली स्थापना, वेद की वेदान्त मे परिसमाप्ति। और इसके अन्दर दो ऐसी प्रबल प्रवृत्तिया विद्यमान थी जिन्होने पुरातन वैदिक विचार तथा सस्कृति की सहति को भग करने की दिशा में कार्य किया। प्रथम यह कि इसकी प्रवृत्ति बाह्यकर्मकाण्ड को अधिकाधिक गौण करने की, मत्र और यज्ञ की भौतिक उपयोगिता को कम करके उसके स्थान पर अधिक विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक लक्ष्य और अभिप्राय को देने की थी। प्राचीन रहस्यवादियो ने बाह्य और आभ्यन्तर, भौतिक और आत्मिक जीवन में जो सतुलन, जो समन्वय कर रखा था, उसे स्थानच्युत और अस्तव्यस्त कर दिया गया। एक नवीन सतुलन, एक नवीन समन्वय स्थापित किया गया जो कि अन्ततोगत्वा सन्यास और त्याग की ओर झुक गया और उसने अपने आपको तबतक कायम रखा, जबतक कि यह समय आने पर बौद्धधर्म में आयी हुई इसकी अपनी ही प्रवृत्तियो की अति के द्वारा स्थानच्युत और अस्तव्यस्त नही कर दिया गया।

यज्ञ, प्रतीकात्मक कर्मकाण्ड, अधिकाधिक निरर्थक सा अवशेष और यहातक कि भारभूत हो गया तो भी, जैसा कि प्राय हुआ करता है, यन्त्रवत् और निष्फल हो जाने का ही परिणाम यह हुआ कि उनकी प्रत्येक बाह्य से बाह्य वस्तु को भी महत्ता को बढा-चढाकर कहा जाने लगा और उनकी सूक्ष्म विधियो को राष्ट्र-मन के उस भाग द्वारा जो अब तक उनसे चिपटा हुआ था, बिना युक्ति के ही बल-पूर्वक थोपा जाने लगा। वेद और वेदान्त के बीच एक तीव्र व्यावहारिक भेद अस्तित्व में आया, जो क्रिया में था यद्यपि पूर्णत सिद्धान्त-रूप से कभी भी स्वीकार नही किया गया, जिसे इस सूत्र में व्यक्त किया जा सकता है "वेद पुरोहितो के लिये, वेदान्त सन्तों के लिये"।

वैदान्तिक हलचल की दूसरी प्रवृत्ति थी अपने-आपको प्रतीकात्मक भाषा के भार से क्रमश मुक्त करना, अपने ऊपरसे उपचित गाथाओ और कवितात्मक अलकारो

के पर्दे को हटाना, जिसमें कि रहस्यवादियो ने अपने विचार को छिपा रखा था और उसके स्थान पर एक अधिक स्पष्ट प्रतिपादन को और अपेक्षया अधिक दार्शनिक भाषा को रखना। इस प्रवृत्ति के पूर्ण विकास ने न केवल वैदिक कर्मकाण्ड की, वल्कि मूल वेद की भी उपयोगिता को अप्रचलित कर दिया। उपनिषदें जिनकी भाषा वहुत ही स्पष्ट और सीधी-सादी थी, सर्वोच्च भारतीय विचार का मुख्य स्रोत हो गयी और उन्होने वसिष्ठ तथा विश्वामित्र की अन्त श्रुत ऋचाओ का स्थान ले लिया*।

वेदो के शिक्षा के अनिवार्य आधार के रूप में क्रमश कम और कम वरते जाने के कारण अव वे वैसे उत्साह और वुद्धिचातुर्य के साथ पढ़े जाने वद हो गये थे, उनकी प्रतीकमय भाषा ने, प्रयोग में न आने से, नयी सन्तति के आगे अपने आन्तरिक आशय के अवशेष को भी खो दिया, जिस सन्तति की सारी ही विचारप्रणाली वैदिक पूर्वजो की प्रणाली से भिन्न थी। दिव्य अन्तर्ज्ञान के युग वीत रहे थे और उनके स्थान पर तर्क के युग की प्रथम उषा का आविर्भाव हो रहा था।

वौद्धधर्म ने इस क्रान्ति को पूर्ण किया और प्राचीन युग की वाह्य परिपाटियो में से केवल कुछ अत्यादृत आडम्बर और कुछ यन्त्रवत् चलती हुई रूढिया ही अवशिष्ट रह गयी। इसने वैदिक यज्ञ को लुप्त कर देना चाहा और साहित्यिक भाषा के स्थान पर प्रचलित लोक-भाषा को प्रयोग में लाने का यत्न किया। और यद्यपि इसके कार्य की पूर्णता, पौराणिक सम्प्रदायो में हिन्दुधर्म के पुनरुज्जीवन के कारण, कई शताब्दियो तक रुकी रही, तो भी वेद ने स्वय इस अवकाश से न के वरावर ही लाभ उठाया। नये धर्म के प्रचार का विरोध करने के लिये यह आवश्यक था कि पूज्य किन्तु दुर्वोध मूल वेद के स्थान पर ऐसी धर्म-पुस्तके सामने लायी जावे जो अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन सस्कृत में सरल रूप में लिखी गयी

---

*यहा फिर इससे मुख्य प्रवृत्ति ही सूचित होती है और इसे कुछ शर्तो की अपेक्षा है। वेदो को प्रमाण-रूप से भी उद्धृत किया गया है, पर सर्वांगरूप से कहे तो उपनिषदें ही हैं जो कि ज्ञान की पुस्तक होती है, वेद अपेक्षाकृत कर्मकाण्ड की पुस्तक है।

हो। इस प्रकार देश के सर्वसाधारण लोगो के लिये पुराणो ने वेदो को एक तरफ धकेल दिया और नवीन धार्मिक पूजा-पाठ के तरीको ने पुरातन विधियो का स्थान ले लिया। जैसे वेद ऋषियो के हाथ मे पुरोहितो के पास पहुचा था, वैसे ही अब यह पुरोहितो के हाथ से निकलकर पण्डितो के हाथ में जाना शुरु हो गया। और उस रक्षण में इसने अपने अर्थो के अन्तिम अगच्छेदन को और अपनी सच्ची शान और पवित्रता की अन्तिम हानि को सहा।

यह बात नही कि वेदो का यह पण्डितो के हाथ मे जाना और भारतीय पाण्डि-त्य का वेदमन्त्रो के साथ व्यवहार, जो कि ईसा के पूर्व की शताब्दियो मे प्रारम्भ हो गया था, सर्वथा एक घाटे का ही लेखा हो। इसकी अपेक्षा ठीक तो यह है कि पण्डितो के सतर्क अध्यवसाय तथा उनकी प्राचीनता को रक्षित रखने और नवीनता में अप्रीति की परिपाटी के हम ऋणी है कि उन्होने वेदो की सुरक्षा की, बावजूद इसके कि इसका रहस्य लुप्त हो चुका था और वेदमन्त्र स्वय क्रियात्मक रूप मे एक सजीव धर्मशास्त्र समझे जाने बन्द हो गये थे। और साथ ही लुप्त रहस्य के पुनरुज्जीवन के लिये भी पाण्डित्यपूर्ण कट्टरता के ये दो सहस्र वर्ष हमारे लिये कुछ अमूल्य सहायतायें छोड गये है अर्थात् मूल वेदो के सहिता आदि पाठ जिनके ठीक-ठीक स्वर-चिह्न बडी सतर्कता के साथ निश्चित किये हुए है, यास्क का महत्त्वपूर्ण कोष और सायण का वह विस्तृत भाष्य जो अनेक और प्राय चौंका देनेवाली अपूर्णताओ के होते हुए भी अन्वेषक विद्वान् के लिये गम्भीर वैदिक शिक्षा के निर्माण की ओर एक अनिवार्य पहला कदम है।

तीसरा अध्याय

वैदिक वाद का सिंहावलोकन (ख)

वैदिक विद्वान्

जो मूल वेद इस समय हमारे पास है उसमें दो सहस्र वर्षों से अधिक काल से कोई विकार नही आया है। जहातक हम जानते है, इसका काल भारतीय बौद्धिक प्रगति के उस महान् युग से जो कि ग्रीक पुष्पोद्गम के समकालीन किन्तु अपने प्रारम्भिक रूपो में इससे पहले का है, प्रारम्भ होता है जिसने देश के सस्कृत-साहित्य में लेखबद्ध पायी जानेवाली सस्कृति और सभ्यता की नीव डाली। हम नही कह सकते कि कितनी अधिक प्राचीन तिथि तक हमारे इस मूल वेद को ले जाया जा सकता है। पर कुछ विचार है, जो इसके विषय में हमारे इस मन्तव्य को प्रमाणित करते है कि यह अत्यन्त ही प्राचीन काल का होना चाहिये। एक शुद्ध वेद का ग्रथ जिसका प्रत्येक अक्षर शुद्ध हो, प्रत्येक स्वर शुद्ध हो, वैदिक कर्मकाण्डियो के लिये बहुत ही अधिक महत्त्व का विषय था, क्योकि सतर्कता-युक्त शुद्धता पर ही यज्ञ की फलोत्पादकता निर्भर थी। उदाहरणस्वरूप ब्राह्मण-ग्रन्थो में हमें त्वष्टा की कथा मिलती है कि, वह इस उद्देश्य से यज्ञ कर रहा था कि, इन्द्र से उसके पुत्रवध का बदला लेनेवाला कोई उत्पन्न हो, पर स्वर की एक अशुद्धि के कारण इन्द्र का वध करनेवाला तो पैदा नही हुआ, किन्तु वह पैदा हो गया, जिसका कि इन्द्र वध करनेवाला बने। प्राचीन भारतीय स्मृति-शक्ति की असाधारण शुद्धता भी लोकविश्रुत है। और वेद के साथ जो पवित्रता की भावना जुडी हुई है, उसके कारण इसमें वैसे प्रक्षेप, परिवर्तन, नवीन सस्करण नही हो सके, जैसोंके कारण कि कुरुवशियो का प्राचीन महाकाव्य बदलता-बदलता महाभारत के वर्तमान रूप में आ गया है। इसलिये यह सर्वथा सम्भव है कि हमारे पास व्यास की सहिता साररूप में वैसी की वैसी हो, जैसा कि इसे उस महान् ऋषि और सग्रहीता ने क्रमबद्ध किया था।

मैंने कहा है 'साररूप में', न कि उसके वर्तमान लिखित रूप में। क्योंकि वैदिक छन्द शास्त्र कई अशो मे सस्कृत के छन्द शास्त्र से भिन्नता रखता था और विशेषकर, पृथक् पृथक् शब्दो की सन्धि करने के नियमो को जो कि साहित्यिक भाषा का एक विशेष अग है, बडी स्वच्छन्दता के साथ काम मे लाता था। वैदिक ऋषि, जैसा कि एक जीवित भाषा में होना स्वाभाविक ही था, नियत नियमो की अपेक्षा श्रुति का ही अधिक अनुसरण करते थे, कभी वे पृथक् शब्दो मे सन्धि कर देते थे और कभी वे उन्हे बिना सन्धि किये वैसा ही रहने देते थे। परन्तु जब वेद का लिखित रूप मे आना शुरु हुआ, तब सन्धि के नियम का भाषा के ऊपर और भी अधिक निष्प्रतिबन्ध आधिपत्य हो गया और प्राचीन मूल वेद को वैयाकरणो ने जहातक हो सका, इसके नियमो के अनुकूल बनाकर लिखा। फिर भी, इस बात मे वे सचेत रहे कि इस सहिता के साथ उन्होने एक दूसरा ग्रन्थ भी बना दिया, जिसे 'पदपाठ' कहा जाता है और जिसमे सन्धि के द्वारा सयुक्त सभी शब्दो का फिर से उनके मूल तथा पृथक्-पृथक् शब्दो मे सन्धिच्छेद कर दिया गया है और यहातक कि समस्त शब्दो के घटको का भी निर्देश कर दिया गया है।

वेदो को स्मरण रखनेवाले प्राचीन पण्डितो की वेदभक्ति के विषय में यह एक बडी उल्लेखयोग्य प्रशसा की बात है कि उस अव्यवस्था के स्थान पर जो कि इस वैदिक रचना मे बडी आसानी से पैदा की जा सकती थी, यह सदा पूर्ण रूप से आसान रहा है कि इस सहितात्मक वेद को वैदिक छन्दोविधि के अनुसारी उनके मौलिक रूपो मे पृथक् करके देखा जा सके। और बहुत ही कम ऐसे उदाहरण है जिनमें कि पदपाठ की यथार्थता अथवा उसके युक्तियुक्त निर्णय पर आपत्ति उठायी जा सके।

तो, हमारे पास अपने आधार के रूप मे एक वेद का ग्रन्थ है जिसे कि हम विश्वास के साथ स्वीकार कर सकते है, और चाहे इसे हम कुछ थोडे से अवसरो पर सन्दिग्ध या दोषयुक्त भी क्यों न पाते हो, यह किसी प्रकार से भी सशोधन के उस प्राय उच्छृखल प्रयत्न के योग्य नही है जिसके लिये कि कुछ युरोपियन विद्वान् अपने-आपको प्रस्तुत करते है। प्रथम तो यही एक अमूल्य लाभ है जिसके

लिये हम प्राचीन भारतीय पाण्डित्य की सत्यनिष्ठा के प्रति जितने कृतज्ञ हो, उतना ही थोडा है।

कुछ अन्य दिशाओ में सभवत यह सर्वदा सुरक्षित न हो–अर्थात् जहा कही प्राचीन परम्परा पुष्ट और युक्तियुक्त नही भी थी, वहा भी–कि पण्डितो की परम्परा का हमेशा निर्विवाद रूप से अनुसरण किया जाय–जैसे कि वैदिक सूक्तो के उनके ऋषियो के साथ सम्बन्ध में। परन्तु ये सब ब्योरे की बाते है जो कि बहुत ही कम महत्त्व की है। न ही मेरी दृष्टि में इसमें सन्देह करने का कोई युक्तियुक्त कारण है कि वेद के सूक्त अधिकतर अपनी ऋचाओ के सही क्रम में और अपनी यथार्थ सम्पूर्णता में बद्ध है। अपवाद यदि कोई हो भी तो वे सख्या और महत्त्व की दृष्टि मे उपेक्षणीय हैं। जब सूक्त हमें असम्बद्ध से प्रतीत होते है, तो उसका कारण यह होता है कि वे हमारी समझ में नही आ रहे होते। एक बार जब मूल सूत्र हाथ लग जाय, तो हम पाते है कि वे पूर्ण अवयवी है, जो जैसे कि अपनी भाषा में और अपने छन्दो में वैसे ही अपनी विचार-रचना मे भी आश्चर्यजनक हैं।

यह तब होता है जब हम वेद की व्याख्या की ओर आते है और इसमे प्राचीन भारतीय पाण्डित्य से सहायता लेना चाहते है, कि हम अधिक से अधिक सकोच करने के लिये अपनेको बाध्य अनुभव करने है। क्योकि प्रथम श्रेणी के पाण्डित्य के प्राचीनतर काल में भी वेदो के विषय में कर्मकाण्डपरक दृष्टिकोण पहले से ही प्रधान था, शब्दो का, पक्तियो का, सकेतो का मौलिक अर्थ तथा विचार-रचना का मूल सूत्र चिरकाल से लुप्त हो चुका था या धुधला पड गया था, न ही उस समय के विद्वान् मे वह अन्तर्ज्ञान या वह आध्यात्मिक अनुभूति थी, जो लुप्त रहस्य को अशत ही पुनरुज्जीवित कर सकती। ऐसे क्षेत्र मे केवलमात्र पाण्डित्य जितनी बार पथप्रदर्शक होता है, उतनी ही बार उलझानेवाला जाल भी बन जाता है, विशेषकर तब जब कि इसके पीछे एक कुशल विद्वत्ताशाली मन हो।

यास्क के कोष में, जो कोष कि हमारे लिये सबसे आवश्यक सहायता है, हमें दो बहुत ही असमान मूल्यवाले अगो में भेद करना चाहिये। जब यास्क एक कोषकार की हैसियत से वैदिक शब्दो के विविध अर्थो को देता है, तो उसकी

प्रामाणिकता बहुत बडी है और जो सहायता वह देता है वह प्रथम महत्त्व की है। यह प्रतीत नही होता कि वह सभी प्राचीन अर्थो पर अधिकार रखता था, क्योंकि उनमेंसे बहुतसे अर्थ कालक्रम से और युगपरिवर्तन के कारण विलुप्त हो चुके थे और एक वैज्ञानिक भाषाविज्ञान की अनुपस्थिति में उन्हे फिर से प्राप्त नही किया जा सकता था। पर फिर भी परम्परा के द्वारा बहुत कुछ सुरक्षित था। जहा कही यास्क इस परम्परा को कायम रखता है और एक व्याकरणज्ञ के बुद्धि-कौशल को काम में नही लाता, वहा वह शब्दो के जो अर्थ निश्चित करता है, चाहे यह हमेशा ठीक न भी हो कि जिस मन्त्र के लिये वह उन शब्दो का निर्देश करता है वहा उनका वही अर्थ लगे, फिर भी युक्तियुक्त भाषाविज्ञान के द्वारा उनकी पुष्टि की जा सकती है कि उनके अर्थ सगत है। परन्तु निरुक्तिकार यास्क कोष-कार यास्क की कोटि मे नही आता। वैज्ञानिक व्याकरण पहले-पहल भारतीय पाण्डित्य के द्वारा विकसित हुआ, परन्तु सुव्यवस्थित भाषा-विज्ञान के प्रारम्भ के लिये हम आधुनिक अनुसन्धान के ऋणी है। केवल-मात्र बुद्धि-कौशल की उन प्रणालियो की अपेक्षा अधिक मनमौजी तथा नियम-रहित अन्य कुछ नही हो सकता, जो कि प्राचीन निरुक्तकारो से लेकर १८वी शताब्दी तक भी प्रयुक्त की गयी है, चाहे वे योरोप मे की गयी हो, चाहे भारत में। और जब यास्क इन प्रणालियो का अनुसरण करता है तो हम सर्वथा उसका साथ छोडने के लिये बाध्य हो जाते है। न ही वह किन्ही अमुक अमुक मन्त्रो की अपनी व्याख्या में उत्तरकालीन सायण के पाण्डित्य की अपेक्षा अधिक विश्वासोत्पादक है।

सायण का भाष्य वेद पर मौलिक तथा सजीव पाण्डित्यपूर्ण कार्य के उस युग को समाप्त करता है, जिसका प्रारभक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थो के साथ मे यास्क के निरुक्त को कहा जा सकता है। यह कोष (यास्क का निघण्टु निरुक्त) भारतीय मन के प्रारम्भिक उत्साह के दिनो में सगृहीत किया गया था, जब कि भारतीय मन मौलिकता के एक नवीन उद्भव के लिये साधनो के रूप में प्रागैति-हासिक प्राप्तियो को सचित करने में लगा हुआ था, यह भाष्य (सायण का वेदभाष्य) अपने प्रकार का लगभग एक अतिम महान् प्रयत्न है, जिसे पाण्डित्यपरपरा दक्षिण भारत में अपने अतिम अवलब और केंद्र के रूप में हमारे लिये छोड गयी थी,

इससे पहले कि पुरातन सस्कृति मुसलिम विजय के धक्के के द्वारा अपने स्थान से च्युत हुई और टूटकर भिन्न-भिन्न प्रादेशिक खण्डो में वट गयी। इसके वाद दृढ और मौलिक प्रयत्न कही-कही फूट निकलते रहे, नयी रचना और नवीन सघटन के लिये विखरे हुए यत्न किये गये, पर विलकुल इस प्रकार का सर्वसाधारण, महान् तथा स्मारकभूत कार्य नही ही तैयार हो सका।

भूतकाल की इस महान् वसीयत की प्रभावशालिनी विशेषताए स्पष्ट है। उस समय के विद्वान-से-विद्वान् पण्डितो की सहायता से सायण के द्वारा निर्माण किया गया, यह एक ऐसा ग्रन्थ है जो पाण्डित्य के एक वहुत ही महान् प्रयास का द्योतक है, शायद ऐसे किसी भी प्रयास से अधिक, जो उस काल में किसी अकेले मस्तिष्क के द्वारा प्रयुक्त किया जा सकता था। फिर भी इसपर, सव वैषम्य हटाकर एक प्रकार की समरसता ले आनेवाले मन की छाप दिखायी देती है। समूह-रूप में यह सगत है, यद्यपि विस्तार में जाने पर इसमें कई असगतिया दीखती है। यह एक विशाल योजना पर वना हुआ है, तो भी वहुत ही सरल तरीके पर, एक ऐसी शैली में रचा गया है जो स्पष्ट है, सक्षिप्त है और लगभग एक ऐसी साहित्यिक छटा से युक्त है जिसे कि भारतीय भाष्य करने की परपरागत प्रणाली में कोई असभव ही समझता। इसमें कहीपर भी विद्यावलेप का दिखावा नही है, मन्त्रो में उपस्थित होनेवाली कठिनाइयो के साथ जो सघर्ष होता, उसपर वडे चातुर्य के साथ पर्दा डाला गया है और इसमें एक स्पष्ट कुशाग्रता का तथा एक विश्वासपूर्ण, पर फिर भी सरल, प्रामाणिकता का भाव है, जो अविश्वासी पर भी अपनी छाप डाल देता है। यूरोप के पहले-पहल वैदिक विद्वानो ने सायण की व्याख्याओ में युक्तियुक्तता की विशेप रूप से प्रशसा की है।

तो भी, वेद के वाह्य अर्थ के लिये भी यह सभव नही है कि सायण की प्रणाली का या उसके परिणामों का विना वडे-से-वडे सकोच के अनुसरण किया जाय। यही नही कि वह अपनी प्रणाली में भापा और रचना की ऐसी स्वच्छदता को स्वीकार करता है जो कि अनावश्यक है और कभी-कभी अविश्वसनीय भी होती है, न केवल यही है कि वह वहुधा अपने परिणामो पर पहुचने के लिये सामान्य वैदिक परिभापा-ओ की और नियत वैदिक सूत्रो तक की अपनी व्याख्या में आश्चर्यजनक असगति

दिखाता है। ये तो ब्योरे की त्रुटिया हैं, जो सभवत उस सामग्री की अवस्था में जिससे उसने कार्य शुरू किया था, अनिवार्य थी। परतु सायण की प्रणाली की केंद्रीय त्रुटि यह है कि, वह सदा कर्मकाण्ड-विधि मे ही ग्रस्त रहता है और निरतर वेद के आशय को बलपूर्वक कर्मकाण्ड के सकुचित साचे में डालकर वैसा ही रूप देने का यत्न करता है। इसलिये वह उन बहुत से मूल सूत्रो को खो देता है जो इस पुरातन धर्मपुस्तक के बाह्य अर्थ के लिये--जो कि, बिल्कुल वैसा ही रोचक प्रश्न है जैसा कि इसका आतरिक अर्थ--बहुत बडे निर्देश दे सकते है और बहुत ही महत्त्व के हैं। परिणामत सायणभाष्य द्वारा ऋषियो का, उनके विचारो का, उनकी सस्कृति का, उनकी अभीप्साओ का, एक ऐसा प्रतिनिधित्व हुआ है जो इतना सकुचित और दारिद्र्योपहत है कि यदि उसे स्वीकार कर लिया जाय, तो वह वेद के सबध मे प्राचीन पूजाभाव को, इसकी पवित्र प्रामाणिकता को, इसकी दिव्य ख्याति को बिलकुल अबुद्धिगम्य कर देता है, या उसे इस रूप मे रखता है कि इसकी व्याख्या केवलमात्र यही हो सकती है कि यह उस श्रद्धा की एक अधी और बिना ननुनच किये मानी गयी परपरा है जिस श्रद्धा का प्रारभ एक मौलिक भूल से हुआ है।

इस भाष्य में अवश्य ही अन्य रूप (पहलू) और तत्त्व भी है, परतु वे मुख्य विचार के सामने गौण है या उसके ही अनुवर्ती है। सायण और उसके सहायको को बहुधा परस्पर टकरानेवाले विचार और परपराओ के विशाल समुदाय पर जो कि भूतकाल से आकर अबतक बचा रह गया था, कार्य करना पडा था। इनके तत्त्वो में से कुछ को उन्होने नियमित स्वीकृति देकर कायम रखा, दूसरोंके लिये उन्होने छोटी-छोटी छूटें देने के लिये अपनेको बाध्य अनुभव किया। यह हो सकता है कि, पुरानी अनिश्चितता या गडबड तक में से एक ऐसी व्याख्या निकाल लेने में जिसकी कि स्थिर आकृति और जिसमें एकात्मता हो, सायण का जो बुद्धि-कौशल है, उसीके कारण उसके कार्य की यह महान् और चिरकाल तक अशकित प्रामाणिकता बनी हो।

प्रथम तत्त्व जिससे सायण को वास्ता पडा और जो कि हमारे लिये बहुत अधिक रोचक है, श्रुति की प्राचीन आध्यात्मिक, दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक व्याख्याओ

का अवशेष था, जो कि इसकी पवित्रता का असली आधार है। उस अश तक जहा तक कि ये प्रचलित अथवा कट्टरपथी[1] (Orthodox) विचार मे प्रविष्ट हो चुकी थी, सायण उन्हें स्वीकार करता है, परतु वे उसके भाष्य में एक अपवादात्मक रूप में है, जो मात्रा तथा महत्त्व की दृष्टि से तुच्छ हो गयी है। कही-कही प्रसग-वश वह अपेक्षया कम प्रचलित आध्यात्मिक अर्थों का चलते-चलते जिक्र कर जाता है या उन्हे स्वीकृति दे देता है। उदाहरणत —उसने 'वृत्र' की उस प्राचीन व्याख्या का उल्लेख किया है, पर उसे स्वीकार करने के लिये नही, जिसमें कि 'वृत्र' वह आच्छादक (आवरक) है, जो मनुष्य के पास पहुचने (प्राप्त होने) से उसकी कामना की और अभीप्सा की वस्तुओ को रोके रखता है। सायण के लिये 'वृत्र' या तो केवलमात्र शत्रु है या भौतिक मेघरूपी असुर है, जो जलो को रोक रखता है और जिसका वर्षा करनेवाले (इन्द्र) को भेदन करना पडता है।

दूसरा तत्त्व है गाथात्मक या इसे पौराणिक भी कहा जा सकता है—देवताओ की गाथाए और कहानिया जो उनके बाह्य रूप में दी गयी है, विना उस गभीरतर आशय और प्रतीकात्मक तथ्य के जो कि समस्त पुराण[2] के औचित्य को सिद्ध करनेवाला एक सत्य है।

तीसरा तत्त्व आख्यानात्मक या ऐतिहासिक है, प्राचीन राजाओ और ऋषियो की कहानिया जो वेद के अस्पष्ट वर्णनो का स्पष्टीकरण करने के लिये ब्राह्मणग्रन्थो में दी गयी है या उत्तरकालीन परपरा के द्वारा आयी है। इस तत्त्व के साथ

---

[1] इस शब्द का मै शिथिलता के साथ प्रयोग कर रहा हू। कट्टरपथी (Orthodox) और धर्मविरोधी (Heterodox) ये पारिभाषिक शब्द युरोपियन या साप्रदायिक अर्थ में भारत के लिये, जहा कि सम्मति हमेशा स्वतत्र रही है, सच्चे अर्थों में प्रयुक्त नही होते हैं।

[2] यह मान लेना सयुक्तिक है कि पुराण (आख्यान तथा उपाख्यान) और इतिहास (ऐतिहासिक परपरा) वैदिक सस्कृति के ही अग थे, उससे बहुत पूर्वकाल से जब कि पुराणो के और ऐतिहासिक महाकाव्यो के वर्तमान स्वरूपो का विकास हुआ।

सायण का वर्ताव कुछ हिचकिचाहट से युक्त है। बहुधा वह उन्हे मत्रो की उचित व्याख्या के रूप मे ले लेता है, कभी-कभी वह विकल्प के तौर पर एक दूसरा अर्थ भी देता है जिसके साथ कि स्पष्ट तौर से वह अपनी अधिक बौद्धिक सहानुभूति रखता है, परन्तु उन दोनोमेंसे किसे प्रामाणिक माने इस विषय मे वह दोलायमान रहता है।

इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है प्रकृतिवादी व्याख्या का तत्त्व। न केवल उसमें स्पष्ट या परपरागत तद्रूपताए है, इन्द्र है, मरुत है, त्रित अग्नि है, सूर्य है, उषा है, परन्तु हम देखते है कि मित्र को दिन का तद्रूप मान लिया गया है, वरुण को रात्रि का, अर्यमा तथा भग को सूर्य का और ऋभुओ को इसकी रश्मियो का। हम यहा वेद के सबध मे उस प्रकृतिवादी सिद्धात के बीज पाते है, जिसे यूरोपियन पाण्डित्य ने बहुत ही बडा विस्तार दे दिया है। प्राचीन भारतीय विद्वान् अपनी कल्पनाओ में वैसी स्वतत्रता और वैसी क्रमबद्ध सूक्ष्मता का प्रयोग नही करते थे। तो भी सायण के भाष्य मे पाया जानेवाला यह तत्त्व ही योरोप के तुलनात्मक गाथाशास्त्र के विज्ञान का असली जनक है।

परतु जो व्यापक रूप मे सारे भाष्य मे छाया हुआ है,वह है कर्मकाण्ड का विचार, यही स्थिर स्वर है, जिसमें अन्य सब अपने-आपको खो देते है। वेदमत्र भले ही ज्ञान के लिये सर्वोच्च प्रमाण-रूप से उपस्थित हो, तो भी वे दार्शनिक मतो के अनुसार प्रधान रूप से और सैद्धातिक रूप से कर्मकाण्ड के साथ, कर्मों के साथ, सबद्ध है और 'कर्मों से' समझा जाता था मुख्य रूप से वैदिक यज्ञो का कर्मकाण्डमय अनुष्ठान। सायण सर्वत्र इसी विचार के प्रकाश में प्रयत्न करता है। इसी साचे के अन्दर वह वेद की भाषा को ठोक-पीटकर ढालता है, इसके विशिष्ट शब्दो के समुदाय को कर्मकाण्डपरक अर्थों का रूप देता है,—जैसे भोजन, पुरोहित, दक्षिणा देनेवाला, धन-दौलत, स्तुति, प्रार्थना, यज्ञ, बलिदान।

धनदौलत (धन) और भोजन (अन्न) इनमे मुख्य है। क्योकि ये सब अधिक से अधिक स्वार्थसाधक तथा भौतिकतम पदार्थ ही है जो कि यज्ञ के ध्येय के तौर पर चाहे गये है, जैसे स्वामित्व, बल, शक्ति, बाल-बच्चे, सेवक, सोना, घोडे, गौए, विजय, शत्रुओ का वध तथा लूट, प्रतिस्पर्धी तथा विद्वेषी आलोचक का विनाश।

जब कोई व्यक्ति पढता है और मन्त्र के वाद मन्त्र को लगातार इसी एक अर्थ में व्याख्या किया हुआ पाता है, तो उसे गीता की मनोवृत्ति में ऊपर से दिखायी देने-वाली यह असगति और भी अच्छी तरह समझ में आने लगती है कि गीता एक तरफ तो वेद की एक दिव्य ज्ञान (गीता १५–१५) के रूप मे प्रतिष्ठा करती है, फिर भी दूसरी तरफ केवलमात्र उस वेदवाद के रक्षको का दृढता के साथ तिरस्कार करती है (गीता २–४२) जिसकी सब पुष्पित शिक्षायें केवल भौतिक धन-दौलत, शक्ति और भोग का प्रतिपादन करती हैं।

वेद के सव सभव अर्थों में से इस निम्नतर अर्थ के साथ ही वेद को अन्तिम तौर पर और प्रामाणिकतया वाध देना, यह है जो कि सायण के भाष्य का सवसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम हुआ । कर्मकाण्डपरक व्याख्या की प्रधानता ने पहले ही भारतवर्ष को अपने सर्वश्रेष्ठ धर्मशास्त्र (वेद) के सजीव उपयोग से और उपनिषदो के समस्त आशय को वतानेवाले सच्चे मूल सूत्र से वचित कर रखा था। सायण के भाष्य ने पुरानी मिथ्या धारणाओ पर प्रामाणिकता की मुहर लगा दी, जो कि कई शताब्दियो तक नही टूट सकती थी। और इसके दिये हुए निर्देश, उस समय जव कि एक दूसरी सभ्यता ने वेद को ढूढकर निकाला और इसका अध्ययन प्रारम्भ किया, युरोपियन विद्वानो के मन में नयी नयी गलतियो के कारण वने ।

फिर भी यदि सायण का ग्रन्थ एक ऐसी चावी है, जिसने वेद के आन्तरिक आशय पर दोहरा ताला लगा दिया है, तो भी वह वैदिक शिक्षा की प्रारम्भिक कोठरियो को खोलने के लिये अत्यन्त अनिवार्य है। युरोपियन पाण्डित्य का सारा-का-सारा विशाल प्रयास भी इसकी उपयोगिता का स्थान लेने योग्य नही हो सका है। प्रत्येक पग पर हम इसके साथ मतभेद रखने के लिये वाध्य हैं, पर प्रत्येक पग पर इसका प्रयोग करने के लिये भी वाध्य है। यह एक आवश्यक कूदने का तख्ता है या एक सीढी है, जिसका कि हमें प्रवेश के लिये उपयोग करना पडता है, यद्यपि इसे हमे अवश्य ही पीछे छोड देना चाहिये, यदि हम आगे वढकर आन्तरिक अर्थ की गहराई मे गोता लगाना चाहते हैं, मन्दिर के भीतरी भाग में पहुचना चाहते हैं।

चौथा अध्याय

आधुनिक मत

यह एक विदेशी सस्कृति की वेदो के प्रति जिज्ञासा थी, जिसने कि कई शताब्दियो बाद अन्तिम प्रामाणिकता की उस मुहर को तोडा जो सायण ने वेद की कर्मकाण्डपरक व्याख्या पर लगा दी थी। वेद की प्राचीन धर्मपुस्तक उस पाण्डित्य के हाथ में आयी जो परिश्रमी, विचार मे साहसी, अपनी कल्पना की उडान में प्रतिभाशाली, अपने निजी प्रकाशो के अनुसार सच्चे, परन्तु फिर भी प्राचीन रहस्यवादी कवियो की प्रणाली को समझने के अयोग्य था। क्योंकि यह उस पुरातन सस्थान के साथ किसी प्रकार की भी सहानुभूति नही रखता था, वैदिक अलकारो और रूपको के अदर छिपे हुए विचारो को समझने के लिये अपने बौद्धिक या आत्मिक वातावरण में इसके पास कोई मूलसूत्र नही था। इसका परिणाम दोहरा हुआ है, एक ओर तो वैदिक व्याख्या की समस्याओ पर जहा अधिक स्वाधीनता के साथ वहा अधिक सूक्ष्म, पूर्ण और सावधानी के भी साथ विचार और दूसरी ओर इसके बाह्य भौतिक अर्थ की चरम अतिशयोक्ति तथा इसके असली और आन्तरिक रहस्य का अविकल विलोप।

अपने विचारो की साहसिक दृढता तथा अनुसधान या आविष्कार की स्वाधीनता के होते हुए भी योरोप के वैदिक पाण्डित्य ने वस्तुत सब जगह अपने-आपको सायण के भाष्य मे रक्खे हुए परम्परागत तत्त्वो पर ही अवलबित रक्खा है और इस समस्या पर सर्वथा स्वतन्त्र विचार करने का प्रयत्न नही किया है। जो कुछ इसने सायण में और ब्राह्मणग्रन्थो में पाया, उसीको इसने आधुनिक सिद्धातो और आधुनिक विज्ञानो के प्रकाश में लाकर विकसित कर दिया है। भाषाविज्ञान, गाथाशास्त्र और इतिहास में प्रयुक्त होनेवाली तुलनात्मक प्रणाली से निकाले हुए गवेषणापूर्ण निगमनो के द्वारा, प्रतिभाशाली कल्पना की सहायता से विद्यमान विचारो को विशाल रूप देने द्वारा और इधर-उधर बिखरे हुए उपलब्ध निर्देशों को एकत्रित

कर देने द्वारा इसने वैदिक गाथाशास्त्र, वैदिक इतिहास, वैदिक सभ्यता के एक पूर्ण वाद को खडा कर लिया है, जो अपने ब्योरे की बातो तथा पूर्णता के द्वारा मोह लेता है और अपनी प्रणाली की ऊपर से दिखायी देनेवाली निश्चयात्मकता के द्वारा इस वास्तविकता पर पर्दा डाले रखता है कि, यह भव्य-भवन अधिकतर कल्पना की रेत पर खडा हुआ है।

वेद के विषय में आधुनिक सिद्धात इस विचार से प्रारम्भ होता है, जिसके लिये सायण उत्तरदायी है, कि वेद एक ऐसे आदिम, जगली और अत्यधिक बर्बर समाज की सूक्ति-सहिता है, जिसके नैतिक तथा धार्मिक विचार असस्कृत थे, जिसकी सामाजिक रचना असभ्य थी और अपने चारो ओर के जगत् के विषय में जिसका दृष्टिकोण बिलकुल बच्चो का सा था। यज्ञ-याग को जिसे सायण ने एक दिव्य ज्ञान का अग तथा एक रहस्यमय प्रभावोत्पादकता से युक्त स्वीकार किया था, योरोपियन पाण्डित्य ने इस रूप में स्वीकार किया कि, यह उन प्राचीन जगली शान्तिकरणसम्बन्धी यज्ञ-बलिदानो का श्रम-साधित विस्तार था, जो ऐसी काल्पनिक अतिमानुष व्यक्ति-सत्ताओ को समर्पित किया जाता था, जो कि, इसके अनुसार कि उनकी पूजा की जाती है या उपेक्षा की जाती है, हितैषी अथवा विद्वेषी हो सकते थे।

सायण से अगीकृत ऐतिहासिक तत्त्व को उसने तुरन्त ग्रहण कर लिया और मत्रो में आये प्रसगो के नये अर्थ और नयी व्याख्याए करके उसे विस्तृत रूप दे दिया, जो नये अर्थ और नयी व्याख्यायें इस प्रबल लिप्सा को लेकर विकसित की गयी थी कि, वेदमन्त्र उन बर्बर जातियो के प्रारम्भिक इतिहास, रीतिरिवाजो तथा उनकी सस्थाओ का पता देनेवाले सिद्ध हो सके। प्रकृतिवादी तत्त्व ने और भी अधिक महत्त्व का हिस्सा लिया। वैदिक देवताओ का अपने बाह्य रूपो में जो स्पष्टतया किन्ही प्राकृतिक शक्तियो के साथ तद्रूपता का सम्बन्ध है, उसका प्रयोग उसने इस रूप में किया कि, उससे आर्यन गाथाशास्त्रो के तुलनात्मक अध्ययन का प्रारम्भ किया गया, अपेक्षया कम प्रधान देवताओ में से कुछ की, जैसे सूर्य-शक्तियो की, जो कुछ सदिग्ध तद्रूपता है, वह इस रूप में दिखायी गयी कि उससे प्राचीन गाथा-निर्माण किये जाने की पद्धति का पता चलता है और तुलनात्मक

गाथाशास्त्र की बड़े परिश्रम से बनायी हुई जो सूर्य-गाथा तथा नक्षत्र-गाथा की कल्पनायें है, उनकी नींव डाली गयी।

इस नये प्रकाश मे वैदिक सूक्त-रचना की व्याख्या इस रूप मे की जाने लगी है कि, यह प्रकृति का एक अर्ध-अंधविश्वासयुक्त तथा अर्ध-कवितायुक्त रूपक है, जिसमें साथ ही महत्त्वपूर्ण नक्षत्र-विद्यासंबन्धी तत्त्व भी है। इनमे जो अवशिष्ट बचा इसमे कुछ अंश उस समय का इतिहास है और कुछ अंश यज्ञबलिदानविषयक कर्मकाण्ड के नियम और विधियां है, जो रहस्यमय नही है, बल्कि केवलमात्र जंगलीपन तथा अन्ध-विश्वास से भरा हुआ है।

पश्चिमी पण्डितो की वेदविषयक यह व्याख्या आदिम मानवसंस्कृतिसम्बन्धी उनकी कल्पनाओ से और निपट जंगलीपन मे अभी उठना बनानेवाली वैज्ञानिक कल्पनाओ से पूरी तरह मेल खाती है, जो कि कल्पनायें संपूर्ण १८ वी शताब्दी मे प्रचलित रही है और अब भी प्रधानता रखती है। परन्तु हमारे ज्ञान की वृद्धि ने इस पहले-पहल के और अत्यन्त जल्दबाजी मे किये गये व्याप्तीकरण को अब अत्यधिक हिला दिया है। अब हम जानते है कि कई सहस्र वर्ष पूर्व चीन मे, मिश्र मे, खाल्दिया में, ऐसीरिया में अपूर्व सभ्यताएं विद्यमान थी और अब इसपर आम तौर से लोग सहमत होते जा रहे है कि, एशिया मे तथा भूमध्यतटवर्ती जातियो में जो सामान्य उच्च संस्कृति थी, ग्रीस और भारत उसके अपवाद नही थे।

इस नये प्राप्त हुए ज्ञान का लाभ यदि वैदिक काल के भारतीयों को नही मिला है तो इसका कारण उस कल्पना का अभीतक बचा रहना है जिससे कि योरोपियन पाण्डित्य ने शुरूआत की थी, अर्थात् यह कल्पना कि वे तथाकथित आर्यजाति के थे और पुराने आर्यन ग्रीक लोगो, कैल्ट लोगो तथा जर्मन लोगो के साथ-साथ संस्कृति के उसी स्तर पर थे जिसका कि वर्णन हमें होमर की कविताओ मे प्राचीन नौर्स सतो मे तथा प्राचीन गौल (Gaul) और ट्यूटनो (Teuton) के रोमन उपाख्यानो में दिखलाया गया है। इसीसे उस कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ है कि ये आर्यन जातियां उत्तर की बर्बर जातियां थी जो शीतप्रधान प्रदेशो से आकर भूमध्यतटवर्ती योरोप की और द्राविड भारत की प्राचीन तथा समृद्ध सभ्य जातियो के अन्दर आ घुसी थी।

परन्तु वेद में वे निर्देश, जिनसे कि इस हाल के आर्यन आक्रमण की कल्पना का निर्माण हुआ है, सख्या में बहुत ही थोडे है और अपने अर्थ में अनिश्चित हैं। वहा ऐसे किसी आक्रमण का वास्तविक उल्लेख कही नही मिलता। आर्यों और अनार्यों के बीच का भेद जिसपर इतना सब कुछ निर्भर है, बहुत से प्रमाणो से यह प्रतीत होता है कि, वह कोई जातीय भेद नही, बल्कि सास्कृतिक भेद था।[1]

सूक्तो की भाषा स्पष्ट तौर पर सकेत करती है कि एक विशेष प्रकार की पूजा या आध्यात्मिक सस्कृति ही आर्यों का भेदक चिह्न थी—प्रकाश की और प्रकाश की शक्तियो की पूजा तथा एक आत्म-नियन्त्रण जो 'सत्य' की सस्कृति और अमरता की अभीप्सा, ऋतम् और अमृतम्, पर आश्रित था। किमी जातीय भेद का कोई भी विश्वसनीय निर्देश वेद में नही मिलता। यह हमेशा सम्भव है कि इस समय भारत में बसनेवाले जन-समुदाय का प्रधान भाग उस एक नयी जाति का वशज हो जो अधिक उत्तरीय अक्षो से—या यह भी हो सकता है, जैसा कि श्रीयुत तिलक ने युक्तियो द्वारा सिद्ध करने का यत्न किया है कि, उत्तरीय ध्रुव के प्रदेशो से—आयी थी, परन्तु वेद मे इस विषय मे कुछ नहीं है, जैसे कि देश की वर्तमान जातिविज्ञानसम्बन्धी[2] मुखाकृतियो में भी यह सिद्ध करने के लिये कोई

---

[1]यह कहा जाता है कि गौर वर्णवाले और उभरी हुई नासिकावाले आर्यों के प्रतिकूल दस्युओ का वर्णन इस रूप में आता है कि वे काली त्वचावाले और विना नासिकावाले (अनस्) है। परन्तु इनमें जो पहला सफेद और काले का भेद है, वह तो निश्चय ही 'आर्य देवो' तथा 'दासशक्तियो' के लिये 'प्रकाश' और 'अन्धकार' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। और दूसरेके विषय में पहिली वात यह है कि 'अनस्' शब्द का अर्थ 'विना नासिका' वाला नही है। पर यदि इसका यह अर्थ होता, तो भी यह द्राविड जातियो के लिये तो कभी भी प्रयुक्त नही हो सकता था, क्योकि दाक्षिणात्य लोगो की नासिका अपने होने का वैसा ही अच्छा प्रमाण दे सकती है, जैसा कि उत्तर देशो में आर्यों की शुण्डाकार उभरी हुई, कोई भी नाक दे सकती है।

[2]भारत में हम प्राय भारतीय जातियो के भाषा-विज्ञान द्वारा किये गये उन

प्रमाण नही है कि, यह आर्यों का नीचे उतरना वैदिक सूक्तो के काल के आसपास हुआ अथवा यह गौरवर्णवाले वर्वर लोगो के एक छोटे से समुदाय का सभ्य द्राविड प्रायद्वीप के अन्दर शनै प्रवेश था।

न ही हमारे पास अनुमान करने को जो आधार है उनसे यह निश्चित परिणाम निकलता है कि प्राचीन आर्य-सस्कृतिया—यह मानकर कि कैल्ट, टयूटन, ग्रीक तथा भारतीय सस्कृतिया एक ही साधारण सास्कृतिक उद्गम को सूचित करती हैं—अविकसित तथा जगली थी।

उनके वाहरी जीवन मे तथा जीवन के सगठन मे एक विशुद्ध तथा उच्च सरलता का होना, जिन देवताओ की वे पूजा किया करते थे उनके प्रति अपने विचार में तथा उनके साथ अपने सम्वन्वो मे एक निश्चित मूर्तरूपता तथा स्पष्ट मानवीय परिचय का होना, आर्यन स्वरूप को उसमे अधिक शानदार और भौतिकवादी मिश्र—खाल्दियन (Egypto-chaldean) सभ्यता से तथा इसके गम्भीरता दिखानेवाले और गुह्यता रखनेवाले धर्मो से भिन्न करता है। परन्तु (आर्यन सस्कृति की) वे विशेषतायें एक उच्च आन्तरिक सस्कृति के साथ असगत नही है। इसके विपरीत एक महान् आध्यात्मिक परम्परा के चिह्न हमें वहुत से स्थलो पर वहा मिलते है और वे इस साधारण कल्पना का प्रतिषेध करते हैं।

पुरानी कैल्टिक जातियो में निश्चय ही कुछ उच्चतम दार्शनिक विचार पाये जाते थे और वे अबतक उन विचारो पर अकित एक उस आदिम रहस्यमय तथा अन्तर्ज्ञानमय विकास के परिणाम को सुरक्षित रखे हुए है, जिसे कि ऐसे चिर-

---

पुराने विभागो से और मिस्टर रिसले (Mr Risley) की उन कल्पनाओ से ही परिचित हैं, जो कि पहिले के किये गये उन्ही साधारणीकरणो पर आश्रित है। परन्तु अपेक्षाकृत अधिक उन्नत जातिविज्ञान अब सभी शब्दव्युत्पत्ति-सम्बन्धी कसौटियो को मानने से इन्कार करता है और इस विचार की ओर अपना झुकाव रखता है कि भारत के प्रायद्वीप पर एक ही प्रकार की जाति निवास करती थी।

स्थायी परिणामो को पैदा करने के लिये चिरकाल से स्थिर और अत्यधिक विकसित हो चुकना चाहिये था। ग्रीस में, यह वहुत सम्भव है कि, हैलेनिक रूप (Hellenic Type) को उसी तरह औंर्फिक और ऐलुसीनियन (orphic and eleusinian) प्रभावो के द्वारा ढाला गया हो और ग्रीक गाथाशास्त्र, जैसा कि यह सूक्ष्म आध्यात्मिक निर्देशो से भरा हुआ हमें प्राप्त हुआ है, औंर्फिक शिक्षा की ही वसीयत हो।

सामान्य परम्परा के साथ इसकी सगति तभी लग सकती है, यदि यह निकल आवे कि शुरू से आखिर तक सारी-की-सारी भारतीय सम्यता उन प्रवृत्तियों और विचारो का विस्तार रही है, जिन्हें कि हमारे अन्दर वैदिक पुरुषाओ 'पितरो ने' वोया था। इन प्राचीन सस्कृतियो की असाधारण जीवन-शक्ति, जो अव तक हमारे लिये हमें आधुनिक मनुष्य के मुख्य रूपो का, उसके स्वभाव के मुख्य अगो का, उसके विचार, कला और धर्म की मुख्य प्रवृत्तियो का निर्धारण कराती है, किसी आदिम जगलीपन से निकली हुई नही हो सकती। वे एक गभीर और प्रवल प्रागैतिहासिक विकास के परिणाम हैं।

तुलनात्मक गाथाशास्त्र ने मानवीय उन्नति के वीच में आनेवाले इस महत्त्वपूर्ण क्रम की उपेक्षा करके मनुष्य के प्रारम्भिक परम्पराओ-सम्वन्वी ज्ञान को विकृत कर दिया है। इसने अपनी व्याख्या का आधार एक ऐसे सिद्धान्त को वनाया है, जिसने प्राचीन जगलियो और प्लेटो या उपनिषदो के वीच में और कुछ भी नही देखा। इसने यह कल्पना की है कि प्राचीन धर्मो की नीव जगली लोगो के उस महान् आश्चर्य पर पडी हुई है, जो कि उन्हें तव हुआ जव कि उन्हे अचानक ही इस आश्चर्यजनक तथ्य का वोध हुआ कि उषा, रात्रि और सूर्य जैसी अद्भुत वस्तुए विद्यमान है, और उन्होने उनकी सत्ता को एक असस्कृत, जगली और काल्पनिक तरीके से शव्दो में प्रकट करने का यत्न किया। और इस वच्चो के से आश्चर्य से उठकर हम अगले ही कदम मे छलाग मारकर ग्रीक, दार्शनिक तथा वैदान्तिक ऋषियो के गम्भीर सिद्धातो तक पहुच जाते है। तुलनात्मक गाथाशास्त्र एक यूनानीभाषा-विज्ञो की कृति है, जिसके द्वारा गैरयूनानी वातो की व्याख्या की गयी है और वह भी एक ऐसे दृष्टिविन्दु से जिसका स्वय

आधार ही ग्रीक मन को गलत तौर से समझने पर है। इसकी प्रणाली कविता-मय कल्पना का एक प्रतिभासूचक खेल है, इसकी अपेक्षा कि यह कोई धीरता-पूर्ण वैज्ञानिक अन्वेषण हो।

इस प्रणाली के परिणामो पर यदि हम दृष्टि डाले, तो हम वहा रूपको की और उनकी व्याख्याओ की एक असाधारण गडबड पाते है, जिनमे कि कही भी कोई सगति या सामञ्जस्य नही है। यह एक विस्तृत वर्णनो का समुदाय है, जो एक दूसरेमें प्रवेश कर रहा है, गडबडी के साथ एक दूसरेके मार्ग मे आ रहा है, एक दूसरेके साथ असहमत है तो भी उसके साथ उलझा हुआ है और उनकी प्रामाणिकता निर्भर करती है केवल उन काल्पनिक अटकलो पर जिन्हे कि ज्ञान का एकमात्र साधन समझकर खुली छुट्टी दे दी गयी है। यहातक कि इस असगति को इतने उच्च पद पर पहुचा दिया गया है कि इसे सच्चाई का एक मान-दण्ड समझा गया है, क्योकि प्रमुख विद्वानो ने यह गम्भीरतापूर्वक युक्ति की है कि अपेक्षाकृत अधिक तर्कसम्मत और सुव्यवस्थित परिणाम पर पहुचनेवाली कोई प्रणाली इसीसे खण्डित और अविश्वसनीय साबित हो जाती है चूकि उसमें सगति पायी जाती है, क्योकि (वे कहते है) यह अवश्य मानना चाहिये कि, गडबडी का होना यह प्राचीन गाथाकवितात्मक योग्यता का एक आवश्यक तत्त्व ही था। परन्तु उस अवस्था में तुलनात्मक गाथा-विज्ञान के परिणामो में कोई चीज नियन्त्रण करनेवाली नही हो सकती और एक कल्पना वैसी ही ठीक होगी, जैसी कि कोई दूसरी, क्योकि इसमें कोई युक्ति नही है कि, क्यो असबद्ध वर्णनो के किसी एक विशेष समुदाय को उससे भिन्न प्रकार से प्रस्तुत किये गये दूसरे किसी असम्बद्ध वर्णनो के समुदाय की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक समझा जावे।

तुलनात्मक गाथा-विज्ञान की मीमासाओ में बहुत कुछ है जो कि उपयोगी है, परन्तु इसके लिये कि, इसके अधिकाश परिणाम युक्तियुक्त और स्वीकार करने लायक हो सके, इसे अपेक्षया अधिक धैर्यसाध्य और सगत प्रणाली का प्रयोग करना चाहिये और इसे अपना सगठन एक सुप्रतिष्ठित धर्मविज्ञान (Science of Religion) के अग के रूप में ही करना चाहिये। हमें यह अवश्य स्वीकार करना चाहिये कि प्राचीन धर्म ऐसे विचारो पर आश्रित अग-

प्रत्ययुक्त सस्थान थे, जो विचार कि कम-से-कम उतने ही सगत थे जितने कि हमारे धर्मविश्वासो के आधुनिक सस्थानो को वनानेवाले विचार है। हमें यह भी मानना चाहिये कि धार्मिक सप्रदाय और दार्शनिक विचार के पहिले के सस्थानो से लेकर वाद में आनेवाले सस्थानो तक सर्वथा बुद्धिगम्य ही क्रमिक विकास हुआ है। इस भावना के साथ जव हम प्रस्तुत सामग्री का विस्तृत रूप से और गभीर रूप से अध्ययन करेंगे, तथा मानवीय विचार और विश्वास के सच्चे विकास का अन्वेषण करेगे, तभी हम वास्तविक सत्य तक पहुच सकेगे।

ग्रीक और सस्कृत नामो की केवलमात्र तद्रूपता और इन वातो का चातुर्यपूर्ण अन्वेपण कि हैरेकल की चिता (Heracle's pyre) अस्त होते हुए सूर्य का प्रतीक है या पारिस (Paris) और हैलन (Helen) वेद के 'सरमा' और 'पणियो' के ही ग्रीक अपभ्रश है, कल्पना-प्रधान मन के लिये एक रोचक मनोरञ्जन का विपय अवश्य है, परन्तु अपने-आपमें ये किसी गभीर परिणाम पर नही पहुचा सकती, चाहे यह भी सिद्ध क्यो न हो जाय कि ये वाते ठीक है। न ही वे ऐसी ठीक ही है कि उनपर गभीर सन्देह की गुञ्जाइश न हो, क्योकि उस अधूरी तथा कल्पनात्मक प्रणाली का, जिसके द्वारा कि सूर्य और नक्षत्र-गाथा की व्याख्याए की गयी है, यह एक दोष है कि वे एक-सी ही सुगमता और विश्वासजनकता के साथ किसी भी, और प्रत्येक ही मानवीय परम्परा, विश्वास या इतिहास की वास्तविक घटना* तक के लिये प्रयुक्त की जा सकती है। इस प्रणाली को लेकर हम कभी भी निश्चय पर नही पहुच सकते हैं कि कहा हमने वस्तुत किसी सत्य को जा पकडा है और कहा हम केवलमात्र वुद्धिचातुर्य की वाते सुन रहे है।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान (Comparative philology) सचमुच हमारी कुछ सहायता कर सकता है, परन्तु अपनी वर्तमान अवस्था में वह भी

---

*उदाहरणार्थ, एक वडा विद्वान् हमें यह निश्चय दिलाता है कि, ईसा और उसके १२ देवदूत, सूर्य और १२ महीने हैं। नेपोलियन का चरित्र सारे कथानक या इतिहास में सवसे अधिक पूर्ण सूर्यगाथा है।

बहुत ही थोडी निश्चयात्मकता के साथ हमारी सहायता कर सकता है। आधुनिक भाषा-विज्ञान, १९वी शताब्दी से पहले जो कुछ इस विषय मे हमारे पास था, उसपर एक बहुत भारी उन्नति है। इसने इसमे एकमात्र कल्पना या मनमौज के स्थान पर एक नियम और प्रणाली की भावना को ला दिया है। इसने हमें भाषा के शब्दरूपो के अध्ययन के विषय मे और शब्दव्युत्पत्ति-विज्ञान में क्या सम्भव है और क्या सम्भव नही है, इस विषय में अपेक्षया अधिक ठीक विचारो को दिया है। इसने कुछ नियम निर्धारित कर दिये है, जिनके अनुसार कोई भाषा शनै शनै बदलते-बदलते दूसरे मे आ जाया करती है और वे नियम इस बात में हमारा पथप्रदर्शन करते है कि एक ही शब्द या उसमे सम्बन्धित दूसरे शब्द, जैसे कि वे भिन्न-भिन्न परन्तु सजातीय भाषाओ के परिवर्तित रूपो में दिखायी देते है, किन शब्दो के तद्रूप है। तथापि यहा आकर इसके लाभ रुक जाते है। वे ऊची ऊची आशाए जो इसकी उत्पत्ति के समय थी, इसकी प्रौढता के द्वारा पूर्ण नही हुई है। भाषा के विज्ञान की रचना कर सकने मे यह असफल रहा है और अब भी हम इसके प्रति उस क्षमायाचनापूर्ण वर्णन को प्रयुक्त करने के लिये बाध्य है, जो एक प्रमुख भाषाविज्ञानवेत्ता ने अपने अत्यधिक प्रयास के कुछ दशको के पश्चात् प्रयुक्त किया था, जब कि वह अपने परिणामो के विषय में यह कहने के लिये बाध्य हुआ था कि "हमारे क्षुद्र कल्पनामूलक विज्ञान।" परन्तु कोई कल्पनामूलक विज्ञान तो विज्ञान ही नही हो सकता। इसलिये ज्ञान के अधिक यथार्थ और सूक्ष्मतया विशुद्ध रूपो का अनुसरण करनेवाले लोग तुलनात्मक भाषाविज्ञान को 'विज्ञान' यह नाम देने से सर्वथा इन्कार करते है और यहातक कि वे भाषासम्बन्धी किसी विज्ञान की सभवनीयता से ही इन्कार करते हैं।

सच तो यह है कि भाषाविज्ञान से जो परिणाम निकले है उनमे अभीतक कोई वास्तविक निश्चयात्मकता नही है, क्योकि सिवाय एक या दो नियमो के, जिनका कि प्रयोग बिल्कुल सीमित है, उसमे कही भी कोई निश्चित आधार नही है। कल हम सबको यह विश्वास था कि वरुण और औरेनस (ouranos) –ग्रीक आकाश–एक ही है, आज यह समानता, यह कहकर दोषयुक्त ठहरा दी

गयी है कि, इसमें भाषा-विज्ञानसम्बन्धी गलती है, कल यह हो सकता है कि इसे फिर से मान लिया जाय। 'परमे व्योमन्' एक वैदिक मुहावरा है, जिसका कि हममेंसे अधिकाश "उच्चतम आकाश में" यह अनुवाद करेंगे, परन्तु श्रीयुत टी परम शिव अय्यर अपने बौद्धिक चमक-दमक से युक्त और आश्चर्यजनक ग्रथ "दि ऋक्स" ('ऋग्वेद के मत्र') में हमें बताते है कि इसका अर्थ है, "निम्न-तम गुहा में" क्योकि 'व्योमन्' का अर्थ होता है "विच्छेद, दरार" और शाब्दिक अर्थ है, "रक्षा (ऊमा) का अभाव" और जिस युक्ति-प्रणाली का उन्होने प्रयोग किया है, वह आधुनिक विद्वान् की प्रणाली के ऐसी अनुरूप है कि, भाषाविज्ञानी इसे यह कहकर अमान्य नही कर सकता कि "रक्षा के अभाव" का अर्थ दरार होना सभव नही है और यह कि मानवीय भाषा का निर्माण ऐसे नियमो के अनु-सार नही हुआ है।

यह इसीलिये है क्योकि भाषा-विज्ञान उन नियमो का पता लगाने मे असफल रहा है जिन नियमो पर कि भाषा का निर्माण हुआ है, या यह कहना अधिक ठीक है कि, जिन नियमो से भाषा का शनै शनै विकास हुआ है, और दूसरी ओर इस-ने एकमात्र कल्पना और बुद्धिकौशल की पुरानी भावना को पर्याप्त रूप में कायम रखा है और यह सदिग्ध अटकलो की ठीक इस प्रकार की (जैसी कि, श्री अय्यर ने दिखलायी है) बौद्धिक चमक-दमक से ही भरा पडा है। लेकिन तब हम इस परिणाम पर पहुचते है कि, हमे इस बात के निर्णय में सहायता देने के लिये इसके पास कुछ नही है कि वेद का 'परमे व्योमन्' 'उच्चतम आकाश' की ओर निर्देश करता है या 'निम्नतम खाई' की ओर। यह स्पष्ट है कि ऐसा अपूर्ण भाषा-विज्ञान वेद का आशय समझने के लिये कही-कही एक उज्ज्वल सहायता तो हो सकता है, परन्तु एक निश्चित पथप्रदर्शक कभी नही हो सकता।

यह बात वस्तुत हमें माननी चाहिये कि वेद के सबध में विचार करते हुए योरोपियन पाण्डित्य को, योरोप में हुई वैज्ञानिक प्रगति के साथ जो उनका सम्बन्ध है उसके कारण, आम जनता के मनो में कुछ अतिरिक्त प्रतिष्ठा मिल जाती है। पर सत्य यह है कि स्थिर, निश्चित और यथार्थ भौतिक विज्ञानो के तथा जिनपर वैदिक पाण्डित्य निर्भर करता है ऐसी इन विद्वत्ता की दूसरी उज्ज्वल

किन्तु अपरिपक्व शाखाओ के बीच एक बडी भारी खाई है। वे (भौतिक-विज्ञान) अपनी स्थापना मे सतर्क, उसके व्याप्तीकरण में मद, अपने परिणामो में सबल हैं और ये (दूसरी विद्वत्ता की शाखायें) कुछ थोडे मे स्वीकृत तत्त्वो पर विशाल और व्यापक सिद्धातो को बनाने के लिये बाध्य हुई है और किन्ही निश्चित निर्देशो को न दे सकने की अपनी कमी को अटकलो और कल्पनाओ के अतिरेक द्वारा पूरी करती है। ये ज्वलन्त प्रारम्भो से तो भरी पडी है, पर किसी सुरक्षित परिणाम पर नही पहुच सकती। ये विज्ञान (पर चढने) के लिये प्रारभिक असस्कृत मञ्च अवश्य है, पर अभीतक विज्ञान नही बन पायी हैं।

इससे यह परिणाम निकलता है कि वेद की व्याख्या की सम्पूर्ण समस्या अव-तक एक खुला क्षेत्र है जिसमें किसी भी सहायता का, जो कि इस समस्या पर प्रकाश डाल सके, स्वागत किया जाना चाहिये। तीन इस प्रकार की सहाय-ताएँ भारतीय विद्वानो से आयी है। उनमे दो योरोपियन अनुसन्धान के पद-चिह्नो या प्रणालियो का अनुसरण करती हैं, फिर भी उन नयी कल्पनाओ को प्रस्तुत करती है, जो यदि सिद्ध हो जाय, तो मन्त्रो के बाह्य अर्थ के विषय मे हमारे दृष्टिकोण को बिलकुल बदल दें। श्रीयुत तिलक ने "वेद में आर्यो का उत्तरीय-ध्रुवनिवास" (Arctic Home in the Vedas) नामक पुस्तक में योरो-पियन पाण्डित्य के सामान्य परिणामो को स्वीकार कर लिया है, परन्तु वैदिक उषा की, वैदिक गौओ के अलकार की और मन्त्रो के नक्षत्र-विद्यासम्बन्धी तत्त्वो की नवीन परीक्षा के द्वारा यह स्थापना की है कि, कम-से-कम इस बात की बहुत अधिक सम्भावना तो है ही कि, आर्यजातिया प्रारम्भ में, हिम-युग मे, उत्तरीय ध्रुव के प्रदेशो से उतरकर आयी।

श्रीयुत टी० परम शिव अय्यर ने और भी अधिक साहस के साथ योरोपियन पद्धतियो से अपनेको जुदा करते हुए यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि सारा-का-सारा ऋग्वेद आलकारिक रूप से उन भू-गर्भसबधी घटनाओ का वर्णन हैं, जो कि उस समय में हुई जब कि चिरकाल से जारी हिम-सहति का विनाश समाप्त हुआ और उसके पश्चात् भौमिक विकास के उसी युग मे हमारे ग्रह का नवीन जन्म हुआ था। यह कठिन है कि श्रीयुत अय्यर की युक्तियो और परिणामो को

सामूहिक रूप में स्वीकार किया जाय, परन्तु यह तो है कि कम-से-कम उसने वेद की 'अहि वृत्र' की महत्त्वपूर्ण गाथा पर और सात नदियो के विमोचन पर एक नया प्रकाश डाला है। उसकी व्याख्या प्रचलित कल्पना (Theory) की अपेक्षा कही बहुत अधिक सगत और सम्भव है, जब कि प्रचलित कल्पना मन्त्रो की भाषा से कदापि पुष्ट नहीं होती। तिलक के ग्रथ के साथ मिलाकर देखने से यह इस प्राचीन धर्मशास्त्र वेद की एक नवीन वाह्य व्याख्या के लिये प्रारम्भ-विन्दु का काम दे सकती है और इससे उस बहुत से अश का स्पष्टीकरण हो जायगा, जो अवतक अव्याख्येय वना हुआ है, तथा यह हमारे लिये यदि प्राचीन आर्यजगत् की वास्तविक भौतिक परिस्थितियो को नही तो कम-से-कम भौतिक प्रारम्भो को तो नया रूप प्रदान कर देगी।

तीसरी भारतीय सहायता तिथि में अपेक्षया कुछ पुरानी है, परन्तु मेरे वर्तमान प्रयोजन के अधिक नजदीक है। यह है वेद को फिर से एक सजीव धर्मपुस्तक के रूप में स्थापित करने के लिये आर्यसमाज के सस्थापक स्वामी दयानन्द के द्वारा किया गया अपूर्व प्रयत्न। दयानन्द ने पुरातन भारतीय भाषा-विज्ञान के स्वतन्त्र प्रयोग को अपना आधार वनाया, जिसे कि उसने निरुक्त में पाया था। स्वय एक सस्कृत का महाविद्वान् होते हुए, उसने उसके पास जो सामग्री थी, उसपर अद्भुत शक्ति और स्वाधीनता के साथ विचार किया। विशेषकर प्राचीन सस्कृत-भाषा के अपने उस विशिष्ट तत्त्व का उसने रचनात्मक प्रयोग किया, जो कि सायण के "धातुओ की अनेकार्थता" इस एक वाक्याश से वहुत अच्छी तरह से प्रकट हो जाता है। हम देखेंगे कि, इस तत्त्व का, इस मूलसूत्र का ठीक ठीक अनुसरण वैदिक ऋषियो की निराली प्रणाली समझने के लिये वहुत अधिक महत्त्व रखता है।

दयानन्द की मन्त्रो की व्याख्या इस विचार से नियन्त्रित है कि, वेद धार्मिक, नैतिक और वैज्ञानिक सत्य का एक पूर्ण ईश्वरप्रेरित ज्ञान है। वेद की धार्मिक शिक्षा एकदेवतावाद की है और वैदिक देवता एक ही देव के भिन्न भिन्न वर्णनात्मक नाम है, साथ ही वे देवता उसकी उन शक्तियो के सूचक भी है जिन्हें कि हम प्रकृति में कार्य करता हुआ देखते है, और वेदो के आशय को सच्चे रूप में समझकर हम उन सभी वैज्ञानिक सचाइयो पर पहुंच सकते है जिनका कि आधुनिक अन्वेषण

द्वारा आविष्कार हुआ है।

इस प्रकार के सिद्धात की स्थापना करना, स्पष्ट ही, बडा कठिन काम है। अवश्य ही ऋग्वेद स्वय कहता है[1] कि, देवता एक ही विश्वव्यापक सत्ता के केवल भिन्न नाम और अभिव्यक्तिया है जो सत्ता कि अपनी निजी वास्तविकता मे विश्व को अतिक्रमण किये हुए है, परन्तु मत्रो की भाषा से देवताओ के विषय मे निश्चित रूप से हमे यह पता लगता है कि वे न केवल एक देव के भिन्न भिन्न नाम, किन्तु साथ ही उस देव के भिन्न भिन्न रूप, शक्तिया और व्यक्तित्व भी है। वेद का एकदेवतावाद विश्व की अद्वैतवादी, सर्वदेवतावादी और यहातक कि बहुदेवतावादी दृष्टियो को भी अपने अन्दर सम्मिलित कर लेता है और यह किसी भी प्रकार से आधुनिक ईश्वरवाद का कटा-छँटा और सीधा-सा रूप नही है। यह केवल मूल वेद के साथ जबर्दस्ती करने से ही हो सकता है कि हम इसपर ईश्वरवाद के इसकी अपेक्षा किसी कम जटिल रूप को मढ देने मे कामयाब हो सके।

यह बात भी मानी जा सकती है कि प्राचीन जातिया भौतिक विज्ञान मे उसकी अपेक्षा कही बहुत अधिक उन्नत थी जितना कि अभीतक स्वीकार किया जाता है। हमे मालूम है कि मिश्र और खाल्दिया के निवासी बहुत से आविष्कार कर चुके थे जिन्हे कि विज्ञान ने आधुनिक विज्ञान के द्वारा पुनराविष्कृत किया है और उनमेसे बहुत से ऐसे भी है जो फिर से आविष्कृत नही किये जा सके है। प्राचीन भारत-वासी, कम-से-कम, कोई छोटे-मोटे ज्योतिर्विद् नही थे और वे [illegible] चिकित्सक थे। न ही हिन्दुवैद्यकशास्त्र तथा रसायनशास्त्र का उद्भव [illegible] प्रतीत होता है। यह सभव है कि भौतिक विज्ञ[illegible] न्य [illegible] प्राचीन काल में भी उन्नत रहे हो। [illegible] सिद्ध में वैज्ञानिक ज्ञान बिल्कुल पूर्ण रूप मे प्रक[illegible] कि है, बहुत अधिक प्रमाणो की आवश्य[illegible]

वह स्थापना जिसे कि मैं अपनी प[illegible]

---

[1] इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य[illegible]
एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम म[illegible]

द्विविध रूप रखता है और उन दोनो रूपो को, यद्यपि वे परस्पर बहुत घनिष्ठता के साथ सम्बद्ध है, हमें पृथक्-पृथक् ही रखना चाहिये। ऋषियो ने अपनी विचार की सामग्री को एक समानान्तर तरीके से व्यवस्थित किया था, जिसके द्वारा कि एक ही देवता एक साथ विराट् प्रकृति की आभ्यन्तर तथा बाह्य दोनो शक्तियो के रूप में प्रकट हो जाते थे और उन्होने इसे एक ऐसी द्व्यर्थक प्रणाली से अभिव्यक्त किया कि जिससे एक ही भाषा दोनो रूपो में उनकी पूजा के प्रयोजन को सिद्ध कर देती थी। परन्तु भौतिक अर्थ की अपेक्षा आध्यात्मिक अर्थ प्रधान है और अपेक्षया अधिक व्यापक घनिष्ठता के साथ ग्रथित तथा अधिक सगत है। वेद मुख्यतया आध्यात्मिक प्रकाश और आत्म-साधना के लिये अभिप्रेत है। इसलिये यही अर्थ है जिसे कि प्रथम हमें पुनरुज्जीवित करना चाहिये।

इस कार्य में व्याख्या की प्रत्येक, प्राचीन तथा आधुनिक, प्रणाली एक अनिवार्य सहायता देती है। सायण और यास्क बाह्य प्रतीको के कर्मकाण्डमय ढाचे को और अपनी परम्परागत व्याख्याओ तथा स्पष्टीकरणो के बडे भारी भण्डार को प्रस्तुत करते है। उपनिषदें प्राचीन ऋषियो के आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारो को जानने के लिये अपने मूलसूत्र हमें पकडाती है और आध्यात्मिक अनुभूति तथा अन्तर्ज्ञान की अपनी प्रणाली को हमतक पहुचाती है। योरोपियन पाडित्य तुलनात्मक अनुसन्धान की एक आलोचनात्मक प्रणाली को देता है, जो प्रणाली यद्यपि अभीतक अपूर्ण है, परन्तु तो भी जो साधन अवतक प्राप्य है, उन्हे बहुत अधिक उन्नत कर सकती है और जो निश्चित रूप से अन्त मे जाकर एक वैज्ञानिक निश्चयात्मकता तथा दृढ बौद्धिक आधार को दे सकेगी जो कि अवतक प्राप्त नही हुआ है। दयानन्द ने ऋषियो के भाषासम्बन्धी रहस्य का मूलसूत्र हमें पकडा दिया है और वैदिक धर्म के एक केन्द्रभूत विचार पर फिर से बल दिया है, इस विचार पर कि जगत् मे एक ही देव की सत्ता है और भिन्न भिन्न देवता अनेक नामो और रूपो से उस एक देव की ही अनेकरूपता को प्रकट करते है।

मध्यकालीन भूत से इतनी सहायता लेकर हम अब भी इस सुदूरवर्त्ती प्राचीनता का पुनर्निर्माण करने मे सफलता प्राप्त कर सकते है और वेद के द्वार से प्रागैतिहासिक ज्ञान के विचारो तथा सचाइयो के अन्दर प्रवेश पा सकते है।

पाचवा अध्याय

आध्यात्मिकवाद के आधार

वेदो के अर्थ के विषय में कोई वाद निश्चित और युक्तियुक्त हो सके, इसके लिये यह आवश्यक है कि वह ऐसे आधारपर टिका हो जो कि स्पष्ट तौर पर स्वय वेद की ही भाषा मे विद्यमान हो। चाहे वेद मे जो सामग्री है उसका अधिक भाग प्रतीको और अलकारो का एक समुदाय हो, जिसका आशय कि खोजकर पता लगाने की आवश्यकता है, तो भी मत्रो की स्पष्ट भाषा मे ही हमें साफ साफ निर्देश मिलने चाहियें जो कि वेद का आशय समझने मे हमारा पथप्रदर्शन करे। नही तो, क्योकि प्रतीक स्वय सदिग्ध अर्थ को देनेवाले है, यह खतरा है कि ऋषियो ने जिन अलकारो को चुना है उनके वास्तविक अभिप्राय को ढूढ निकालने के बजाय कही हम अपनी स्वतत्र कल्पनाओ और पसदगी के बलपर कुछ और ही वस्तु न गढ डाले। उस अवस्था में, हमारा सिद्धात चाहे कितना ही बुद्धिपूर्वक और पूर्ण क्यो न हो, यह हवाई किले बनाने के समान होगा जो कि बेशक शानदार हो पर उसमें कोई वास्तविकता या सार नही होगा।

इसलिये हमारा सबसे पहिला कर्तव्य यह है कि हम इस बात का निश्चय करे कि, अलकारो और प्रतीको के अतिरिक्त, वेदमत्रो की स्पष्ट भाषा मे आध्यात्मिक विचारो का पर्याप्त बीज विद्यमान है या नही, जो कि हमारी इस कल्पना को न्यायोचित सिद्ध कर सके कि वेद का जगली और अनघड अर्थ की अपेक्षा एक उच्चतर अर्थ है। और इसके बाद हमें, जहा तक हो सके स्वय सूक्तो की अन्त-साक्षी के ही द्वारा, प्रत्येक प्रतीक और अलकार का वास्तविक अभिप्राय क्या है तथा वैदिक देवताओ में से प्रत्येक का अलग-अलग ठीक ठीक आध्यात्मिक व्यापार क्या है यह मालूम करना होगा। वेद की प्रत्येक नियत परिभाषा का एक स्थिर, न कि इच्छानुसार बदलता रहनेवाला, अर्थ पता लगाना होगा जिसकी कि प्रामाणिकता ठीक-ठीक भाषाविज्ञान से पुष्ट होती हो और जो कि उस प्रकरण में जहा

कि वह शब्द आता है स्वभावत ही विल्कुल उपयुक्त वैठता हो। क्योंकि जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, वेदमन्त्रो की भाषा एक नियत तथा अपरिवर्तनीय भाषा है, यह सावधानी के साथ सुरक्षित तथा निर्दोष रूप से आदर पायी हुई वाणी है, जो कि या तो एक विधिविधानसम्बन्धी सम्प्रदाय और याज्ञिक कर्मकाड को अथवा एक परम्परागत सिद्धात और सतत अनुभूति को सगतिपूर्वक अभिव्यक्त करती है। यदि वैदिक ऋषियो की भाषा स्वच्छन्द तथा परिवर्तनीय होती, यदि उनके विचार स्पष्ट तौर से तरल अवस्था में, अस्थिर और अनियत होते, तव तो हम जो ऐसा कहते है कि उनकी परिभाषाओ में जैसा चाहो वैसा अर्थ कर लेने की सुलभ छूट है तथा असगति है यह वात एव उन के विचारो में हम जो कुछ सम्वन्ध निकालते है, वह सब न्याय्य अथवा सह्य हो सकता था। परन्तु वेदमन्त्र स्वय विल्कुल प्रत्यक्ष ही ठीक इसके विरुद्ध साक्षी देते है। इसलिये हमे यह माग उपस्थित करने का अधिकार है कि व्याख्याकार को अपनी व्याख्या करते हुए वैसी ही सचाई और सतर्कता रखनी चाहिये, जैसे कि उस मूल में रक्खी गयी है जिसकी कि वह व्याख्या करना चाहता है। वैदिक धर्म के विभिन्न विचारो और उसकी अपनी परिभाषाओ में स्पष्ट ही एक अविच्छिन्न सम्वन्ध है। उनकी व्याख्या में यदि असगति और अनिश्चितता होगी, तो उससे केवल यही सिद्ध होगा कि व्याख्याकार ठीक-ठीक सम्वन्ध को पता लगाने मे असफल रहा है, न कि यह कि वेद की प्रत्यक्ष साक्षी भ्रान्तिजनक है।

इस प्रारम्भिक प्रयास को सतर्कता तथा सावधानी के साथ कर चुकने के पश्चात् यदि मन्त्रो के अनुवाद के द्वारा यह दिखाया जा सके कि जो अर्थ हमने निश्चित किये थे वे स्वाभाविकतया और आसानी के साथ किसी भी प्रकरण मे ठीक वैठते है, यदि उन अर्थों को हम ऐसा पायें कि उनसे धुधले दीखनेवाले प्रकरण स्पष्ट हो जाते है और जहा पहिले केवल असगति और अव्यवस्था मालूम होती थी वहा उनसे समझ मे आने योग्य और स्पष्ट-स्पष्ट सगति दीखने लगती है, यदि पूरे-के-पूरे सूक्त इस प्रकार एक स्पष्ट और सुसम्वद्ध अभिप्राय को देने लग जाय और क्रमवद्ध मन्त्र सम्बद्ध विचारो की एक युक्तियुक्त शृखला को दिखाने लगे, और कुल मिलाकर जो परिणाम निकले वह यदि सिद्धातो का एक गम्भीर, सगत तथा पूर्ण समुदाय हो,

तो हमारी कल्पना को यह अधिकार होगा कि वह दूसरी कल्पनाओ के मुकाबले में खडी हो और जहा वे इसके विरोध में जाती हो वहा उन्हे ललकारे या जहा वे इस-के परिणामो से सगति रखती हो वहा उन्हे पूर्ण बनाये। न ही उस अवस्था में हमारी स्थापना की सभवनीयता अपेक्षाकृत कम होगी, बल्कि इसके विपरीत इसकी प्रामाणिकता पुष्ट ही होगी, यदि यह पता लगे कि इस प्रकार वेद में जो विचारो और सिद्धातो का समुदाय प्रकट हुआ है वह उन उत्तरवर्ती भारतीय विचार और धार्मिक अनुभूति का एक अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन रूप है, जो कि स्वभावत वेदान्त और पुराण के जनक हुए हैं।

ऐसा बडा और सूक्ष्म प्रयास इस छोटी-सी और सक्षिप्त लेखमाला के क्षेत्र से बाहर की बात है। इन अध्यायो को लिखने का मेरा प्रयोजन केवल यह है कि उनके लिये जो कि उस सूत्र का अनुकरण करना चाहते है जिसे कि मैंने पाया है, उस मार्ग का और उसमें आनेवाले मुख्य-मुख्य मोडो का दिग्दर्शन कराऊ--उन परिणामो का दिग्दर्शन कराऊ जिनपर कि मैं पहुचा हू और उन मुख्य निर्देशो का जिनके द्वारा कि वेद स्वयमेव उन परिणामो तक पहुचने में हमारी सहायता करता है। और सबसे पहिले, यह मुझे उचित प्रतीत होता है कि, मै यह स्पष्ट कर दू कि यह कल्पना मेरे अपने मन में किस प्रकार उदय हुई, जिससे कि पाठक जिस दिशा को मैंने अपनाया है उसे अधिक अच्छी प्रकार समझ सके, अथवा हो सकता है कि, मेरे कोई पूर्वपक्षपात या मेरी अपनी वैयक्तिक अभिरुचिया हो जिन्होने कि इस कठिन प्रश्न पर होनेवाली युक्ति-शृखला के यथोचित प्रयोग को सीमित कर दिया हो या उसे प्रभावित किया हो तो उसको, यदि पाठक चाहे, निवारण कर सके।

जैसा कि अधिकाश शिक्षित भारतीय करते है, मैंने भी स्वय वेद को पढने से पहले ही बिना परीक्षा किये योरोपियन विद्वानो के परिणामो को कुछ भी प्रति-कार किये बगैर वैसा का वैसा ही स्वीकार कर लिया था, जो परिणाम कि प्राचीन मन्त्रो की धार्मिक दृष्टि तथा ऐतिहासिक व जाति-विज्ञानसम्बन्धी दृष्टि दोनोंके विषय मे थे। इसके फलस्वरूप, फिर आधुनिक रग मे रगे हिन्दू-मत से स्वीकृत सामान्य दिशा का ही अनुसरण करते हुए, मैंने उपनिषदो को ही भारतीय विचार

और धर्म का प्राचीन स्रोत, सच्चा वेद, ज्ञान की आदिपुस्तक समझ लिया था। ऋग्वेद के जो आधुनिक अनुवाद प्राप्त है, केवलमात्र वही सब कुछ था जो कि मैं इस गम्भीर धर्मपुस्तक के विषय में जानता था और इस ऋग्वेद को मैं यही समझता था कि यह हमारे राष्ट्रीय इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण लेखा है, परन्तु विचार के इतिहास के रूप में या एक सजीव आत्मिक अनुभूति के रूप में मुझे इसका मूल्य या इसकी महत्ता बहुत थोडी प्रतीत होती थी।

वैदिक विचार के साथ मेरा प्रथम परिचय अप्रत्यक्ष रूप से उस समय हुआ जब कि मैं भारतीय योग की विधि के अनुसार आत्मविकास की किन्ही दिशाओ में अभ्यास कर रहा था। आत्मविकास की ये दिशाए स्वत ही हमारे पूर्व पितरो से अनुसृत, प्राचीन और अब अनभ्यस्त मार्गों की ओर मेरे अनजाने ही प्रवृत्ति रखती थी। इस समय मेरे मन में प्रतीकरूप नामो की एक शृखला उठनी शुरू हुई, जो प्रतीक कि किन्ही ऐसी आध्यात्मिक अनुभूतियो से सम्बद्ध थे, जो अनुभूतिया नियमित रूप से होनी आरम्भ हो चुकी थी, और उनके बीच में तीन स्त्रीलिंगी शक्तियो इला, सरस्वती, सरमा के प्रतीक आये, जो कि अन्तर्ज्ञानमय बुद्धि की चार शक्तियो में से तीन की—क्रमश स्वत प्रकाश (Revelation), अन्त प्रेरणा (Inspiration) और अन्तर्ज्ञान (Intuition) की द्योतक थी। इन नामो में से दो मुझे इस रूप में सुपरिचित नही थे कि ये वैदिक देवियो के नाम है, बल्कि इससे कही अधिक इनके विपय में मै यह समझता था कि ये प्रचलित हिंदुधर्म या प्राचीन पौराणिक कथानको के साथ सबध रखती है अर्थात् 'सरस्वती' विद्या की देवी है और 'इळा' चन्द्रवश की माता है। परतु तीसरी, 'सरमा' से मैं पर्याप्त रूप से परिचित था। तथापि इसकी जो आकृति मेरे अदर उठी थी, उसमें और स्वर्ग की कुतिया ('सरमा') में मैं कोई सबध निश्चित नही कर सका, जो कि 'सरमा' मेरी स्मृति में आर्गिव हेलन (Argive Helen)* के साथ जुडी हुई थी और केवल उस भौतिक उषा के रूपक की द्योतक थी, जो खोयी हुई प्रकाश की गौओ को खोजते-खोजते

---

*ग्रीक गाथाशास्त्र की एक देवी।

अधकार की शक्तियो की गुफा मे घुस जाती है। एक बार यदि मूलसूत्र मिल जाता, इस बात का सूत्र कि भौतिक प्रकाश मानसिक प्रकाश का निरूपित करता है, तो यह समझ जाना आसान था कि स्वर्ग की कुतिया ('सरमा') अन्तर्ज्ञान हो सकता है, जो कि अवचेतन मन (Subconscious mind) की अधेरी गुफाओ के अदर प्रवेश करता है, ताकि उन गुफाओ मे बद पड़े हुए ज्ञान के चमकीले प्रकाशो को छुटकारा दिलाने की और छूटकर उनके जगमगाने की तैयारी करे। परतु वह सूत्र नही मिला, और मै प्रतीक के किसी सादृश्य के बिना, केवल नाम के सादृश्य को कल्पित करने के लिये वाध्य हुआ।

पहिले-पहल गभीरतापूर्वक मेरे विचार वेद की ओर तब आकृष्ट हुए जब कि मै दक्षिण भारत मे रह रहा था। दो बातो ने जो कि बलात् मेरे मन पर आकर पडी, उत्तरीय आर्य और दक्षिणीय द्रविडियो के बीच जातीय विभाग के मेरे विश्वास पर, जिस विश्वास को मैने दूसरोंसे लिया था, एक भारी आघात पहुचाया। मेरा यह जातीय विभाग का विश्वास पूर्णत निर्भर करता था, उस कल्पित भेद पर जो कि आर्यो तथा द्रविडियो के भौतिक रूपो मे किया गया है, तथा उस अपेक्षाकृत अधिक निश्चित विसवादिता पर जो कि उत्तरीय सस्कृतजन्य तथा दक्षिणीय सस्कृतभिन्न भाषाओ के बीच मे पायी जाती है। मै उन नये मतो से तो अवश्य परिचित था, जिनके अनुसार कि भारत के प्रायद्वीप पर एक ही सवर्णजाति, द्रविड-जाति या भारत-अफगान (Indo-Afghan) जाति, निवास करती है, परतु अबतक मैने इनको कभी अधिक महत्त्व नही दिया था। पर दक्षिण भारत में मुझपर यह छाप पड़ने मे बहुत समय नही लगा कि तामिल जाति मे उत्तरीय या 'आर्यन' रूप विद्यमान है। जिधर भी मै मुडा, एक चकित कर देनेवाली स्पष्टता के साथ मुझे यह प्रतीत हुआ कि मै न केवल ब्राह्मणो मे किंतु सभी जातियो और श्रेणियो में महाराष्ट्र, गुजरात, हिंदुस्थान के अपने मित्रो के उन्ही पुराने परिचित चेहरो, रूपो, आकृतियो को पहिचान रहा हू, बल्कि अपने प्रात बगाल के भी यद्यपि यह बगाल की समानता अपेक्षाकृत कम व्यापक रूप मे फैली हुई थी। जो छाप मुझपर पडी, वह यह थी कि मानो उत्तर की सभी जातियो, उपजातियो की एक सेना दक्षिण में उतरकर आयी हो और आकर जो कोई भी लोग यहा पहिले से बसे

हुए हो, उनमें हिल-मिल गयी हो। दक्षिणीय रूप (Type) की एक सामान्य छाप बची रही, परतु व्यक्तियो की मुखाकृतियो का अध्ययन करते हुए उस रूप को दृढता के साथ स्थापित कर सकना असभव था। और अत मे यह धारणा बनाये विना मैं नही रह सका कि जो कुछ भी सकर हो गये हो, चाहे जो भी प्रादेशिक भेद विकसित हो गये हो, सब विभेदो के पीछे सारे भारत में एक भौतिक –जैसे कि एक सास्कृतिक–रूप (Type)[1] की एकता अवश्य है। शेषत, यह है परिणाम जिसकी ओर पहुचने की स्वय जाति-विज्ञान[2]-सबधी विचार भी बहुत अधिक प्रवृत्ति रखता है।

परतु तो फिर उस तीव्र भेद का क्या होगा, जो कि भाषाविज्ञानियो ने आर्य तथा द्राविड जातियो के बीच में बना रखा है? यह समाप्त हो जाता है। यदि किसी तरह आर्यजाति के आक्रमण को मान ही लिया जाय, तो हमें या तो यह मानना होगा कि इसने भारत को आर्यो से भर दिया और इस तरह बहुत थोडे-से अन्य परिवर्तनो के साथ इसीने यहा के लोगो के भौतिक रूप को निश्चित किया, अथवा यह मानना पडेगा कि एक कम सभ्य जाति के छोटे-छोटे दल ही यहा आ घुसे थे, जो कि बदलकर धीरे-धीरे आदिम निवासियो जैसे हो गये। तो फिर आगे हमें यह कल्पना करनी पडती है कि, ऐसे विशाल प्रायद्वीप में आकर भी जहा कि सभ्य

---

[1]मैंने यह पसद किया है कि यहा जाति (Race) शब्द का प्रयोग न करू क्योकि जाति एक ऐसी चीज है जो जैसा कि इसके विषय में साधारणतया समझा जाता है उसकी अपेक्षा बहुत अधिक अस्पष्ट है और इसका निश्चय करना बहुत कठिन है। 'जाति' के विषय में सोचते हुए सर्वसाधारण मन में जो तीव्र भेद प्रचलित हैं, वे यहा कुछ भी प्रयोजन के नही हैं।

[2]यह, यह मानकर कहा है कि जातिविज्ञानसबधी कल्पनाए सर्वथा किसी प्रमाण पर आश्रित हैं। पर जातिविज्ञान का एकमात्र दृढ आधार यह मत है कि मनुष्य का कपाल वशपरम्परा से अपरिवर्तनीय है जिस मत को कि अब ललकारा जाने लगा है। यदि यह असिद्ध हो जाता है तो इसके साथ यह सारा-का-सारा विज्ञान ही असिद्ध हो जाता है।

लोग रहते थे, जो कि वडे-वडे नगरो को वनानेवाले थे, दूर-दूर तक व्यापार करनेवाले थे, जो मानसिक तथा आत्मिक सस्कृति से भी शून्य नही थे, उनपर वे आक्रान्ता अपनी भाषा, धर्म, विचारो और रीतिरिवाजो को थोप देने मे समर्थ हो सके। ऐसा कोई चमत्कार तभी सभव हो सकता था, यदि आक्रान्ताओ की वहुत ही अधिक सगठित अपनी भाषा होती, रचनात्मक मन की अधिक वडी शक्ति होती और अपेक्षया अधिक प्रवल धार्मिक विधि और भावना होती।

और दो जातियो के मिलाने की कल्पना को पुष्ट करने के लिये भाषा के भेद की वात तो सदा विद्यमान थी ही। परतु इस विषय में भी मेरे पहिले के वने हुए विचार गडवड और भ्रात निकले। क्योकि तामिल शब्दो की परीक्षा करने पर, जो कि यद्यपि देखने में सस्कृत के रूप और ढग से वहुत अधिक भिन्न प्रतीत होते थे, मैंने यह पाया कि वे शब्द या शब्द-परिवार जो कि विशुद्ध रूप मे तामिल ही समझे जाते थे, सस्कृत तथा इसकी दूरवर्ती वहिन लैटिन के वीच मे और कभी-कभी ग्रीक तथा सस्कृत के वीच में नये सवधो की स्थापना करने में मेरा पथप्रदर्शन करते थे। कभी-कभी तामिल शब्द न केवल शब्दो के परस्पर सवध का पता देते थे, वल्कि सवद्ध शब्दो के परिवार में किसी ऐसी कडी को भी सिद्ध कर देते थे जो कि मिल नही रही होती थी। और इस द्राविड भाषा के द्वारा ही मुझे पहिले-पहल आर्यन भाषाओ के नियम का जो कि मुझे अव सत्य नियम प्रतीत होता है, आर्यन भाषाओ के उत्पत्ति-वीजो का, या यो कहना चाहिये कि, मानो इनकी गर्भविद्या का पता मिला था। मैं अपनी जाच को पर्याप्त दूर तक नही ले जा सका जिससे कि कोई निश्चित परिणाम स्थापित कर सकता, परतु यह मुझे निश्चित रूप से प्रतीत होता है कि द्राविड और आर्यन भाषाओ के वीच में मौलिक सवध उसकी अपेक्षा कही अधिक घनिष्ठ और विस्तृत था, जितना कि प्राय माना जाता है और सभावना तो यह प्रतीत होती है कि वे एक ही लुप्त आदिम भाषा से निकले हुए दो विभिन्न परिवार हो। यदि ऐसा हो, तो द्राविड भारत मे आर्यन आक्रमण होने के विषय में एकमात्र अवशिष्ट साक्षी यही रह जाती है कि वैदिक सूक्तो में इसके निर्देश पाये जाते हों।

इसलिये मेरी दोहरी दिलचस्पी थी, जिससे कि प्रेरित होकर मैंने पहिले-पहल

मूल वेद को अपने हाथ में लिया, यद्यपि उस समय मेरा कोई ऐसा इरादा नही था कि मैं वेद का सूक्ष्म या गभीर अध्ययन करूगा। मुझे यह देखने में अधिक समय नही लगा कि वेद में कहे जानेवाले आर्यों और दस्युओ के बीच मे जातीय विभाग-सूचक निर्देश तथा यह बतानेवाले निर्देश कि दस्यु और आदिम भारतनिवासी एक ही थे, जितनी कि मैने कल्पना की हुई थी, उससे भी कही अधिक नि सार है। परतु इससे भी अधिक दिलचस्पी का विषय मेरे लिये यह था कि इन प्राचीन सूक्तो के अदर उपेक्षित पडे हुए जो गभीर आध्यात्मिक विचारो का बडा भारी समुदाय है और जो अनुभूति है, उसका पता लगना। और इस अग की महत्ता तब मेरी दृष्टि में और भी बढ गयी जब कि पहिले तो, मैने यह देखा कि वेद के मत्र एक स्पष्ट और ठीक प्रकाश के साथ मेरी अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियो को प्रकाशित करते है, जिनके लिये कि न तो योरोपियन अध्यात्म-विज्ञान में, न ही योग की या वेदांत की शिक्षाओ में जहातक मै इनसे परिचित था, मुझे कोई पर्याप्त स्पष्टीकरण मिलता था। और दूसरे यह कि वे उपनिषदो के उन धुधले सदर्भों और विचारो पर प्रकाश डालते थे जिनका कि पहिले मै कोई ठीक-ठीक अर्थ नही कर पाता था, और इसके साथ ही इनसे पुराणो के भी बहुत से भाग का एक नया अभिप्राय पता लगता था।

इस परिणाम पर पहुचने में, सौभाग्यवश मैने जो सायण के भाष्य को पहिले नही पढा था, उसने मेरी बहुत मदद की। क्योकि मै स्वतन्त्र था कि वेद के बहुत से सामान्य और बार-बार आनेवाले शब्दो को उनका जो स्वाभाविक आध्यात्मिक अर्थ है वह उन्हें दे सकू, जैसे कि 'धी' का अर्थ विचार या समझ, 'मनस्' का अर्थ मन, 'मति' का अर्थ विचार, अनुभव या मानसिक अवस्था, 'मनीषा' का अर्थ बुद्धि, 'ऋतम्' का अर्थ सत्य, और मै स्वतन्त्र था कि शब्दो को उनके अर्थ की वास्तविक प्रतिच्छाया दे सकू, 'कवि' को द्रष्टा की, 'मनीषी' को विचारक की, 'विप्र विपश्चित्' को प्रकाशित-मनस्क की, इसी प्रकार के और भी कई शब्दो को, और मै स्वतन्त्र था कि ऐसे शब्दो का एक आध्यात्मिक अर्थ–जिसे कि मेरे अधिक व्यापक अध्ययन ने भी युक्तियुक्त ही प्रमाणित किया था–प्रस्तुत करने का साहस करू जैसे कि 'दक्ष' का जिसका कि सायण के अनुसार 'बल' अर्थ

है और 'श्रवस्' का जिसका सायण ने धन, दौलत, अन्न या कीर्ति यह अर्थ किया है। वेद के विषय में आध्यात्मिक अर्थ का सिद्धान्त इन शब्दो का स्वाभाविक अर्थ ही स्वीकार करने के हमारे अधिकार पर आधार रखता है।

सायण ने 'धी' 'ऋतम्' आदि शब्दो के बहुत ही परिवर्तनशील अर्थ किये है। 'ऋतम्' शब्द का, जिसे कि हम मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक व्याख्या की लगभग कुञ्जी कह सकते है, सायण ने कभी कभी 'सत्य', अधिकतर 'यज्ञ' और किसी-किसी जगह 'जल' अर्थ किया है। आध्यात्मिक व्याख्या के अनुसार निश्चित रूप से इसका अर्थ सत्य होता है। 'धी' के सायण ने 'विचार', 'स्तुति', 'कर्म', 'भोजन' आदि अनेक अर्थ किये है। आध्यात्मिक व्याख्या के अनुसार नियत रूप से इसका अर्थ विचार या समझ है। और यही बात वेद की अन्य नियत सज्ञाओ के सम्बन्ध में है। इसके अतिरिक्त, सायण की प्रवृत्ति यह है कि वह शब्दो के अर्थों की छायाओ को और उनमे जो सूक्ष्म अन्तर होता है उसे बिल्कुल मिटा देता है और उनका अधिक-से-अधिक स्थूल जो सामान्य अर्थ होता है वही कर देता है। सारे-के-सारे विशेषण जो कि किसी मानसिक क्रिया के द्योतक है, उसके लिये एकमात्र 'बुद्धि' अर्थ को देते है, सारे-के-सारे शब्द जो कि शक्ति के विभिन्न विचारो के सूचक है—और वेद उनसे भरा पडा है—बल के स्थूल अर्थ में परिणत कर दिये गये है। इसके विपरीत, वेदाध्ययन से मुझपर तो इस बात की छाप पडी कि वेद के अर्थो की ठीक-ठीक छाया को नियत करने तथा उन्हे सुरक्षित रखने की और विभिन्न शब्दो के अपने ठीक-ठीक सहचारी सम्बन्ध क्या है उन्हें निश्चित करने की बडी भारी महत्ता है, चाहे वे शब्द अपने सामान्य अभिप्राय में परस्पर कितना ही निकट सम्बन्ध क्यो न रखते हो। सचमुच, मै नही समझ पाता कि हमे यह क्यो कल्पना कर लेनी चाहिये कि वैदिक ऋषि, काव्यात्मक शैली में सिद्धहस्त अन्य रचयिताओ के विसदृश, शब्दो को अव्यवस्थित रूप से और अविवेकपूर्णता के साथ प्रयुक्त करते थे, उनके ठीक-ठीक सहचारी सम्बन्धो को बिना अनुभव किये ही और शब्दो की शृखला मे उन्हे उनका ठीक-ठीक और यथोचित बल बिना प्रदान किये ही।

इस नियम का अनुसरण करते-करते मैंने पाया कि शब्दो और वाक्य-खण्डो

के सरल, स्वाभाविक और सीधे अभिप्राय को बिना छोडे ही, न केवल पृथक्-पृथक् ऋचाओ का बल्कि सम्पूर्ण सन्दर्भों का एक असाधारण विशाल समुदाय तुरन्त ही बुद्धिगोचर हो गया, जिसने कि पूर्ण रूप से वेद के सारे स्वरूप को ही बदल दिया। क्योकि तब यह धर्म-पुस्तक वेद ऐसी प्रतीत होने लग गयी कि यह अत्यन्त बहुमूल्य विचार-रूपी सुवर्ण की एक स्थिर रेखा को अपने अन्दर रखती है और आध्यात्मिक अनुभूति इसके अश अश में चमकती हुई प्रवाहित हो रही है, जो कि कही छोटी छोटी रेखाओ में, कही बडे बडे समूहो में, इसके अधिकाश सूक्तो मे दिखायी देती है। साथ ही, उन शब्दो के अतिरिक्त जो कि अपने स्पष्ट और सामान्य अर्थ से तुरन्त ही अपने प्रकरणो को आध्यात्मिक अर्थ की सुवर्णीय रगन दे देते है, वेद अन्य भी ऐसे बहुत से शब्दो से भरा पडा है जिनके लिये यह सम्भव है कि, वेद के सामान्य अभिप्राय के विषय में हमारी जो भी धारणा हो उसीके अनुसार, चाहे तो उन्हे बाह्य और प्रकृतिवादी अर्थ दिया जा सके, चाहे एक आभ्यन्तर और आध्यात्मिक अर्थ। उदाहरणार्थ, इस प्रकार के शब्द जैसे कि **राये, रयि, राधस्, रत्न** केवलमात्र भौतिक समृद्धि या धनदौलत के वाचक भी हो सकते है और आन्तरिक ऐश्वर्य तथा समृद्धि के भी। क्योकि वे मानसिक जगत् और बाह्य जगत् दोनो के लिये एक से प्रयुक्त हो सकते है। **धन, वाज, पोष** का अर्थ बाह्य धनदौलत, समृद्धि और पुष्टि भी हो सकता है अथवा सभी प्रकार की सम्पत्तियाँ चाहे वे आन्तरिक हो चाहे बाह्य, व्यक्ति के जीवन में उनका बाहुल्य और उनकी वृद्धि। उपनिषद् मे ऋग्वेद के एक उद्धरण की व्याख्या करते हुए 'राये' को आध्यात्मिक सम्पत्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया है, तो फिर मूल वेद मे इसका यह अर्थ क्यो नही हो सकता ? 'वाज' बहुधा ऐसे सन्दर्भ में आता है जिसमें कि अन्य प्रत्येक शब्द आध्यात्मिक अभिप्राय रखता है, जहा कि भौतिक समृद्धि का उल्लेख समस्त एकरस विचार के अन्दर असगति का एक तीव्र बेसुरापन लादेगा। इसलिये, सामान्य बुद्धि की माग है कि वेद में इन शब्दो के प्रयोग को आध्यात्मिक अभिप्राय देनेवाला ही स्वीकार करना चाहिये।

परन्तु यदि यह सगतिपूर्वक किया जा सके, तो इससे न केवल सम्पूर्ण ऋचाए और सदर्भ, बल्कि सारे-के-सारे सूक्त तुरन्त आध्यात्मिक रगत से रग जाते है।

है और 'श्रवस्' का जिसका सायण ने धन, दौलत, अन्न या कीर्ति यह अर्थ किया है। वेद के विषय में आध्यात्मिक अर्थ का सिद्धान्त इन शब्दों का स्वाभाविक अर्थ ही स्वीकार करने के हमारे अधिकार पर आधार रखता है।

सायण ने 'धी' 'ऋतम्' आदि शब्दों के बहुत ही परिवर्तनशील अर्थ किये हैं। 'ऋतम्' शब्द का, जिसे कि हम मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक व्याख्या की लगभग कुञ्जी कह सकते है, सायण ने कभी कभी 'सत्य', अधिकतर 'यज्ञ' और किसी-किसी जगह 'जल' अर्थ किया है। आध्यात्मिक व्याख्या के अनुसार निश्चित रूप से इसका अर्थ सत्य होता है। 'धी' के सायण ने 'विचार', 'स्तुति', 'कर्म', 'भोजन' आदि अनेक अर्थ किये है। आध्यात्मिक व्याख्या के अनुसार नियत रूप से इसका अर्थ विचार या समझ है। और यही बात वेद की अन्य नियत संज्ञाओं के सम्बन्ध में है। इसके अतिरिक्त, सायण की प्रवृत्ति यह है कि वह शब्दों के अर्थों की छायाओं को और उनमें जो सूक्ष्म अन्तर होता है उसे बिल्कुल मिटा देना है और उनका अधिक-से-अधिक स्थूल जो सामान्य अर्थ होता है वही कर देता है। सारे-के-सारे विशेषण जो कि किसी मानसिक क्रिया के द्योतक है, उसके लिये एकमात्र 'बुद्धि' अर्थ को देते है, सारे-के-सारे शब्द जो कि शक्ति के विभिन्न विचारों के सूचक है—और वेद उनसे भरा पड़ा है—बल के स्थूल अर्थ में परिणत कर दिये गये है। इसके विपरीत, वेदाध्ययन से मुझपर तो इस बात की छाप पड़ी कि वेद के अर्थों की ठीक-ठीक छाया को नियत करने तथा उन्हें सुरक्षित रखने की और विभिन्न शब्दों के अपने ठीक-ठीक सहचारी सम्बन्ध क्या है उन्हें निश्चित करने की बड़ी भारी महत्ता है, चाहे वे शब्द अपने सामान्य अभिप्राय में परस्पर कितना ही निकट सम्बन्ध क्यों न रखते हों। सचमुच, मैं नही समझ पाता कि हमें यह क्यों कल्पना कर लेनी चाहिये कि वैदिक ऋषि, काव्यात्मक शैली मे सिद्धहस्त अन्य रचयिताओं के विसदृश, शब्दों को अव्यवस्थित रूप से और अविवेकपूर्णता के साथ प्रयुक्त करते थे, उनके ठीक-ठीक सहचारी सम्बन्धों को बिना अनुभव किये ही और शब्दों की शृंखला मे उन्हें उनका ठीक-ठीक और यथोचित बल बिना प्रदान किये ही।

इस नियम का अनुसरण करते-करते मैंने पाया कि शब्दों और वाक्य-खण्डों

के सरल, स्वाभाविक और सीधे अभिप्राय को विना छोडे ही, न केवल पृथक्-पृथक् ऋचाओ का वल्कि सम्पूर्ण सन्दर्भों का एक असाधारण विशाल समुदाय तुरन्त ही वुद्धिगोचर हो गया, जिसने कि पूर्ण रूप से वेद के सारे स्वरूप को ही वदल दिया। क्योकि तव यह धर्म-पुस्तक वेद ऐसी प्रतीत होने लग गयी कि यह अत्यन्त वहुमूल्य विचार-रूपी सुवर्ण की एक स्थिर रेखा को अपने अन्दर रखती है और आध्यात्मिक अनुभूति इसके अग अग में चमकती हुई प्रवाहित हो रही है, जो कि कहीं छोटी छोटी रेखाओ में, कही वडे वडे समूहो में, इसके अधिकाश सूक्तो मे दिखायी देती है। साथ ही, उन शब्दो के अतिरिक्त जो कि अपने स्पष्ट और सामान्य अर्थ से तुरन्त ही अपने प्रकरणो को आध्यात्मिक अर्थ की सुवर्णीय रगत दे देते है, वेद अन्य भी ऐसे वहुत से शब्दो से भरा पडा है जिनके लिये यह सम्भव है कि, वेद के सामान्य अभिप्राय के विषय में हमारी जो भी धारणा हो उसीके अनुसार, चाहे तो उन्हे वाह्य और प्रकृतिवादी अर्थ दिया जा सके, चाहे एक आभ्यन्तर और आध्यात्मिक अर्थ। उदाहरणार्थ, इस प्रकार के शब्द जैसे कि **राये, रयि, राधस्, रत्न** केवलमात्र भौतिक समृद्धि या धनदौलत के वाचक भी हो सकते है और आन्तरिक ऐश्वर्य तथा समृद्धि के भी। क्योकि वे मानसिक जगत् और वाह्य जगत् दोनो के लिये एक से प्रयुक्त हो सकते है। **धन, वाज, पोष** का अर्थ वाह्य धनदौलत, समृद्धि और पुष्टि भी हो सकता है अथवा सभी प्रकार की सम्पत्तियाँ चाहे वे आन्तरिक हो चाहे वाह्य, व्यक्ति के जीवन में उनका वाहुल्य और उनकी वृद्धि। उपनिषद् में ऋग्वेद के एक उद्धरण की व्याख्या करते हुए 'राये' को आध्यात्मिक सम्पत्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया है, तो फिर मूल वेद मे इसका यह अर्थ क्यो नही हो सकता ? 'वाज' वहुधा ऐसे सन्दर्भ मे आता है जिसमें कि अन्य प्रत्येक शब्द आध्यात्मिक अभिप्राय रखता है, जहा कि भौतिक समृद्धि का उल्लेख समस्त एकरस विचार के अन्दर असगति का एक तीव्र वेसुरापन ला देगा। इसलिये, सामान्य वुद्धि की माग है कि वेद में इन शब्दो के प्रयोग को आध्यात्मिक अभिप्राय देनेवाला ही स्वीकार करना चाहिये।

परन्तु यदि यह सगतिपूर्वक किया जा सके, तो इससे न केवल सम्पूर्ण ऋचाए और सदर्भ, वल्कि सारे-के-सारे सूक्त तुरन्त आध्यात्मिक रगत से रग जाते है।

एक शर्त पर वेदो का यह आध्यात्मिक रग में रगा जाना प्राय पूर्ण होगा, एक भी शब्द या एक भी वाक्यखण्ड इससे प्रभावित हुए विना नही बचेगा, वह शर्त यह है कि हमें वैदिक 'यज्ञ' को प्रतीकरूप में स्वीकार करना चाहिये। गीता में हम पाते है कि 'यज्ञ' का प्रयोग उन सभी कर्मों के प्रतीक के रूप मे किया गया है, चाहे वे आन्तर हो चाहे बाह्य, जो देवो को या ब्रह्म को समर्पित किये जाते है। इस शब्द का यह प्रतीकात्मक प्रयोग क्या उत्तरकालीन दार्शनिक बुद्धि का पैदा किया हुआ है, अथवा यह यज्ञ के वैदिक विचार मे पहिले से अन्तर्निहित था ? मैंने देखा कि स्वय वेद में ही ऐसे सूक्त हैं जिनमें कि 'यज्ञ' का अथवा बलि का विचार खुले तौर पर प्रतीकात्मक है, और दूसरे कुछ सूक्तो में यह प्रतीकात्मकता अपने ऊपर पड़े आवरण में से स्पष्ट दिखायी देती है। तब यह प्रश्न उठा कि क्या ये बाद की रचनाए थी जो कि पुराने अन्धविश्वासपूर्ण विधि-विधानो में से एक प्रारम्भिक प्रतीकवाद को विकसित करती थी अथवा इसके विपरीत यह अवसर पाकर कही-कही किया गया स्पष्टतर कथन था, उस अर्थ का जो कि अधिकाश सूक्तो मे कम-अधिक सावधानी के साथ अलकार के पर्दे मे ढका हुआ रखा है। यदि वेद में आध्यात्मिक सदर्भ सतत रूप से न पाये जाते तो निस्सदेह पहिले स्पष्टीकरण को ही स्वीकार किया जाता। परन्तु इसके विपरीत, सारे सूक्त स्वभावत एक आध्यात्मिक अर्थ को लिये हुए है जिनमे कि एक-से-दूसरे मन्त्र मे एक पूर्ण और प्रकाशमय सगति है, अस्पष्टता केवल वहा आती है जहा कि यज्ञ का उल्लेख है या हवि का अथवा कहीं-कही यज्ञ-सचालक पुरोहित का, जो कि या तो मनुष्य हो सकता था या देवता। यदि इन शब्दो को प्रतीक मानकर व्याख्या की जाती थी तो मैं हमेशा यह देखता था कि विचार की शृखला अधिक पूर्ण, अधिक प्रकाशमय, अधिक सगत हो जाती है और पूरे-के-पूरे सूक्त का आशय उज्ज्वल रूप से पूर्ण हो जाता है। इसलिये स्वस्थ समालोचना के प्रत्येक नियम के द्वारा मैंने इसे न्यायोचित अनुभव किया कि मैं अपनी कल्पना के अनुसार आगे चलता चलू और इसमें वैदिक यज्ञ के प्रतीकात्मक अभिप्राय को भी सम्मिलित कर दू।

तो भी यही पर आध्यात्मिक व्याख्या की सर्वप्रथम वास्तविक कठिनाई आकर उपस्थित हो जाती है। अबतक तो मैं एक पूर्ण रूप से सीधी और स्वाभाविक

व्याख्यापद्धति से चल रहा था जो कि शब्दो और वाक्यो के ऊपरी अर्थ पर निर्भर थी। पर अब मैं एक ऐसे तत्त्व पर आ गया जिसमें कि, एक दृष्टि से ऊपरी अर्थ को अतिक्रमण कर जाना पडता था, और यह ऐसी पद्धति थी जिसमें कि प्रत्येक समालोचक और बिल्कुल निर्दोषता चाहनेवाला मन अवश्य अपने-आपको निरन्तर सन्देहो से आक्रान्त पावेगा। न ही कोई, चाहें वह कितनी भी सावधानी रक्खे, इस तरह सदा इस बात में निश्चित हो सकता है कि उसने ठीक सूत्र को ही पकडा है और उसे ठीक व्याख्या ही सूझी है।

वैदिक यज्ञ के अन्तर्गत--एक क्षण के लिये देवता और मन्त्र को छोड दें तो—तीन अग है, हवि देनेवाले, हवि और हवि के फल। यदि 'यज्ञ' एक कर्म है जो कि देवताओ को समर्पित किया जाता है तो 'यजमान' को, हवि देनेवाले को मैं यह समझे विना नही रह सकता कि वह उस कर्म का कर्ता है। 'यज्ञ' का अभिप्राय है कर्म, वे कर्म आन्तरिक हो या वाह्य, इसलिये 'यजमान' होना चाहिये आत्मा अथवा वह व्यक्तित्व जो कि कर्त्ता है। परतु साथ ही यज्ञ-सचालक, पुरोहित भी होते थे, होता, ऋत्विज्, पुरोहित, ब्रह्मा, अध्वर्यु आदि। इस प्रतीकवाद में उनका कौनसा भाग था ? क्योकि एक वार यदि यज्ञ के लियें हम प्रतीकात्मक अभिप्राय की कल्पना कर लेते है तो इस यज्ञ-विधि के प्रत्येक अग का हमें प्रतीकात्मक मूल्य कल्पित करना चाहिये। मैंने पाया कि देवताओ के विषय मे सतत रूप से यह कहा गया है कि वे यज्ञ के पुरोहित है और वहुत से सदर्भों में तो प्रकट रूप से यह एक अमानुषी सत्ता या शक्ति है जो कि यज्ञ का अधिष्ठान करती है। मैंने यह भी देखा कि सारे वेद में हमारे व्यक्तित्व को वनानेवाले तत्त्व स्वय सतत रूप से सजीव शरीरधारी मानकर वर्णन किये गये है। मुझे इस नियम को केवल अभ्यास से प्रयुक्त करना था और यह कल्पना करनी थी कि वाह्य अलकार में जो पुरोहित का व्यक्ति है वह आभ्यतर क्रियाओ मे आलकारिक रूप से एक अमानुषी सत्ता या शक्ति को अथवा हमारे व्यक्तित्व के किसी तत्त्व को सूचित करता है। फिर अवशिष्ट रह गया पुरोहितसवधी भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये आध्यात्मिक अभिप्राय नियत करना। यहा मैंने पाया कि वेद स्वय अपने भाषासंबंधी निर्देशों और दृढ उक्तियो के द्वारा मूलसूत्र को पकडा रहा है, जैसे कि 'पुरोहित यज्ञ का प्रति-

निधि के भाव के साथ अपने असमस्त रूप में, पुरो-हित "आगे रखा हुआ" इस अर्थ में प्रयुक्त होना और प्राय इससे अग्निदेवता का सकेत किया जाना, जो अग्नि कि मानवता में उस दिव्य सकल्प या दिव्य शक्ति का प्रतीक है जो यज्ञरूप मे किये जानेवाले सब पवित्र कर्मो में क्रिया को ग्रहण करनेवाला होता है।

हवियो को समझ सकना और भी अधिक कठिन था। चाहे सोम-सुरा भी जिन प्रकरणो में इसका वर्णन है उनके द्वारा, अपने वर्णित उपयोग और प्रभाव के द्वारा और अपने पर्यायवाची शब्दो से मिलनेवाले भाषा-विज्ञानसबधी निर्देश के द्वारा स्वय अपनी व्याख्या कर सकती थी, पर यज्ञ के घी, 'घृतम्' का क्या अभिप्राय लिया जाना सभव था ? और तो भी वेद मे यह शब्द जिस रूप में प्रयुक्त हुआ है वह इसीपर बल देता था कि इसकी प्रतीकात्मक व्याख्या ही होनी चाहिये। उदाहरणार्थ, अतरिक्ष मे बूदरूप मे गिरनेवाले घृत का या इन्द्र के घोडो में से क्षरित होनेवाले अथवा मन से क्षरित होनेवाले घृत का क्या अर्थ हो सकता था ? स्पष्ट ही एक बिलकुल असगत और व्यर्थ की बात होती, यदि घी अर्थ को देनेवाले 'घृत' शब्द का इसके अतिरिक्त कोई और अभिप्राय होता कि यह किसी बात के लिये एक ऐसा प्रतीक है जिसका कि प्रयोग बहुत शिथिलता के साथ किया गया है, यहातक कि विचारक को बहुधा अपने मन में इसके बाह्य अर्थ को सर्वांश में या आशिक रूप से अलग रख देना चाहिये। नि सदेह यह भी सभव था कि आसानी के साथ इन शब्दो के अर्थ को प्रसगानुसार बदल दिया जाय, 'घृत' को कही घी और कहीं पानी के अर्थ में ले लिया जाय तथा 'मनस्' का अर्थ कही मन और कही अन्न या अपूप कर लिया जाय। परतु मुझे पता लगा कि 'घृत' सतत रूप से विचार या मन के साथ प्रयुक्त हुआ है, कि वेद में 'द्यौ' मन का प्रतीक है, कि 'इन्द्र' प्रकाशयुक्त मनोवृत्ति का प्रतिनिधि है और उसके दो घोडे उस मनोवृत्ति की द्विविध शक्तिया है और मैंने यहातक देखा कि वेद कही-कही साफ तौर से बुद्धि (धिषणा) की शोधित घृत के रूप में देवों के लिये हवि देने को कहता है, 'घृत न पूत धिषणा' (३-२-१)। 'घृत' शब्द की भाषाविज्ञान की दृष्टि से जो व्याख्याए की जाती हैं, उनमें भी इसका एक अर्थ अत्यधिक या उष्ण चमक है। इन सब निर्देशो की अनुकूलता के आधार पर ही मैंने अनुभव किया कि 'घृत' के प्रतीक को यदि मै कोई

आध्यात्मिक व्याख्या करता हू, तो मै ठीक रास्ते पर हू। और इसी नियम तथा इसी प्रणाली को मैने यज्ञ के दूसरे अगो में भी प्रयुक्त करने योग्य पाया।

हवि के फल देखने में विशुद्ध रूप से भौतिक प्रतीत होते थे—गौए, घोडे, सोना, अपत्य, मनुष्य, शारीरिक वल, युद्ध में विजय। यहा कठिनाई और भी दुस्तर हो गयी। पर यह मुझे पहले ही दीख चुका था कि वेद का 'गौ' वहुत ही पहेलीदार प्राणी है, यह किसी पार्थिव गोशाला से नही आया है। 'गो' शव्द के दोनो अर्थ है, गाय और प्रकाश और कुछ एक सदर्भो में तो, चाहे हम गाय के अर्थ को अपने सामने रखें भी, तो भी स्पष्ट ही इसका अर्थ प्रकाश ही होता था। यह पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है, जव कि हम सूर्य की गौओ—होमर (Homer) कवि की हीलियस की गौओ—और उषा की गौओ पर विचार करते है। आध्यात्मिक रूप में, भौतिकप्रकाश ज्ञान के—विशेषकर दिव्य ज्ञान के—प्रतीक के रूप में अच्छी तरह प्रयुक्त किया जा सकता है। परतु यह तो केवल सभावनामात्र थी, इसकी परीक्षा और प्रमाण से स्थापना कैसे होती ? मैंने पाया कि ऐसे सदर्भ आते हैं, जिनमें कि आसपास का सारा ही प्रकरण अध्यात्मपरक है और केवल 'गौ' का प्रतीक ही है जो कि अपने अडियल भौतिक अर्थ के साथ वीच में आकर वाधा डालता है। इन्द्र का आह्वान सुन्दर (पूर्ण) रूपो के निर्माता 'सुरूपकृत्नु' के तौर पर किया गया है कि वह आकर सोमरस को पिये, उसे पीकर वह आनन्द में भर जाता है और गौओ को देनेवाला (गोदा) हो जाता है, तव हम उसके समीपतम या चरम सुविचारो को प्राप्त कर सकते है, तव हम उससे प्रश्न करते है और उसका स्पष्ट विवेक हमें हमारे सर्वोच्च कल्याण को प्राप्त कराता है*। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के सदर्भो में गौए भौतिक गाये नही हो सकती, नाही 'भौतिक प्रकाश को देनेवाला' यह अर्थ प्रकरण मे किसी अभिप्राय को लाता है। कम-से-कम एक उदाहरण मेरे सामने ऐसा आया जिसने मेरे मन में यह निश्चित रूप से स्थापित कर दिया कि वहा वैदिक गौ आध्यात्मिक प्रतीक ही है। तव मैंने इसे उन दूसरे सदर्भो मे प्रयुक्त किया जहा कि 'गो' शव्द आता था और सर्वदा मैंने यही पाया कि

---

*यह ऋक् मडल १ सूक्त ४ के आधार पर है। —अनुवादक।

निधि के भाव के साथ अपने असमस्त रूप में, पुरो-हित "आगे रखा हुआ" उस अर्थ मे प्रयुक्त होना और प्राय इससे अग्निदेवता का सकेत किया जाना, जो अग्नि कि मानवता मे उस दिव्य सकल्प या दिव्य शक्ति का प्रतीक है जो यज्ञरूप मे किये जानेवाले सब पवित्र कर्मों में क्रिया को ग्रहण करनेवाला होता है।

हवियो को समझ सकना और भी अधिक कठिन था। चाहे सोम-सुरा भी जिन प्रकरणो में इसका वर्णन है उनके द्वारा, अपने वर्णित उपयोग और प्रभाव के द्वारा और अपने पर्यायवाची शब्दो से मिलनेवाले भाषा-विज्ञानसबधी निर्देश के द्वारा स्वय अपनी व्याख्या कर सकती थी, पर यज्ञ के घी, 'घृतम्' का क्या अभि-प्राय लिया जाना सभव था ? और तो भी वेद मे यह शब्द जिस रूप में प्रयुक्त हुआ है वह इसीपर बल देता था कि इसकी प्रतीकात्मक व्याख्या ही होनी चाहिये। उदाहरणार्थ, अतरिक्ष से बूदरूप में गिरनेवाले घृत का या इन्द्र के घोडो मे से क्षरित होनेवाले अथवा मन से क्षरित होनेवाले घृत का क्या अर्थ हो सकता था ? स्पष्ट ही एक बिलकुल असगत और व्यर्थ की बात होती, यदि घी अर्थ को देनेवाले 'घृत' शब्द का इसके अतिरिक्त कोई और अभिप्राय होता कि यह किसी बात के लिये एक ऐसा प्रतीक है जिसका कि प्रयोग बहुत शिथिलता के साथ किया गया है, यहातक कि विचारक को बहुधा अपने मन में इसके बाह्य अर्थ को सर्वांश मे या आशिक रूप से अलग रख देना चाहिये। नि सदेह यह भी सभव था कि आसानी के साथ इन शब्दो के अर्थ को प्रसगानुसार बदल दिया जाय, 'घृत' को कही घी और कही पानी के अर्थ में ले लिया जाय तथा 'मनस्' का अर्थ कही मन और कही अन्न या अपूप कर लिया जाय। परतु मुझे पता लगा कि 'घृत' सतत रूप से विचार या मन के साथ प्रयुक्त हुआ है, कि वेद में 'द्यौ' मन का प्रतीक है, कि 'इन्द्र' प्रकाशयुक्त मनोवृत्ति का प्रतिनिधि है और उसके दो घोडे उस मनोवृत्ति की द्विविध शक्तिया है और मैंने यहातक देखा कि वेद कही-कही साफ तौर से बुद्धि (धिषणा) की शोधित घृत के रूप में देवो के लिये हवि देने को कहता है, 'घृत न पूत धिषणा' (३-२-१)। 'घृत' शब्द की भाषाविज्ञान की दृष्टि से जो व्याख्याए की जाती है, उनमें भी इसका एक अर्थ अत्यधिक या उष्ण चमक है। इन सब निर्देशो की अनुकूलता के आधार पर ही मैंने अनुभव किया कि 'घृत' के प्रतीक की यदि मै कोई

आध्यात्मिक व्याख्या करता हू, तो मै ठीक रास्ते पर हू। और इसी नियम तथा इसी प्रणाली को मैने यज्ञ के दूसरे अगो में भी प्रयुक्त करने योग्य पाया।

हवि के फल देखने में विशुद्ध रूप से भौतिक प्रतीत होते थे—गौए, घोडे, सोना, अपत्य, मनुष्य, शारीरिक वल, युद्ध में विजय। यहा कठिनाई और भी दुस्तर हो गयी। पर यह मुझे पहले ही दीख चुका था कि वेद का 'गौ' वहुत ही पहेली-दार प्राणी है, यह किसी पार्थिव गोशाला से नही आया है। 'गो' शब्द के दोनो अर्थ है, गाय और प्रकाश और कुछ एक सदर्भो में तो, चाहे हम गाय के अर्थ को अपने सामने रखें भी, तो भी स्पष्ट ही इसका अर्थ प्रकाश ही होता था। यह पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है, जव कि हम सूर्य की गौओ—होमर (Homer) कवि की हीलियस की गौओ—और उषा की गौओ पर विचार करते है। आध्यात्मिक रूप मे, भौतिकप्रकाश ज्ञान के—विशेषकर दिव्य ज्ञान के—प्रतीक के रूप में अच्छी तरह प्रयुक्त किया जा सकता है। परतु यह तो केवल सभावनामात्र थी, इसकी परीक्षा और प्रमाण से स्थापना कैसे होती ? मैने पाया कि ऐसे सदर्भ आते है, जिनमें कि आसपास का सारा ही प्रकरण अध्यात्मपरक है और केवल 'गौ' का प्रतीक ही है जो कि अपने अडियल भौतिक अर्थ के साथ वीच मे आकर वाधा डालता है। इन्द्र का आह्वान सुन्दर (पूर्ण) रूपो के निर्माता 'सुरूपकृत्नु' के तौर पर किया गया है कि वह आकर सोमरस को पिये, उसे पीकर वह आनन्द मे भर जाता है और गौओ को देनेवाला (गोदा) हो जाता है, तव हम उसके समीपतम या चरम सुविचारो को प्राप्त कर सकते है, तव हम उससे प्रश्न करते है और उसका स्पष्ट विवेक हमें हमारे सर्वोच्च कल्याण को प्राप्त कराता है*। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के सदर्भो में गौए भौतिक गायें नही हो सकती, नाही 'भौतिक प्रकाश को देनेवाला' यह अर्थ प्रकरण में किसी अभिप्राय को लाता है। कम-से-कम एक उदाहरण मेरे सामने ऐसा आया जिसने मेरे मन में यह निश्चित रूप से स्थापित कर दिया कि वहा वैदिक गौ आध्यात्मिक प्रतीक ही है। तव मैने इसे उन दूसरे सदर्भो में प्रयुक्त किया जहा कि 'गो' शब्द आता था और सर्वदा मैने यही पाया कि

---

*यह ऋक् मडल १ सूक्त ४ के आधार पर है। —अनुवादक।

निधि के भाव के साथ अपने असमस्त रूप में, पुरो-हित "आगे रखा हुआ" इस अर्थ में प्रयुक्त होना और प्राय इससे अग्निदेवता का सकेत किया जाना, जो अग्नि कि मानवता में उस दिव्य सकल्प या दिव्य शक्ति का प्रतीक है जो यज्ञरूप से किये जानेवाले सब पवित्र कर्मों मे क्रिया को ग्रहण करनेवाला होता है।

हवियो को समझ सकना और भी अधिक कठिन था। चाहे सोम-सुरा भी जिन प्रकरणो में इसका वर्णन है उनके द्वारा, अपने वर्णित उपयोग और प्रभाव के द्वारा और अपने पर्यायवाची शब्दो से मिलनेवाले भाषा-विज्ञानसबधी निर्देश के द्वारा स्वय अपनी व्याख्या कर सकती थी, पर यज्ञ के घी, 'घृतम्' का क्या अभि-प्राय लिया जाना सभव था ? और तो भी वेद मे यह शब्द जिस रूप में प्रयुक्त हुआ है वह इसीपर बल देता था कि इसकी प्रतीकात्मक व्याख्या ही होनी चाहिये। उदाहरणार्थ, अतरिक्ष से बूदरूप मे गिरनेवाले घृत का या इन्द्र के घोडो में से क्षरित होनेवाले अथवा मन से क्षरित होनेवाले घृत का क्या अर्थ हो सकता था ? स्पष्ट ही एक बिलकुल असगत और व्यर्थ की बात होती, यदि घी अर्थ को देनेवाले 'घृत' शब्द का इसके अतिरिक्त कोई और अभिप्राय होता कि यह किसी बात के लिये एक ऐसा प्रतीक है जिसका कि प्रयोग बहुत शिथिलता के साथ किया गया है, यहातक कि विचारक को बहुधा अपने मन में इसके बाह्य अर्थ को सर्वाश मे या आशिक रूप से अलग रख देना चाहिये। नि सदेह यह भी सभव था कि आसानी के साथ इन शब्दो के अर्थ को प्रसगानुसार बदल दिया जाय, 'घृत' को कही घी और कही पानी के अर्थ में ले लिया जाय तथा 'मनस्' का अर्थ कही मन और कही अन्न या अपूप कर लिया जाय। परतु मुझे पता लगा कि 'घृत' सतत रूप से विचार या मन के साथ प्रयुक्त हुआ है, कि वेद में 'द्यौ' मन का प्रतीक है, कि 'इन्द्र' प्रकाशयुक्त मनोवृत्ति का प्रतिनिधि है और उसके दो घोडे उस मनोवृत्ति की द्विविध शक्तिया है और मैंने यहातक देखा कि वेद कही-कही साफ तौर से बुद्धि (धिषणा) की शोधित घृत के रूप में देवो के लिये हवि देने को कहता है, 'घृत न पूत धिषणा' (३-२-१)। 'घृत' शब्द की भाषाविज्ञान की दृष्टि से जो व्याख्याए की जाती है, उनमें भी इसका एक अर्थ अत्यधिक या उष्ण चमक है। इन सब निर्देशों की अनुकूलता के आधार पर ही मैंने अनुभव किया कि 'घृत' के प्रतीक को यदि मै कोई

आध्यात्मिक व्याख्या करता हू, तो मैं ठीक रास्ते पर हू । और इसी नियम तथा इसी प्रणाली को मैंने यज्ञ के दूसरे अगो में भी प्रयुक्त करने योग्य पाया ।

हवि के फल देखने में विशुद्ध रूप से भौतिक प्रतीत होते थे—गौए, घोडे, सोना, अपत्य, मनुष्य, शारीरिक वल, युद्ध में विजय । यहा कठिनाई और भी दुस्तर हो गयी । पर यह मुझे पहले ही दीख चुका था कि वेद का 'गौ' वहुत ही पहेली-दार प्राणी है, यह किसी पार्थिव गोशाला से नही आया है । 'गो' शव्द के दोनो अर्थ है, गाय और प्रकाश और कुछ एक सदर्भों में तो, चाहे हम गाय के अर्थ को अपने सामने रखें भी, तो भी स्पष्ट ही इसका अर्थ प्रकाश ही होता था । यह पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है, जव कि हम सूर्य की गौओ—होमर (Homer) कवि की हीलियस की गौओ—और उपा की गौओ पर विचार करते है । आध्यात्मिक रूप मे, भौतिकप्रकाश ज्ञान के—विशेषकर दिव्य ज्ञान के—प्रतीक के रूप मे अच्छी तरह प्रयुक्त किया जा सकता है । परतु यह तो केवल सभावनामात्र थी, इसकी परीक्षा और प्रमाण से स्थापना कैसे होती ? मैंने पाया कि ऐसे सदर्भ आते हैं, जिनमें कि आसपास का सारा ही प्रकरण अध्यात्मपरक है और केवल 'गौ' का प्रतीक ही है जो कि अपने अडियल भौतिक अर्थ के साथ वीच में आकर वाधा डालता है । इन्द्र का आह्वान सुन्दर (पूर्ण) रूपो के निर्माता 'सुरूपकृत्नु' के तौर पर किया गया है कि वह आकर सोमरस को पिये, उसे पीकर वह आनन्द मे भर जाता है और गौओ को देनेवाला (गोदा) हो जाता है, तव हम उसके समीपतम या चरम सुविचारो को प्राप्त कर मकते है, तव हम उससे प्रश्न करते है और उसका स्पष्ट विवेक हमे हमारे सर्वोच्च कल्याण को प्राप्त कराता है* । यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के सदर्भो में गौए भौतिक गायें नही हो सकती, नाही 'भौतिक प्रकाश को देनेवाला' यह अर्थ प्रकरण मे किसी अभिप्राय को लाता है । कम-से-कम एक उदाहरण मेरे सामने ऐसा आया जिसने मेरे मन में यह निश्चित रूप से स्थापित कर दिया कि वहा वैदिक गौ आध्यात्मिक प्रतीक ही है । तव मैंने इसे उन दूसरे सदर्भों में प्रयुक्त किया जहा कि 'गो' शव्द आता था और सर्वदा मैंने यही पाया कि

---

*यह ऋक् मडल १ सूक्त ४ के आधार पर है । —अनुवादक ।

निधि के भाव के साथ अपने असमस्त रूप में, पुरो-हित "आगे रखा हुआ" इस अर्थ में प्रयुक्त होना और प्राय इससे अग्निदेवता का सकेत किया जाना, जो अग्नि कि मानवता में उस दिव्य सकल्प या दिव्य शक्ति का प्रतीक है जो यज्ञरूप से किये जानेवाले सब पवित्र कर्मों मे क्रिया को ग्रहण करनेवाला होता है।

हवियो को समझ सकना और भी अधिक कठिन था। चाहे सोम-सुरा भी जिन प्रकरणो मे इसका वर्णन है उनके द्वारा, अपने वर्णित उपयोग और प्रभाव के द्वारा और अपने पर्यायवाची शब्दो से मिलनेवाले भाषा-विज्ञानसबधी निर्देश के द्वारा स्वय अपनी व्याख्या कर सकती थी, पर यज्ञ के घी, 'घृतम्' का क्या अभि-प्राय लिया जाना सभव था ? और तो भी वेद मे यह शब्द जिस रूप में प्रयुक्त हुआ है वह इसीपर बल देता था कि इसकी प्रतीकात्मक व्याख्या ही होनी चाहिये। उदाहरणार्थ, अतरिक्ष से बूदरूप मे गिरनेवाले घृत का या इन्द्र के घोडो में से क्षरित होनेवाले अथवा मन से क्षरित होनेवाले घृत का क्या अर्थ हो सकता था ? स्पष्ट ही एक बिलकुल असगत और व्यर्थ की बात होती, यदि घी अर्थ को देनेवाले 'घृत' शब्द का इसके अतिरिक्त कोई और अभिप्राय होता कि यह किसी बात के लिये एक ऐसा प्रतीक है जिसका कि प्रयोग बहुत शिथिलता के साथ किया गया है, यहातक कि विचारक को बहुधा अपने मन मे इसके बाह्य अर्थ को सर्वाश में या आशिक रूप से अलग रख देना चाहिये। नि सदेह यह भी सभव था कि आसानी के साथ इन शब्दो के अर्थ को प्रसगानुसार बदल दिया जाय, 'घृत' को कही घी और कही पानी के अर्थ में ले लिया जाय तथा 'मनस्' का अर्थ कही मन और कही अन्न या अपूप कर लिया जाय। परतु मुझे पता लगा कि 'घृत' सतत रूप से विचार या मन के साथ प्रयुक्त हुआ है, कि वेद में 'द्यौ' मन का प्रतीक है, कि 'इन्द्र' प्रकाशयुक्त मनोवृत्ति का प्रतिनिधि है और उसके दो घोडे उस मनोवृत्ति की द्विविध शक्तिया है और मैंने यहातक देखा कि वेद कही-कही साफ तौर से बुद्धि (धिषणा) की शोधित घृत के रूप में देवो के लिये हवि देने को कहता है, 'घृत न पूत धिषणा' (३-२-१)। 'घृत' शब्द की भाषाविज्ञान की दृष्टि से जो व्याख्याए की जाती हैं, उनमें भी इसका एक अर्थ अत्यधिक या उष्ण चमक है। इन सब निर्देशो की अनुकूलता के आधार पर ही मैंने अनुभव किया कि 'घृत' के प्रतीक की यदि मैं कोई

आध्यात्मिक व्याख्या करता हू, तो मै ठीक रास्ते पर हू। और इसी नियम तथा इसी प्रणाली को मैने यज्ञ के दूसरे अगो में भी प्रयुक्त करने योग्य पाया।

हवि के फल देखने मे विशुद्ध रूप मे भौतिक प्रतीत होते थे—गौए, घोडे, सोना, अपत्य, मनुष्य, शारीरिक वल, युद्ध में विजय। यहा कठिनाई और भी दुस्तर हो गयी। पर यह मुझे पहले ही दीख चुका था कि वेद का 'गौ' वहुत ही पहेलीदार प्राणी है, यह किसी पार्थिव गोशाला से नही आया है। 'गो' शब्द के दोनो अर्थ है, गाय और प्रकाश और कुछ एक सदर्भो में तो, चाहे हम गाय के अर्थ को अपने सामने रखें भी, तो भी स्पष्ट ही इसका अर्थ प्रकाश ही होता था। यह पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है, जव कि हम सूर्य की गौओ—होमर (Homer) कवि की हीलियस की गौओ—और उषा की गौओ पर विचार करते हैं। आध्यात्मिक रूप में, भौतिकप्रकाश ज्ञान के—विशेषकर दिव्य ज्ञान के—प्रतीक के रूप में अच्छी तरह प्रयुक्त किया जा सकता है। परतु यह तो केवल सभावनामात्र थी, इसकी परीक्षा और प्रमाण से स्थापना कैसे होती ? मैने पाया कि ऐसे सदर्भ आते है, जिनमें कि आसपास का सारा ही प्रकरण अध्यात्मपरक है और केवल 'गौ' का प्रतीक ही है जो कि अपने अडियल भौतिक अर्थ के साथ वीच मे आकर वाधा डालता है। इन्द्र का आह्वान सुन्दर (पूर्ण) रूपो के निर्माता 'सुरूपकृत्नु' के तौर पर किया गया है कि वह आकर सोमरस को पिये, उसे पीकर वह आनन्द मे भर जाता है और गौओ को देनेवाला (गोदा) हो जाता है, तव हम उसके समीपतम या चरम सुविचारो को प्राप्त कर सकते है, तव हम उससे प्रश्न करते है और उसका स्पष्ट विवेक हमें हमारे सर्वोच्च कल्याण को प्राप्त कराता है*। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के सदर्भो में गौए भौतिक गायें नही हो सकती, नाही 'भौतिक प्रकाश को देनेवाला' यह अर्थ प्रकरण में किसी अभिप्राय को लाता है। कम-से-कम एक उदाहरण मेरे सामने ऐसा आया जिसने मेरे मन मे यह निश्चित रूप से स्थापित कर दिया कि वहा वैदिक गौ आध्यात्मिक प्रतीक ही है। तव मैने इसे उन दूसरे सदर्भो में प्रयुक्त किया जहा कि 'गो' शब्द आता था और सर्वदा मैने यही पाया कि

*यह ऋक् मडल १ सूक्त ४ के आधार पर है। —अनुवादक।

परिणाम यह होता था कि इससे प्रकरण का अर्थ अच्छे-से-अच्छा हो जाता था और उसमें अधिक-से-अधिक सभवनीय सगति आ जाती थी।

गाय और घोड़ा, 'गो' और 'अश्व' निरन्तर इकट्ठे आते है। उषा का वर्णन इस रूप में हुआ है कि वह 'गोमती अश्वावती' है, उषा यज्ञकर्त्ता (यजमान) को घोडे और गौए देती है। प्राकृतिक उषा को ले, तो 'गोमती' का अर्थ है प्रकाश की किरणो से युक्त या प्रकाश की किरणो को लाती हुई और यह मानवीय मन में होनेवाली प्रकाश की उषा के लिये एक रूपक है। इसलिये 'अश्वावती' विशेषण भी एकमात्र भौतिक घोडो का निर्देश करनेवाला नही हो सकता, साथ मे इसका कोई आध्यात्मिक अर्थ भी अवश्य होना चाहिये। वैदिक 'अश्व' का अध्ययन करने पर मै इस परिणाम पर पहुचा कि 'गो' और 'अश्व' वहा प्रकाश और शक्ति के, ज्ञान और बल के दो सहचर विचारो के प्रतिनिधि है जो कि वैदिक और वैदातिक मन के लिये सत्ता की सभी प्रगतियो के द्विविध या युगलरूप होते थे।

इसलिये यह स्पष्ट हो गया कि वैदिक यज्ञ के दो मुख्य फल गौओ की सपत्ति और घोडो की सपत्ति, क्रमश मानसिक प्रकाश की समृद्धि और जीवन-शक्ति की बहुलता के प्रतीक है। इससे परिणाम निकला कि वैदिक कर्म (यज्ञ) के इन दो मुख्य फलो के साथ निरन्तर सबद्ध जो दूसरे फल है उनकी भी अवश्यमेव आध्यात्मिक व्याख्या हो सकनी चाहिये। अवशिष्ट केवल यह रह गया कि उन सबका ठीक-ठीक अभिप्राय नियत किया जाय।

वैदिक प्रतीकवाद का एक दूसरा अत्यावश्यक अग है लोको का सस्थान और देवताओ के व्यापार। लोको के प्रतीकवाद का सूत्र मुझे 'व्याहृतियो' के वैदिक विचार में, "**ओ३म् भूर्भुव स्व**" इस मत्र के तीन प्रतीकात्मक शब्दो मे और चौथी व्याहृति '**मह**' का आध्यात्मिक अर्थ रखनेवाले '**ऋतम्**' शब्द के साथ जो सबध है, उसमें मिल गया। ऋषि विश्व के तीन विभागो का वर्णन करते है, पृथिवी, अतरिक्ष या मध्यस्थान और द्यौ, परतु साथ ही एक आध्यात्मिक बड़ा द्यौ (बृहत् द्यौ) भी है, जिसे विस्तृत लोक (बृहत्) भी कहा गया है और कही-कही जिसे महान् जल, '**महो अर्ण**' के रूप में भी वर्णित किया है। फिर इस 'बृहत्' का 'ऋतम्

वृहत्' इस रूप में अथवा 'सत्यं ऋतम् वृहत्'* इन तीन शब्दो की परिभाषा के रूप में वर्णन मिलता है और क्योकि तीन लोक प्रारभिक तीन व्याहृतियो से सूचित होते है, इसलिये 'वृहत्' के और 'ऋत' के इस चौथे लोक का सवध उपनिषदो में उल्लिखित चौथी व्याहृति 'मह' से होना चाहिये। पौराणिक सूत्र मे ये चार तीन अन्य–'जन' 'तप' 'सत्य' से मिलकर पूर्ण होते है, जो तीन कि हिंदु विश्व-विज्ञान के तीन उच्च लोक है। वेद में भी हमें तीन सर्वोच्च लोको का उल्लेख मिलता है, यद्यपि उनके नाम नही दिये गये है। परतु वेंदातिक और पौराणिक सम्प्रदाय में ये सात लोक सात आध्यात्मिक तत्त्वो या सत्ता के सात रूपो—सत्, चित्, आनद, विज्ञान, मन, प्राण, अन्न – को सूचित करते है। अव यह मध्य का लोक विज्ञान, जो कि 'मह' का लोक है, महान् लोक ह, वस्तुओ का सत्य है, और यह तथा वदिक 'ऋतम्' जो कि 'वृहत्' का लोक ह, दोनो एक ही है, और जहा कि पौराणिक सप्रदाय में 'मह' के वाद यदि नीचे से ऊपर का क्रम ले तो, 'जन' (जो कि आनन्द का, दिव्य सुख का लोक है) आता है, वहा वेद में भी 'ऋतम्' अर्थात् सत्य ऊपर की ओर 'मय' तक, सुख तक, ले जाता है। इसलिये, हम उचित रूप से इस निश्चय पर पहुच सकते है कि (पौराणिक तथा वैदिक) ये दोनो सम्प्रदाय इस विषय मे एक है और दोनो का आधार इस एक विचार पर है कि अन्दर अपनी चेतना के सात तत्त्व है जो कि वाहर सात लोको के रूप में अपने-आपको प्रकट करते है। इस सिद्धान्त पर मै वैदिक लोको की तदनुसारी चेतना के आध्यात्मिक स्तरो के साथ एकता स्थापित कर सका और तव सारा ही वैदिक सस्थान मेरे मन में स्पष्ट हो गया।

जव इतना सिद्ध हो चुका, तो जो वाकी था वह स्वभावत और अनिवार्य रूप से होने लगा। मै यह पहिले ही देख चुका था कि वैदिक ऋषियो का केन्द्रीभूत विचार था कि मिथ्या का सत्य से, विभक्त तथा सीमावद्ध जीवन का सम्पूर्णता तथा असीमता से परिवर्तन करके, मानवीय आत्मा को मृत्यु की अवस्था से निकालकर अमरता की अवस्था तक पहुचा देना। मृत्यु है मन और प्राणसहित शरीर

*सत्यम् वृहत् ऋतम्। अथर्व १२-१-१

की मर्त्य अवस्था, अमरता है असीम सत्ता, चेतना और आनन्द की अवस्था। मनुष्य द्यौ और पृथ्वी, मन और शरीर इन दो लोको, 'रोदसी' मे ऊपर उठकर सत्य की असीमता में, 'मह' में और इस प्रकार दिव्य सुख मे पहुच जाता है। यही वह 'महा-पथ' है जिसे ऋषियो ने खोजा था।

देवो के विषय में मैंने यह वर्णन पाया कि वे प्रकाश मे उत्पन्न हुए है, 'अदिति' के, अनन्तता के पुत्र है, और विना अपवाद के उनका इस प्रकार वर्णन आता है कि वे मनुष्य की उन्नति करते है, उसे प्रकाश देते है, उसपर पूर्ण जलो की, द्यौ के ऐश्वर्य की वर्षा करते है, उसके अन्दर सत्य की वृद्धि करते है, दिव्य लोको का निर्माण करते है, सव आक्रमणो से वचाकर उसे महान् लक्ष्य तक, अखण्ड समृद्धि तक, पूर्ण सुख तक पहुचाते है। उनके पृथक्-पृथक् व्यापार उनकी क्रियाओ मे, उनके विशेषणो से, उनसे सम्बद्ध कथानको का जो अध्यात्मपरक आशय होता था उससे, उपनिषदो और पुराणो के निर्देशो से तथा ग्रीक गाथाओ द्वारा कभी-कभी पडनेवाले आशिक प्रकाशो से निकल आते थे। दूसरी ओर दैत्य जो कि उनके विरोधी है, सवके सव विभाग तथा सीमा की शक्तिया है, वे जैसा कि उनके नाम सूचित करते है, आच्छादक है, विदारक है, हडप लेनेवाले है, घेरनेवाले है, द्वैध पैदा करनेवाले है, प्रतिवन्धक है, वे ऐसी शक्तिया है जो कि जीवन की स्वतत्र तथा एकीभूत सम्पूर्णता के विरुद्ध कार्य करती है। ये वृत्र, पणि, अत्रि, राक्षस, शम्वर, वल, नमुचि कोई द्राविड राजा और देवता नही है, जैसा कि आधुनिक मन अपनी अति को पहुची हुई ऐतिहासिक दृष्टि से चाहता है कि वे हो, वे एक अधिक प्राचीन भाव के द्योतक है, जो कि धार्मिक तथा नैतिक ही विचारो-कृत्यो में मुख्यतया व्यापृत रहनेवाले हमारे पूर्व पितरो के लिये अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त था। वे उच्चतर भद्र की तथा निम्नतर इच्छा की शक्तियो के बीच में होनेवाले सघर्ष के द्योतक है और ऋग्वेद का यह विचार तथा पुण्य और पाप का इसी प्रकार का विरोध जो कि अपेक्षाकृत कम आध्यात्मिक सूक्ष्मता के साथ तथा अधिक नैतिक स्पष्टता के साथ पारसियों के—हमारे इन प्राचीन पडोसियो और सजातीय वन्धुओ के—धर्मशास्त्रो में दूसरे प्रकार से प्रकट किया गया है, सम्भवत एक ही आर्यसस्कृति के मौलिक शिक्षण से प्रादुर्भूत हुआ था।

अन्त में मैंने देखा कि वेद का नियमित प्रतीकवाद बढकर कथानको मे भी पहुचा हुआ है जिनमें कि देवो का तथा उन देवो के प्राचीन ऋषियो के साथ सबध का वर्णन है। इन गाथाओ मे से यदि सबका नही तो कुछका मूल तो, इसकी पूर्ण सम्भावना है कि, प्रकृतिवादी तथा नक्षत्रविद्यासम्बन्धी रहा हो, पर यदि ऐसा रहा हो तो उनके प्रारम्भिक अर्थ की आध्यात्मिक प्रतीकवाद के द्वारा पूर्ति की गयी थी। एक बार यदि वैदिक प्रतीको का अभिप्राय ज्ञात हो जाय, तो इन कथानको का आध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट तथा अनिवार्य हो जाता है। वेद का प्रत्येक तत्त्व उसके दूसरे प्रत्येक तत्त्व के साथ अपृथक्करणीय रूप से गुथा हुआ है और इन रचनाओ का स्वरूप ही हमें इसके लिये बाध्य करता है कि हमने एक बार व्याख्या के जिस नियम को स्वीकार कर लिया है उसे हम अधिक-से-अधिक युक्तिसगत दूरी तक ले जाय। उनकी सामग्रिया बडी चतुराई के साथ दृढ हाथो के द्वारा मिलाकर ठीक की गयी है और उनपर हमारे काम करने मे यदि कोई असगति बर्त्ती जाती है तो उससे उनके अभिप्राय का और उनकी सुसम्बद्ध विचार-शृखला का सारा ताना बाना ही टूट जाता है।

इस प्रकार वेद, मानो अपनी प्राचीन ऋचाओ में से अपने-आपको प्रकट करता हुआ, मेरे मन के सामने इस रूप मे निकल आया कि यह सारा-का-सारा ही एक महान् और प्राचीन धर्म की, जो कि पहिले से ही एक गम्भीर आध्यात्मिक शिक्षण से सुसज्जित था, धर्मपुस्तक है, ऐसी धर्मपुस्तक नही जो कि गडबड विचारो से भरी हो या उसकी प्रतिपाद्य सामग्री आदिम हो, यह भी नही कि वह कोई परस्पर-विरुद्ध तथा जगली तत्त्वो की खिचडी हो, बल्कि ऐसी धर्मपुस्तक है जो अपने लक्ष्य और अपने अभिप्राय में पूर्ण है तथा अपने आपसे अभिज्ञ है, यह अवश्य है कि यह एक दूसरे और भौतिक अर्थ के आवरण से ढकी हुई है, जो आवरण कि कही घना है और कही स्पष्ट है, परन्तु तो भी यह क्षणभर के लिये भी अपने उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य तथा प्रवृत्ति की दृष्टि को ओझल नही होने देती है।

छठा अध्याय

वेद की भाषावैज्ञानिक पद्धति

वेद की कोई भी व्याख्या प्रामाणिक नही हो सकती, यदि वह सबल तथा सु-रक्षित भाषावैज्ञानिक आधार पर टिकी हुई नही है, और तो भी यह धर्म-पुस्तक (वेद) अपनी उस धुधली तथा प्राचीन भाषा के साथ जिसका कि केवलमात्र यही लेख अवशिष्ट रह गया है अपूर्व भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयो को प्रस्तुत करती है। भारतीय विद्वानो के परम्परागत तथा अधिकतर काल्पनिक अर्थो पर पूर्ण रूप मे विश्वास कर लेना किसी भी समालोचनाशील मन के लिये असम्भव है। दूसरी तरफ आधुनिक भाषा-विज्ञान यद्यपि अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित और वैज्ञानिक आधार को पाने के लिये प्रयत्नशील है, पर अभी तक वह इसे पा नही सका है।

वेद की अध्यात्मपरक व्याख्या में विशेषतया दो कठिनाइया ऐसी है जिनका कि सामना केवलमात्र सन्तोषप्रद भाषावैज्ञानिक समाधान के द्वारा ही किया जा सकता है। पहली यह कि इस व्याख्यापद्धति को वेद की बहुत-सी नियत सज्ञाओ के लिये—उदाहरणार्थ, ऊति, अवस्, वयस् आदि सज्ञाओ के लिये—कई नये अर्थों को स्वीकार करने की आवश्यकता पडती है। हमारे ये नये अर्थ एक परीक्षा को तो सन्तुष्ट कर देते है, जिसकी कि न्यायोचित रूप से माग की जा सकती है, अर्थात् वे प्रत्येक प्रकरण में ठीक बैठते है, आशय को स्पष्ट कर देते है और एव हमें इससे मुक्त कर देते है कि वेद जैसे अत्यधिक निश्चित स्वरूपवाले ग्रन्थ मे हमें एक ही सज्ञा के बिल्कुल भिन्न-भिन्न अर्थ करने की आवश्यकता पड। परन्तु यही परीक्षा पर्याप्त नही है। इससे अतिरिक्त, अवश्य ही हमारे पास भाषाविज्ञान का आधार भी होना चाहिये, जो कि न केवल नये अर्थ का समाधान करे, परन्तु साथ ही इसका भी स्पष्टीकरण कर दे कि, किस प्रकार एक ही शब्द इतने सारे भिन्न-भिन्न अर्थों को देने लगा इस अर्थ को जो कि अध्यात्मपरक व्याख्या के अनुसार होता है, उन अर्थों को जो कि प्राचीन वैयाकरणो ने किये है और उन अर्थों को भी जो कि (यदि

वे कोई हैं) बाद की सस्कृत में हो गये है। परन्तु यह आसानी से नही हो सकता है जवतक कि हम अपने भाषाविज्ञानसम्वन्वी परिणामो के लिये उसकी अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक आधार नही पा लेगे जो कि हमारे अवतक के ज्ञान से प्राप्त है।

दूसरे यह कि अध्यात्मपरक व्याख्या का सिद्धात अधिकतर मुख्य शव्दो के—उन शव्दो के जो कि रहस्यमय वैदिक शिक्षा में कुञ्जीरूप शव्द है—द्वयर्थक प्रयोग पर आश्रित है। यह वह अलकार है जो परम्परा द्वारा सस्कृतसाहित्य में भी आ गया है और कही कही पीछे के सस्कृतग्रयो में अत्यधिक कुशलता के साथ प्रयुक्त हुआ है, यह है श्लेष या द्विविध अर्थ का अलकार। परन्तु इसकी यह कुशलतापूर्ण कृत्रिमता ही हमें यह विश्वास करने के लिये प्रवृत्त करती है कि यह कवितामय चातुर्य अवश्य ही अपेक्षाकृत उत्तरकाल का तथा अधिक मिश्रित वकृत्रिम सस्कृति का होना चाहिये। तो अधिकतम प्राचीन काल के किसी ग्रन्थ मे इसकी सतत रूप से उपस्थिति का हम कैसे समाधान कर सकते है ? इसके अतिरिक्त वेद में तो हम इसके प्रयोग को अद्भुत रूप से फैला हुआ पाते हैं, वहा सस्कृत धातुओ की "अनेकार्थता" के नियम को जानवूझकर इस प्रकार प्रयुक्त किया गया है जिससे कि एक ही शव्द में जितने भी सम्भव अर्थ हो सकते हैं वे सव-के-सव आकर सचित हो जाय, और इससे, प्रथम दृष्टि में ऐसा लगता है कि, हमारी समस्या और भी असाधारण रूप से वढ गयी है।

उदाहरण के तौर पर 'अश्व' शव्द जिसका कि साधारणत घोडा अर्थ होता है, आलकारिक रूप से प्राण के लिये प्रयुक्त हुआ है—प्राण जो कि वात-शक्ति है, जीवन-श्वास है, मन तथा शरीर को जोडनेवाली एक अर्धमानसिक, अर्धभौतिक क्रिया-मयी शक्ति है। 'अश्व' शव्द के धात्वर्थ से प्रेरणा, शक्ति, प्राप्ति और सुख-भोग के भाव इसके अन्य अभिप्रायो के साथ निकलते है और इन सभी अर्थों को हम जीवन-रूपी अश्व (घोडे) में एकत्रित हुआ पाते है, जो कि सव अर्थ प्राण-शक्ति की मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियो को सूचित करते है। भाषा का इस प्रकार का प्रयोग सभव नही हो सकता था, यदि आर्यन पूर्वजो की भाषा वैसे ही रूढि अर्थों को देती होती जैसे कि हमारी आधुनिक भाषा देती है अथवा यदि वह विकास की उसी अवस्था मे होती जिसमें कि हमारी वर्तमान भाषा है। पर यदि हम यह कल्पना कर सके

कि प्राचीन आर्यों की भाषा मे, जैसी कि यह वैदिक ऋषियो के द्वारा प्रयुक्त की गयी है, कोई विशेषता थी जिसके द्वारा कि शब्द अपेक्षाकृत अधिक सजीव अनुभूत होते थे, वे विचारो के लिये केवलमात्र रूढि साकेतिक शब्द नही थे, अर्थ के सक्रान्त करने में उसकी अपेक्षा अधिक स्वतत्र थे जैसे कि वे हमारी भाषा के बाद के प्रयोग मे है, तो हम यह पायगे कि प्राचीन ऋषियो द्वारा प्रयुक्त किये गये ये शब्दप्रयोग सर्वथा कृत्रिम अथवा खीचातानी से युक्त नही थे, बल्कि वे तो इस बात के सर्वप्रथम स्वाभाविक साधन थे कि वे उत्सुक मनुष्यो को उन आध्यात्मिक विचारो को व्यक्त करने के लिये जो कि प्राकृत मनुष्यो की समझ के बाहर है, एकदम नवीन, सक्षिप्त और यथोचित भाषासूत्रो को पकडा दें और उन सूत्रो में जो विचार अतर्निहित है, उन्हे वे अधार्मिक बुद्धिवालो से छिपाये रखे। मेरा विश्वास है कि यही सच्चा स्पष्टीकरण है और मै समझता हू कि यह सिद्ध हो सकता है, यदि हम आर्यों की भाषा के विकास का अध्ययन करे, कि अवश्य भाषा उस अवस्था मे से गुजरी है जो कि शब्दो के इस प्रकार के रहस्यमय तथा अध्यात्मपरक प्रयोग के लिये अद्भुत रूप से अनुकूल होती थी, जो शब्द कि वैसे अपने प्रचलित व्यवहार में एक सरल, निश्चित तथा भौतिक अर्थ को देते थे।

यह मै पहिले ही बतला चुका हू कि तामिल शब्दो के मेरे सर्वप्रथम अध्ययन ने मुझे वह चीज प्राप्त करा दी थी जो कि प्राचीन सस्कृतभाषा के उद्गमो तथा उसकी बनावट का पता देनेवाला सूत्र प्रतीत होती थी और यह सूत्र मुझे यहा तक ले गया कि मै अपनी रुचि के मूल विषय 'आर्यन तथा द्राविड भाषाओ में सबध' को बिलकुल ही भूल गया और एक उससे भी अधिक रोचक विषय 'मानवीय भाषा के ही विकास के उद्गमो और नियमो के अन्वेषण' में तल्लीन हो गया। मुझे लगता है कि यह महान् परीक्षा ही किसी भी सच्चे भाषाविज्ञान का सर्वप्रथम और मुख्य लक्ष्य होना चाहिये, न कि वे सामान्य बाते जिनमें कि भाषाविज्ञ विद्वानो ने अभीतक अपने-आपको बाध रखा है।

आधुनिक भाषाविज्ञान के जन्म के समय जो प्रथम आशाए इससे लगायी थी उनके पूर्ण न होने के कारण, इसके सारहीन परिणामो के कारण, इसके एक "क्षुद्र कल्पनात्मक विज्ञान" के रूप में आ निकलने के कारण, अब भाषा का भी कोई

विज्ञान है इस विचार को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाने लगा है और इसकी सभ-वनीयता ही से विलकुल इन्कार किया जाने लगा है, यद्यपि इसके लिये युक्तिया विलकुल अपर्याप्त हैं। यह मुझे असभव प्रतीत होता है कि इस प्रकार इसके अतिम रूप में इन्कार कर दिये जाने से सहमत हुआ जा सके। यदि कोई एक वस्तु ऐसी है जिसे कि आधुनिक विज्ञान ने सफलता के साथ स्थापित कर दिया है, तो वह है सपूर्ण पार्थिव वस्तुओ के इतिहास में विकास की प्रक्रिया तथा नियम का शासन। भाषा का गभीरतर स्वभाव कुछ भी हो, मानवीय भाषा के रूप में अपनी वाह्य अभिव्यक्तियो में यह एक सावयव रचना है, एक वृद्धि है, एक लौकिक विकास है। वस्तुत ही इसके अदर एक स्थिर मनोवैज्ञानिक तत्त्व है और इसलिये यह विशुद्ध भौतिक रचना की अपेक्षा अधिक स्वतत्र, लचकीली और ज्ञानपूर्वक अपने-आपको परिस्थिति के अनुकूल कर लेनेवाली है, इसके रहस्य को समझना अपेक्षाकृत अधिक कठिन है, इसके घटको को केवल अपेक्षया अधिक सूक्ष्म तथा कम तीक्ष्ण विश्लेषण-प्रणालियो द्वारा ही काबू किया जा सकता है। परतु नियम तथा प्रक्रिया मानसिक वस्तुओ में भौतिक वस्तुओ की अपेक्षा किसी हालत में कम नहीं होते, यद्यपि ऐसा है कि वहा वे अपेक्षाकृत अधिक चचल और अधिक परिवर्तनशील प्रतीत होते है। भाषा के उद्गम और विकास के भी अवश्य ही कोई नियम और प्रक्रिया होने चाहियें। आवश्यक सूत्र और पर्याप्त प्रमाण यदि मिल जाय, तो वे नियम और प्रक्रिया पता लगाये जा सकते है। मुझे प्रतीत होता है कि सस्कृतभाषा में वह सूत्र मिल सकता है, प्रमाण वहा तैयार रखे हैं कि उन्हे खोज निकाला जाय।

भाषाविज्ञान की भूल जिसने कि इस दिशा मे अपेक्षाकृत अधिक सतोषजनक परिणाम पर पहुचने से इसे रोके रखा, यह थी कि इसने व्यवहृत भाषा के भौतिक अगो के विषय में भाषा के वाह्य शब्दरूपो के अध्ययन में ही और भाषा के मनो-वैज्ञानिक अगो के विषय में भी उसी प्रकार रचित शब्दो के, तथा सजातीय भाषाओ मे व्याकरणसवधी विभक्तियो के, वाह्य सवधो में ही अपने-आपको व्यापृत रखा। परतु विज्ञान की वास्तविक पद्धति तो है, मूल तक जा पहुचना, गर्भ तक, घटनाओ के तत्त्वो तक तथा उनकी अपेक्षाकृत छिपी हुई विकासप्रक्रियाओ तक पहुच जाना।

वाह्य प्रत्यक्ष दृष्टि से हम स्थूल दृष्टि मे दीखनेवाली तथा ऊपर-ऊपर की वस्तु को ही देख पायेंगे। घटनाओ के गभीर तत्त्वो को, उनके वास्तविक तथ्यो को ढूढ निकालने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि उन छिपे हुए रहस्यो के अदर प्रवेश किया जाय जो कि घटनाओ के वाह्य रूप से ढके रहते है, पहले हुए-हुए उनके उस विकास के अदर घुसकर देखा जाय जिसके कि उनके ये वर्तमान परिसमाप्त रूप केवल गूढ तथा विकीर्ण निर्देशो को ही देते हैं, अथवा सभावनाओ के अदर प्रवेश किया जाय जिनमें से आयी वे कुछ वास्तविकताए जिनको कि हम देखते है केवल एक सकुचित चुनाव होती है। यही प्रणाली यदि मानव-भाषा के प्राचीनरूपो में प्रयुक्त की जाय, तो केवल वही हमें एक सच्चे भाषा के विज्ञान को दे सकती है।

यह पूर्णतया सभव नही है कि इस लेखमाला के, जो कि स्वय ही छोटी-सी है और जिसका असली विषय दूसरा है, एक छोटे-से अध्याय मे उस कार्य के परिणामो को उपस्थित कर सकू जिसे कि मैंने उपर्युक्त दिशा में करने का यत्न किया है *। मै केवल सक्षेप से ही एक या दो विशिष्ट अगो का दिग्दर्शन करा सकता हू, जो कि सीधे तौर पर वैदिक व्याख्या के विषय पर लागू होते है। और यहा मै उनका उल्लेख केवल इसलिये करूगा ताकि मेरे पाठको के मन में यदि कोई ऐसी धारणा हो जाय, तो उसका परिहार हो सके कि, मैंने जो किन्ही वैदिक शब्दो के प्राप्त अर्थो को स्वीकार नही किया है वह मैंने केवल उस बुद्धिपूर्ण अटकल लगाने की स्वाधीनता का लाभ उठाया है जो कि आधुनिक भाषाविज्ञान के जहा वडे भारी आकर्षणो में से एक है, वहा साथ-ही-साथ उस भाषाविज्ञान की सबसे अधिक गभीर कमजोरियो में से भी एक है।

मेरे अन्वेषणो ने प्रथम मुझे यह विश्वास करा दिया कि शब्द, पौधो की तरह, पशुओ की तरह, किसी भी अर्थ में कृत्रिम उत्पत्ति नही है, किंतु उपचय है, वृद्धि है, ध्वनि की सजीव वृद्धि है और कोई बीजभूत ध्वनिया उनका आधार है। इन बीजभूत ध्वनियो से कुछ प्रारभिक मूलशब्द अपनी सततियो सहित विकसित होते

---

*मेरा विचार है कि मैं इनपर एक पृथक् ही पुस्तक में जो कि "आर्यन भाषा के उद्गमो" के सबध मे होगी, चर्चा करूगा।

हैं जिनकी परपरागत पीढिया चलती है और जो जातियो में, वर्गों में, परिवारो में, चुने हुए गणो में, अपने-आपको व्यवस्थित कर लेते है, जिनमेंसे कि प्रत्येक का एक साधारण शब्द-भण्डार तथा साधारण मनोवैज्ञानिक इतिहास होता है। क्योंकि भाषा के विकास पर अधिष्ठान करनेवाला तत्त्व है साहचर्य—किन्ही सामान्य अभिप्रायो का, यह अधिक ठीक होगा, कि किन्ही सामान्य उपयोगिताओ का तथा ऐन्द्रियक मूल्यो का स्पष्ट विविक्त ध्वनियो के साथ साहचर्य, जो कि आदिकाल के मनुष्य के नाडीप्रधान (प्राण-प्रधान) मन के द्वारा किया जाता था। यह साहचर्य की पद्धति भी किसी भी अर्थ में कृत्रिम नही बल्कि स्वाभाविक होती थी और वह सरल तथा निश्चित मनोवैज्ञानिक नियमो से नियन्त्रित थी।

अपनी प्रारम्भिक अवस्थाओ में भाषा-ध्वनिया उसे व्यक्त करने के काम में नहीं आती थी जिसे कि हम विचार नाम से कहते हैं इसकी अपेक्षा वे किन्ही सामान्य इद्रियानुभवो तथा भावावेशो के लिये शाब्दिक समकक्ष थी। भाषा की रचना करनेवाले ज्ञानतन्तु थे, न कि बुद्धि। वैदिक प्रतीको का प्रयोग करें तो 'अग्नि' और 'वायु', न कि 'इद्र', मानवीय भाषा के आदिम रचयिता थे। मन निकला है प्राण की तथा इन्द्रियानुभव की क्रियाओ में से। मनुष्य में रहनेवाली बुद्धि ने अपना निर्माण किया है, इन्द्रियकृत साहचर्यों तथा ऐन्द्रियक ज्ञान की प्रतिक्रियाओ के आधार पर। इसी प्रकार की प्रक्रियाद्वारा भाषा का बौद्धिक प्रयोग इद्रियानुभव-सम्बन्धी तथा भावावेशसम्बन्धी प्रयोग में से एक स्वाभाविक नियम के द्वारा विकसित हुआ है। शब्द जो कि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में इद्रियानुभवो व अर्थो की अस्पष्ट सभावना से भरे प्राणप्रेरित आत्मनिस्सरण रूप थे, विकसित हो कर ठीक-ठीक बौद्धिक अर्थों के नियत प्रतीको के रूप मे परिणत हो गये।

फलत, शब्द प्रारम्भ में किसी निश्चित विचार के लिये नियत नही किया हुआ था। इसका एक सामान्य स्वरूप था, सामान्य 'गुण' था, जो कि बहुत प्रकार से प्रयोग में लाया जा सकता था और इसीलिये बहुत से सम्भव अर्थों को दे सकता था। और अपने इस 'गुण' को तथा इसके परिणामो को यह अनेक सजातीय ध्वनियो के साथ साझे में रखता था, इसमें अनेक सजातीय ध्वनिया भागीदार होती थीं। इसलिये सर्वप्रथम शब्दवर्गों ने, अनेक शब्दपरिवारो ने एक

बाह्य प्रत्यक्ष दृष्टि से हम स्थूल दृष्टि से दीखनेवाली तथा ऊपर-ऊपर की वस्तु को ही देख पायेंगे। घटनाओ के गभीर तत्त्वो को, उनके वास्तविक तथ्यो को ढूढ निकालने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि उन छिपे हुए रहस्यो के अदर प्रवेश किया जाय जो कि घटनाओ के बाह्य रूप से ढके रहते है, पहले हुए-हुए उनके उस विकास के अदर घुसकर देखा जाय जिसके कि उनके ये वर्तमान परिसमाप्त रूप केवल गूढ तथा विकीर्ण निर्देशो को ही देते है, अथवा सभावनाओ के अदर प्रवेश किया जाय जिनमें से आयी वे कुछ वास्तविकताए जिनको कि हम देखते है केवल एक सकुचित चुनाव होती हैं। यही प्रणाली यदि मानव-भाषा के प्राचीनरूपो में प्रयुक्त की जाय, तो केवल वही हमें एक सच्चे भाषा के विज्ञान को दे सकती है।

यह पूर्णतया सभव नही है कि इस लेखमाला के, जो कि स्वय ही छोटी-सी है और जिसका असली विषय दूसरा है, एक छोटे-से अध्याय में उस कार्य के परिणामो को उपस्थित कर सकू जिसे कि मैंने उपर्युक्त दिशा में करने का यत्न किया है *। मै केवल सक्षेप मे ही एक या दो विशिष्ट अगो का दिग्दर्शन करा सकता हू, जो कि सीधे तौर पर वैदिक व्याख्या के विषय पर लागू होते है। और यहा मै उनका उल्लेख केवल इसलिये करूगा ताकि मेरे पाठको के मन में यदि कोई ऐसी धारणा हो जाय, तो उसका परिहार हो सके कि, मैंने जो किन्ही वैदिक शब्दो के प्राप्त अर्थों को स्वीकार नही किया है वह मैंने केवल उस बुद्धिपूर्ण अटकल लगाने की स्वाधीनता का लाभ उठाया है जो कि आधुनिक भाषाविज्ञान के जहा बडे भारी आकर्षणों में से एक है, वहा साथ-ही-साथ उस भाषाविज्ञान की सबसे अधिक गभीर कमजोरियो मे से भी एक है।

मेरे अन्वेषणो ने प्रथम मुझे यह विश्वास करा दिया कि शब्द, पौधो की तरह, पशुओ की तरह, किसी भी अर्थ में कृत्रिम उत्पत्ति नही है, किंतु उपचय हैं, वृद्धि हैं, ध्वनि की सजीव वृद्धि हैं और कोई बीजभूत ध्वनिया उनका आधार है। इन बीजभूत ध्वनियो से कुछ प्रारभिक मूलशब्द अपनी सततियो सहित विकसित होते

---

*मेरा विचार है कि मैं इनपर एक पृथक् ही पुस्तक में जो कि "आर्यन भाषा के उद्गमो" के सबध में होगी, चर्चा करूगा।

भेद के व्यक्तीकरण की ओर। यह प्रगतिसम्पन्न होती है विचारो में साहचर्य की प्रक्रियाओं के द्वारा, जो प्रक्रियाए सदा एकसी होती है, सदा लौट-लौटकर आती है और जिनमे (यद्यपि इसमें सन्देह नही कि ये भाषा को बोलनेवाले मनुष्य की परिस्थितियो तथा उसके वास्तविक अनुभवो के कारण ही बनती है, तो भी) विकास के स्थिर स्वाभाविक नियम दिखलायी देते हैं। और आखिरकार नियम इसके अतिरिक्त और क्या है कि, यह एक प्रक्रिया है जो कि वस्तुओ की प्रकृति के द्वारा उनकी परिस्थितियो की आवश्यकताओ के उत्तर में निर्मित हुई है और उनकी क्रियाए करने का एक स्थिर अभ्यास बन गयी है।

भाषा के इस भूतकालीन इतिहास से कुछ परिणाम निकलते है जो कि वैदिक व्याख्या की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व के है। प्रथम तो यह कि इन नियमो के ज्ञान के द्वारा जिनके अनुसार कि ध्वनि तथा अर्थ के सबध सस्कृतभाषा में बने है तथा इसके शब्द-परिवारो के एक सतर्क और सूक्ष्म अध्ययन के द्वारा बहुत हद तक यह सभव है कि पृथक् शब्दो के अतीत इतिहास को फिर से प्राप्त किया जा सके। यह सभव है कि शब्द असल में जिन अर्थों को रखते है उनका कारण बताया जा सके, यह दिखाया जा सके कि किस प्रकार वे अर्थ भाषाविकास की विविध अवस्थाओ में से गुजर कर बने है, शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थों में पारस्परिक सबन्ध स्थापित किया जा सके और इसकी व्याख्या की जा सके कि किस प्रकार विस्तृत भेद के होते हुए तथा कभी कभी उनके अर्थ-मूल्यो में स्पष्ट विरोधिता तक होते हुए भी उसी शब्द के वे अर्थ है। यह भी सम्भव है कि एक निश्चित तथा वैज्ञानिक आधार पर शब्दो के लुप्त अर्थ फिर से पाये जा सके और उन्हे उन साहचर्य के दृष्ट नियमो के प्रमाण द्वारा जिन्होने कि प्राचीन आर्यन भाषाओ के विकास में काम किया है तथा स्वय शब्द की ही छिपी हुई साक्षी के द्वारा और इसके आसन्नतम सजातीय शब्द की समर्थन करनेवाली साक्षी के द्वारा प्रमाणित किया जा सके। इस प्रकार वैदिक भाषा के शब्दो पर विचार करने के लिये एक बिल्कुल अस्थिर तथा आनुमानिक आधार पाने के स्थान पर हम विश्वास के साथ एक सुदृढ और भरोसे लायक आधार पर खडे होकर काम कर सकते हैं।

स्वभावत , इसका यह अभिप्राय नही है कि क्योंकि एक वैदिक शब्द एक समय में

प्रकार की सामाजिक (सामुदायिक) पद्धति से अपना जीवन प्रारम्भ किया जिसमे कि उनके लिये सभव तथा सिद्ध अर्थों का एक सर्वसाधारण भडार था और उन अर्थों के प्रति सबका एक-सा सर्वसाधारण अधिकार था। उनका व्यक्तित्व किसी एक ही विचार को अभिव्यक्त करने के एकाधिकार मे नही, किन्तु इससे कही अधिक उसी एक विचार के अभिव्यक्त करने के अपने छायाभेद मे प्रकट होता था।

भाषा का प्राचीन इतिहास एक विकास है, जो कि शब्दो के इस सामाजिक (सामुदायिक) पद्धति के जीवन से निकलकर एक या अधिक बौद्धिक अर्थों को रखने की एक वैयक्तिक सपत्ति की पद्धति तक आने मे हुआ है। अर्थ-विभाग का नियम पहले-पहल बहुत लचकीला था, फिर बढकर दृढ हुआ, जबतक कि शब्दपरिवार और अन्त में पृथक् पृथक् शब्द अपने ही द्वारा अपना निजी जीवन आरम्भ करने योग्य हो गये। भाषा की बिल्कुल स्वाभाविक वृद्धि की अन्तिम अवस्था तब आती है जब कि, शब्द का जीवन जिस विचार का वह द्योतक है, उस विचार के जीवन के अधीन पूर्ण रूप से हो जाता है। क्योंकि भाषा की प्रथम अवस्था मे शब्द वैसी ही सजीव अथवा उससे भी अधिक सजीव शक्ति होता है, जैसा कि इसका विचार, ध्वनि अर्थ को निश्चित करती है। इसकी अन्तिम अवस्था में ये स्थितिया उलट जाती है, सारा का सारा महत्त्व विचार को मिल जाता है, ध्वनि गौण हो जाती है।

भाषा के प्रारम्भिक इतिहास का दूसरा विशिष्ट अग यह है कि पहिले-पहिल यह विचारो के सविशेष रूप से बहुत ही छोटे भडार को प्रकट करती है और ये अधिक से अधिक जितने सामान्य हो सकते है उतने सामान्य प्रकार के विचार होते है और सामान्यतया अधिक-से-अधिक मूर्त होते है, जैसे कि प्रकाश, गति, स्पर्श, पदार्थ, विस्तार, शक्ति, वेग इत्यादि। इसके बाद विचार की विविधता मे और विचार की निश्चितता मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। यह वृद्धि होती है सामान्य से विशेष की ओर, अनिश्चित से निश्चित की ओर, भौतिक से मानसिक की ओर, मूर्त से अमूर्त की ओर, और सदृश वस्तुओ के विषय मे इन्द्रियानुभवो की अत्यधिक विविधता के व्यक्तीकरण से सदृश वस्तुओ, अनुभवो, क्रियाओ के बीच निश्चित

भेद के व्यक्तीकरण की ओर। यह प्रगति सम्पन्न होती है विचारो मे साहचर्य की प्रक्रियाओ के द्वारा, जो प्रक्रियाए सदा एकसी होती है, सदा लौट-लौटकर आती है और जिनमें (यद्यपि इसमें सन्देह नही कि ये भाषा को वोलनेवाले मनुष्य की परिस्थितियो तथा उसके वास्तविक अनुभवो के कारण ही वनती है, तो भी) विकास के स्थिर स्वाभाविक नियम दिखलायी देते है। और आखिरकार नियम इसके अतिरिक्त और क्या है कि, यह एक प्रक्रिया है जो कि वस्तुओ की प्रकृति के द्वारा उनकी परिस्थितियो की आवश्यकताओ के उत्तर में निर्मित हुई है और उनकी क्रियाए करने का एक स्थिर अभ्यास वन गयी है।

भाषा के इस भूतकालीन इतिहास से कुछ परिणाम निकलते है जो कि वैदिक व्याख्या की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व के है। प्रथम तो यह कि इन नियमो के ज्ञान के द्वारा जिनके अनुसार कि ध्वनि तथा अर्थ के सवध सस्कृतभाषा मे वने है तथा इसके शब्द-परिवारो के एक सतर्क और सूक्ष्म अध्ययन के द्वारा वहुत हद तक यह सभव है कि पृथक् शब्दो के अतीत इतिहास को फिर से प्राप्त किया जा सके। यह सभव है कि शब्द असल में जिन अर्थों को रखते है उनका कारण वताया जा सके, यह दिखाया जा सके कि किस प्रकार वे अर्थ भाषाविकास की विविध अवस्थाओ में से गुजर कर वने है, शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थों मे पारस्परिक सवन्ध स्थापित किया जा सके और इसकी व्याख्या की जा सके कि किस प्रकार विस्तृत भेद के होते हुए तथा कभी कभी उनके अर्थ-मूल्यो में स्पष्ट विरोधिता तक होते हुए भी उसी शब्द के वे अर्थ है। यह भी सम्भव है कि एक निश्चित तथा वैज्ञानिक आधार पर शब्दो के लुप्त अर्थ फिर से पाये जा सके और उन्हे उन साहचर्य के दृष्ट नियमो के प्रमाण द्वारा जिन्होने कि प्राचीन आर्यन भाषाओ के विकास में काम किया है तथा स्वय शब्द की ही छिपी हुई साक्षी के द्वारा और इसके आसन्नतम सजातीय शब्द की समर्थन करनेवाली साक्षी के द्वारा प्रमाणित किया जा सके। इस प्रकार वैदिक भाषा के शब्दो पर विचार करने के लिये एक विल्कुल अस्थिर तथा आनुमानिक आधार पाने के स्थान पर हम विश्वास के साथ एक सुदृढ और भरोसे लायक आधार पर खड़े होकर काम कर सकते है।

स्वभावत , इसका यह अभिप्राय नहीं है कि क्योकि एक वैदिक शब्द एक समय में

शायद या अवश्य ही किसी विशेष अर्थ को रखता था, इसलिये वह अर्थ सुरक्षित रूप से वेद के असली मूलग्रन्थ में प्रयुक्त किया जा सकता है। परन्तु हम यह अवश्य करते है कि शब्द के एक युक्तियुक्त अर्थ को और वेद मे उसका वही ठीक अर्थ है इसकी स्पष्ट सभावना को स्थापित कर दें। शेष जो रह जाता है वह विषय है उन सन्दर्भो के तुलनात्मक अध्ययन का जिनमें कि वह शब्द आता है, और इसका कि प्रकरण मे वह अर्थ निरतर ठीक वैठता है या नहीं। मैंने लगातार यह पाया है कि एक अर्थ जो कि इस प्रकार प्राप्त किया जाता है जहा कहीं भी लगा-कर देखा जाता है सदा ही प्रकरण को प्रकाशित कर देता है और दूसरी ओर मैंने यह देखा कि सदा प्रकरण के द्वारा जिस अर्थ की माग होती है, वह ठीक वही अर्थ होता है जिसपर हमे शब्द का इतिहास पहुचाता है। नैतिक निश्चयात्मकता के लिये तो यह पर्याप्त आधार है, विल्कुल निश्चयात्मकता के लिये चाहे न भी हो।

दूसरे, भाषा का एक सविशेष अग अपने उद्गमकाल मे यह था कि बहुत सारे भिन्न-भिन्न अर्थो को एक ही शब्द दे सकता था और साथ ही बहुत सारे शब्द ऐसे थे जो कि एक ही विचार को देने के लिये प्रयुक्त होते थे। पीछे से यह उष्णदेशीय बहुतायत घटने लगी। बुद्धि अपनी निश्चयात्मकता की बढती हुई माग के साथ, मितव्ययता की बढती हुई दृष्टि के साथ बीच मे आयी। शब्दो की धारण-क्षमता उत्तरोत्तर कम होती गयी, और यह कम और कम सह्य होता गया कि एक ही विचार के लिये आवश्यकता से अधिक शब्द लगे हुए हो, एक ही शब्द के लिये आवश्यकता से अधिक भिन्न-भिन्न विचार हो। इस विषय में एक बहुत बडी, यद्यपि अत्यधिक कठोर नहीं, परिमितता, इस माग के द्वारा नियमित होकर कि विभिन्नता का समर्याद वैभव होना ही चाहिये, भाषा का अन्तिम नियम हो गयी। परन्तु सस्कृतभाषा इस विकास की अन्तिम अवस्थाओ तक पूर्ण रूप से कभी नही पहुची, बहुत जल्दी ही यह प्राकृत भाषा के अन्दर विलीन हो गयी। इसके अधिक-से-अधिक उत्तरकालीन और अधिक-से-अधिक साहित्यिक रूप तक में एक ही शब्द के लिये अत्यधिक विभिन्न अर्थ पाये जाते है, यह आवश्यकता से अधिक पर्यायो की सम्पत्ति से लदी हुई है। इसलिये आलकारिक प्रयोगो के लिये सस्कृत-भाषा असाधारण क्षमता रखती है, जिसका कि किसी दूसरी भाषा मे होना कठिन,

जबर्दस्ती से किया गया, तथा निराशाजनक रूप से कृत्रिम होगा और यह बात है और भी विशेषतया श्लेष–द्व्यर्थक अलकार–के लिये।

फिर वेद की सस्कृत तो भाषा के विकास में और भी अधिक प्राचीन स्तर को सूचित करती है। अपने बाह्य रूपो तक में किसी भी प्रथम वर्ग की भाषा की अपेक्षा यह अपेक्षाकृत कम नियत है, यह रूपो और विभक्तियो की विविधता से भरी पडी है, यह द्रव की तरह अस्थिर और आकार मे अनिश्चित है, फिर भी अपने कारको तथा कालो के प्रयोग में यह अत्यधिक सूक्ष्म है। यह अपने मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक पार्श्व मे अभी नियमिताकार नहीं हुई है, यह बौद्धिक निश्चयात्मकता के दृढ रूपो में जमकर अभी पूर्ण रूप से कठोर नही बनी है। वैदिक ऋषियो के लिये शब्द अब भी एक सजीव वस्तु है, उत्पादक निर्माणात्मक शक्ति की एक वस्तु है। अब भी यह विचार के लिये एक रूढिसकेत नही है, बल्कि स्वय विचारो का जनक और निर्माता है। यह अपने अदर अपनी मूल धातुओ की स्मृति को रखे हुए है, अबतक यह अपने इतिहास से अभिज्ञ है।

ऋषियो का भाषा का प्रयोग शब्द के इस प्राचीन मनोविज्ञान के द्वारा शासित था। जब अग्रेजी भाषा में हम 'वुल्फ' (Wolf) या 'काउ' (Cow) शब्द का प्रयोग करते है तो हमें इनसे केवलमात्र वे पशु (भेडिया या गाय) अभिप्रेत होते है जिनके कि वाचक ये शब्द है, हमें किसी ऐसे कारण का ज्ञान नहीं होता कि क्यो हमें अमुक ध्वनि अमुक विचार के लिये प्रयुक्त करनी चाहिये, सिवाय इसके कि हम कहे कि भाषा का स्मरणातीत अतिप्राचीन व्यवहार ऐसा ही चला आता है; और हम इसे किसी दूसरे अर्थ या अभिप्राय के लिये भी व्यवहृत नही कर सकते, सिवाय किसी कृत्रिम भाषाशैली के कौशल के तौर पर। परन्तु वैदिक ऋषि के लिये 'वृक' का अभिप्राय था 'विदारक' और इसलिये इस अर्थ के दूसरे विनियोगो मे यह भेडिये का वाची भी हो जाता था, 'धेनु' का अर्थ था 'प्रीणयित्री' 'पालयित्री' और इसीलिये इसका अर्थ गाय भी था। परन्तु मौलिक और सामान्य अर्थ मुख्य है, निष्पन्न और विशेष अर्थ गौण है। इसलिये सूक्त के रचयिता के लिये यह सभव था कि वह इन सामान्य शब्दो को एक बडी लचक के साथ प्रयुक्त करे, कभी वह भेडिये या गाय की प्रतिमा को अपने सामने रखे, कभी इसका प्रयोग अपेक्षाकृत

अधिक सामान्य अर्थ की रगत देने के लिये करे, कभी वह इसे उस आध्यात्मिक विचार के लिये जिसपर कि उसका मन काम कर रहा है केवल एक रश्मिकेत के तौर पर रखे, कभी प्रतिमा को दृष्टि से सर्वथा ओझल कर दे। प्राचीन भापा के इस मनोविज्ञान के प्रकाश में ही हमने वैदिक प्रतीकवाद के अद्भुत अलकारो को समझना है, जैसा कि ऋषियो ने उन्हे प्रयुक्त किया है, उनतक को जो कि अत्यधिक सामान्य और मूर्त प्रतीत होते है। यही रूप है, जिसमें कि इस प्रकार के शब्द जैसे कि "घृतम्" घी, "सोम" पवित्र सुरा, तथा अन्य बहुतसे शब्द प्रयुक्त किये गये है।

इसके अतिरिक्त, एक ही शब्द के भिन्न अर्थो के बीच में विचार के द्वारा बनाये गये विभाग उसकी अपेक्षा बहुत कम भेदात्मक होते थे जैसे कि आधुनिक बोलचाल की भाषा में। अग्रेजी भाषा में "फ्लीट" (Fleet) जिसका अर्थ कि जहाजो का बेडा है और "फ्लीट" (Fleet) जिसका अर्थ तेज है, दो भिन्न-भिन्न शब्द है, जब हम पहले अर्थ में "फ्लीट" का प्रयोग करते है तब हम जहाज की गति की तेजी को विचार में नही लाते, नाही जब हम इस शब्द को दूसरे अर्थ मे प्रयुक्त करते है तो उस समय हम समुद्र में जहाज के तेजी के साथ चलने को ध्यान में लाते है। परन्तु ठीक यही बात है जो कि भापा के वैदिक प्रयोग मे प्राय होती है। 'भग' जिसका अर्थ 'आनन्द' है और "भग" जिसका अर्थ 'भाग' है, वैदिक मन के लिये दो भिन्न-भिन्न शब्द नही है, परन्तु एक ही शब्द है जो इस प्रकार विकसित होते-होते दो भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने लग पडा है। इसलिये ऋषियो के लिये यह आसान था कि वे इसे दोनो में से किसी एक अर्थ में प्रयुक्त करे और साथ में उसके पृष्ठ में दूसरा अर्थ भी रहे और वह इसके प्रत्यक्ष वाच्यार्थ को अपनी रगत देता रहे अथवा यहा तक हो सकता था कि इसे वे किसी एकत्रीकृत अर्थ के अलकार द्वारा एक ही समय एकसमान दोनो अर्थों में प्रयुक्त करे। "चमस्" का अर्थ था 'भोजन' परन्तु साथ ही इसका अर्थ 'आनन्द, सुख' भी होता था, इसलिये ऋषि इसका प्रयोग इस रूप में कर सकते थे कि, असस्कृत मन के लिये इससे केवल उस भोजन का ग्रहण हो जो कि यज्ञ में देवताओ को दिया जाता था, पर दीक्षित के लिये इसका अर्थ हो आनन्द, भौतिक चेतना के अदर प्रविष्ट होता हुआ

दिव्य सुख का आनन्द, और इसके साथ ही यह सोम-रस के रूपक की ओर संकेत करता हो, जो कि एकसाथ देवो का भोजन तथा आनद का वैदिक प्रतीक दोनो है।

हम देखते है कि भाषा का इस प्रकार का प्रयोग वैदिक मन्त्रो की वाणी मे सर्वत्र प्रधानरूप से पाया जाता है। यह एक बडा अच्छा उपाय था जिसके द्वारा कि प्राचीन रहस्यवादियो ने अपने कार्य की कठिनाई को दूर कर पाया था। सामान्य पूजक के लिये 'अग्नि' का अभिप्राय केवलमात्र वैदिक आग का देवता हो सकता था, या इसका अभिप्राय भौतिक प्रकृति में काम करनेवाला ताप या प्रकाश का तत्त्व हो सकता था अथवा अत्यत अज्ञानी मनुष्य के लिये इसका अर्थ केवल एक अतिमानुप व्यक्तित्व हो सकता था जो कि 'धनदौलत देनेवाले', मनुष्य की कामना को पूर्ण करनेवाले, इस प्रकार के अनेक व्यक्तित्वो में एक है। पर उनके लिये, इमसे क्या सूचित होता, जो कि एक गभीरतर विचार के, देव (परमेश्वर) के आध्यात्मिक व्यापारो के योग्य थे ? इस कार्य की पूर्ति यह शब्द स्वय कर देता है। क्योकि 'अग्नि' का अर्थ होता था "वलवान्", इसका अर्थ था "चमकीला" या यह भी कह सकते है कि शक्ति, तेजस्विता। इसलिये यह जहा कही भी आये, आसानी से दीक्षित को प्रकाशमय शक्ति के विचार का स्मरण करा सकता था, जो कि लोको का निर्माण करती है और जो मनुष्य को ऊचा उठाकर सर्वोच्च को प्राप्त करा देती है, महान् कर्म का अनुष्ठाता है, मानव-यज्ञ का पुरोहित है।

और श्रोता के मन में यह कैसे वैठता कि ये सव देवता एक ही विश्वव्यापक देव के व्यक्तित्व है ? देवताओ के नाम, अपने अर्थ में ही, इसका स्मरण कराते है कि वे केवल विशेषण है, अर्थसूचक नाम है, वर्णन है न कि किसी स्वतन्त्र व्यक्ति के वाचक नाम। मित्र देवता प्रेम और सामजस्य का अधिपति है, भग सुखोपभोग का अधिपति है, सूर्य प्रकाश का अधिपति है, वरुण है उस देव की सर्वव्यापक विशालता और पवित्रता जो कि जगत् को धारण तथा पूर्ण करती है। 'सत् तो एक ही है', ऋषि दीर्घतमस् कहता है, 'पर सत लोग उसे भिन्न-भिन्न रूपो में प्रकट करते है, वे 'इन्द्र' कहते है, 'वरुण' कहते है, 'मित्र' कहते है, 'अग्नि' कहते है,

वे इसे 'अग्नि' नाम से पुकारते हैं, 'यम' नाम से, 'मातरिश्वा' नाम से'।* वैदिक ज्ञान के प्राचीनतर काल में दीक्षित इस स्पष्ट स्थापना की आवश्यकता नहीं रखता था। देवताओ के नाम स्वय ही उसे अपने अर्थ बता देते थे और उसे उस महान् आधारभूत सत्य का स्मरण कराये रहते थे जो कि सदा उसके साथ रहता था।

परतु बाद के युगो में यह उपाय ही, जो कि ऋषियो द्वारा प्रयुक्त किया गया था, वैदिक ज्ञान की सुरक्षा के प्रतिकूल पड गया। क्योंकि भाषा ने अपना स्वरूप बदल लिया, अपनी प्रारभिक लचक को छोड दिया, अपने पुराने परिचित अर्थों को उतारकर रख दिया, शब्द सकुचित हो गया और सिकुडकर वह अपने अपेक्षाकृत बाह्य तथा स्थूल अर्थ मे सीमित हो गया। आनद का अमृत-रस-पान भुला दिया जाकर भौतिक हवि प्रदान मात्र रह गया, 'घृत' का रूपक केवल गाथाशास्त्र के देवताओ के तृप्ति के लिये किये जानेवाले स्थूल निषेक का ही स्मरण कराने लग गया, आग के और बादल के तथा आधी के देवता केवलमात्र ऐसे देवता रह गये, जिनमें कि भौतिक शक्ति और बाह्य प्रताप के सिवाय और कोई शक्ति नही बची। अक्षरार्थ मात्र प्रचलित रहे, जब कि प्राणरूप असली अर्थो को भुला दिया गया। प्रतीक, वैदिक वाद का शरीर बचा रहा, पर ज्ञान की आत्मा इसके अदर से निकल गयी।

---

*इन्द्रं मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु.।। (ऋ० १।१६४।४६)

सातवां अध्याय

अग्नि और सत्य

ऋग्वेद अपने सब भागो में एकवाक्यता रखता है। इसके दस मण्डलो में से हम कोई-सा ले, उसमें हम एक ही तत्त्व, एक ही विचार, एक-से अलकार और एक ही से वाक्याश पाते है। ऋषिगण एक ही सत्य के द्रष्टा हैं और उसे अभिव्यक्त करते हुए वे एक समान भाषा का प्रयोग करते है। उनका स्वभाव और व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न है, कोई-कोई अपेक्षया अधिक समृद्ध, सूक्ष्म और गभीर अर्थों में वैदिक प्रतीकवाद का प्रयोग करने की प्रवृत्ति रखते है, दूसरे अपने आत्मिक अनुभव को अधिक सादी और सरल भाषा में प्रकट करते है, जिसमें विचारो का उर्वरपन, कवितामय अलकार की अधिकता या भावो की गभीरता और पूर्णता अपेक्षया कम होते है। अधिकतर एक ऋषि के सूक्त विभिन्न प्रकार के है, वे अत्यधिक सरलता से लेकर बहुत ही महान् अर्थगौरव तक शृखलाबद्ध है। अथवा एक ही सूक्त में चढाव-उतार देखने में आते है, वह यज्ञ के सामान्य प्रतीक की बिलकुल साधारण पद्धतियो से शुरू होता है और एक सघन तथा जटिल विचार तक पहुच जाता है। कुछ सूक्त बिलकुल स्पष्ट है और उनकी भाषा लगभग आधुनिक-सी है, दूसरे कुछ ऐसे है जो पहले-पहल अपनी दीखनेवाली विचित्रसी अस्पष्टता से हमें गडबड में डाल देते है। परतु वर्णनशैली की इन विभिन्नताओ से आध्यात्मिक अनुभवो की एकता का कुछ नही बिगडता, न ही उनमें कोई ऐसा पेचीदापन है जो कि नियत परिभाषाओ और सामान्य सूत्रो के ही कहीं बदल जाने के कारण आता हो। जैसे मेधातिथि काण्व के गीतिमय स्पष्ट वर्णनो मे वैसे ही दीर्घतमस् औचथ्य की गभीर तथा रहस्यमय शैली मे, और जैसे वसिष्ठ की एकरस समस्वरताओ मे वैसे ही विश्वामित्र के प्रभावोत्पादक शक्तिशाली सूक्तो में हम ज्ञान की वही दृढ स्थापना और दीक्षितो की पवित्र विधियो का वही सतर्कतायुक्त अनुवर्तन पाते है।

वैदिक रचनाओ की इस विशेषता से यह परिणाम निकलता है कि, व्याख्या की वह प्रणाली भी जिसका कि मैंने उल्लेख किया है एक ही ऋषि के छोटे-से सूक्त-समुदाय के द्वारा वैसी ही अच्छी तरह उदाहरण देकर पुष्ट की जा सकती है जैसे कि दसो मण्डलो से चुनकर इकट्ठे किये हुए कुछ सूक्तो के द्वारा। यदि मेरा प्रयोजन यह हो कि व्याख्या की अपनी इस शैली को जिसे मै दे रहा हू इतनी अच्छी तरह स्थापित कर दू कि इसपर किसी प्रकार की आपत्ति की कोई सभावना न रहे, तो इससे कही वहुत अधिक व्यौरेवार और वडे प्रयत्न की आवश्यकता होगी। सारे-के-सारे दसो मण्डलो की एक आलोचनात्मक परीक्षा अनिवार्य होगी। उदाहरण के लिये, वैदिक पारिभाषिक शब्द 'ऋतम्', सत्य, के साथ मे जिस भाव को जोडता हू अथवा प्रकाश की गौओ के प्रतीक की मै जो व्याख्या करता हू उसे ठीक सिद्ध करने के लिये मेरे लिये यह आवश्यक होगा कि मै उन सभी स्थलो को, चाहे वे किसी भी महत्त्व के हो, उद्धृत करू जिन मे सत्य का विचार अथवा गौ का अलकार आता है और उनकी आशय व प्रकरण की दृष्टि से परीक्षा करके अपनी स्थापना की पुष्टि करू। अथवा यदि मै यह सिद्ध करना चाहू कि वेद का इन्द्र असल में अपने आध्यात्मिक रूप मे प्रकाशयुक्त मन का अधिपति है, जो प्रकाश-युक्त मन 'द्यौ' या आकाश द्वारा निरूपित किया गया है, जिसमें तीन प्रकाशमान लोक, 'रोचना' है, तो मुझे उसी प्रकार से उन सूक्तो की जो इन्द्र को सबोधित किये गये है और उन सन्दर्भों की जिनमें वैदिक लोक-सस्थान का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, परीक्षा करनी होगी। और वेद के विचार ऐसे परस्पर-ग्रथित और अन्योन्याश्रित है कि केवल इतना करना भी पर्याप्त नही हो सकता, जबतक कि अन्य देवताओ की तथा अन्य महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक परिभाषाओ की जिनका कि सत्य के विचार के साथ कुछ सम्बन्ध है और उस मानसिक प्रकाश के साथ सम्बन्ध है जिसमें से गुजरकर मनुष्य उस सत्य तक पहुच पाता है, कुछ आलोचनात्मक परीक्षा न कर ली जाय। मैं अच्छी तरह समझता हू कि इस प्रकार का अपनी स्थापना को प्रमाणित करने का कार्य किये जाने की आवश्यकता है और वैदिक सत्य पर, वेद के देवताओ पर, तथा वैदिक प्रतीको पर अपने अनुशीलन लिखकर इसे पूरा करने की मै आशा भी रखता हू। परन्तु उस उद्देश्य के

लिये किया गया प्रयत्न इस कार्य की सीमा से बिल्कुल बाहर का होगा जिसे कि इस समय मैंने अपने हाथ में लिया है और जो केवल यही तक सीमित है कि, मैं अपनी प्रणाली का सोदाहरण स्पष्टीकरण करू और मेरी कल्पना से जो परिणाम निकलते हैं उनका सक्षिप्त वर्णन करू।

अपनी प्रणाली का स्पष्टीकरण करने के लिये मैं चाहता हू कि प्रथम मण्डल के पहले ग्यारह सूक्त मै लू और दिखाऊ कि, किस प्रकार से आध्यात्मिक व्याख्या के कुछ केन्द्रभूत विचार किन्ही महत्त्वपूर्ण सदर्भों मे से या अकेले सूक्तो मे से निकलते है और किस प्रकार गम्भीरतर विचार-शैली के प्रकाश में उन सन्दर्भों के आसपास के प्रकरण और सूक्तो का सामान्य विचार एक बिल्कुल नया ही रूप धारण कर लेते है।

ऋग्वेद की सहिता, जैसी कि हमारे हाथ मे है, दस भागो मे या मण्डलो मे क्रमबद्ध है। इस क्रमविभाजन में दो प्रकार का नियम दिखायी देता है। इन मण्डलो में से ६ मण्डल ऐसे है, जिनमे प्रत्येक के सूक्तो का ऋषि एक ही है, या एक ही परिवार का है। इस प्रकार दूसरे मण्डल में मुख्य कर गृत्समद ऋषि के सूक्त है, ऐसे ही तीसरे और सातवे मण्डल के सूक्तो के ऋषि क्रम से ख्यातनामा विश्वामित्र और वशिष्ठ है। चौथा मण्डल वामदेव ऋषि का तथा छठा भारद्वाज का है। पाचवा अत्रि-परिवार के सूक्तो से व्याप्त है। इन मण्डलो में से प्रत्येक मे अग्नि को सबोधित किये गये सूक्त सबसे पहिले इकट्ठे करके रख दिये गये है, उसके बाद वे सूक्त आते है, जिनका देवता इद्र है, अन्य देवता बृहस्पति, सूर्य, ऋभव , उषा आदि के आवाहनो से मण्डल समाप्त होता है। नवा मण्डल सारा ही अकेले सोमदेवता को दिया गया है। पहले, आठवे और दसवे मण्डल मे भिन्न-भिन्न ऋषियो के सूक्तो का सग्रह है, परन्तु प्रत्येक ऋषि के सूक्त सामान्यत उनके देवताओ के क्रम से इकट्ठे रखे गये है, सबमे पहले अग्नि आता है, उसके पीछे इद्र और अन्त मे अन्य देवता। इस प्रकार प्रथम मण्डल के प्रारम्भ में विश्वामित्र के पुत्र मधुच्छन्दस् ऋषि के दस सूक्त है और ग्यारहवा सूक्त जेतृ का है, जो मधुच्छन्दस् का पुत्र है। फिर भी यह अन्तिम सूक्त शैली, प्रकार और भाव में उन दस के जैसा ही है, जो इनसे पहिले आये है और इसलिये इन

ग्यारहो सूक्तो को इकट्ठा मिलाकर उन्हे एक ऐसा सूक्तसमुदाय समझा जा सकता है जो भाव और भाषा मे एकसा है।

इन वैदिक सूक्तो को क्रमबद्ध करने मे विचारो के विकास का भी कोई नियम अवश्य काम कर रहा है। प्रारम्भ के मण्डल का रूप ऐसा रखा गया प्रतीत होता है कि, अपने अनेक अगो में वेद का जो सामान्य विचार है, वह निरन्तर अपने आपको खोलता चले, उन प्रतीको की आड में जो कि स्थापित हो चुके है और उन ऋषियो की वाणी द्वारा जिनमे प्राय सभी को विचारक और पवित्र गायक का उच्च पद प्राप्त है और जिनमे से कुछ तो वैदिक परम्परा के सब से अधिक यशस्वी नामो में से है। न ही यह अकस्मात् हो सकता है कि दसवे या अन्तिम मण्डल में जिसमे ऋषियो की अधिक विविधता भी पायी जाती है, हमे वैदिक विचार अपने अन्तिम विकसित रूपो में दिखाई देता है और ऋग्वेद के उन सूक्तो में से जो कि भाषा की दृष्टि से अधिक-से-अधिक आधुनिक है, कुछ इसी मण्डल में है। पुरुष-यज्ञ का सूक्त और सृष्टिसम्बन्धी महान् सूक्त हम इसी मण्डल में पाते है। इसीमें आधुनिक विद्वान् भी यह समझते है कि उन्होने वैदान्तिक दर्शन का, ब्रह्मवाद का, मूल उद्भव खोज निकाला है।

कुछ भी हो, विश्वामित्र के पुत्र तथा पौत्र के ये सूक्त जिनसे ऋग्वेद प्रारम्भ होता है आश्चर्यजनक उत्कृष्टता के साथ वैदिक समस्वरता के प्रथम मुख्य स्वरो को निकालते है। अग्नि को सम्बोधित किया गया पहला सूक्त सत्य के केन्द्र-भूत विचार को प्रकट करता है और यह विचार दूसरे व तीसरे सूक्तो मे और भी दृढ हो जाता है, जहा कि अन्य देवताओ के साथ में इद्र का आवाहन किया गया है। शेष आठ सूक्तो में जिनमें अकेला इन्द्र देवता है, एक (छठे) को छोड-कर जहा कि वह मरुतो के साथ मिल गया है, हम सोम और गौ के प्रतीको को पाते है, प्रतिवन्धक वृत्र को और इन्द्र के उस अपने महान् कृत्य को पाते है जिसमें वह मनुष्य को प्रकाश की ओर ले जाता है और उसकी उन्नति में जो विघ्न आते है उन्हें हटाकर परे फेंक देता है। इस कारण ये सूक्त वेद की अध्यात्मपरक व्याख्या के लिये निर्णयकारक महत्त्व के है।

अग्नि के सूक्त में, पाचवी से लेकर नौवी के पहले तक, ये चार ऋचायें हैं, जिन-

में आध्यात्मिक आशय वडे वल के साथ और वडी स्पष्टता के साथ प्रतीक के आवरण को पार करके वाहर निकल रहा है।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तम ।
देवो देवेभिरा गमत् ॥
यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत् सत्यमङ्गिर ॥
उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि ॥
राजन्तमध्वराणा गोपामृतस्य दीदिविम्।
वर्धमानं स्वे दमे ॥

इस सदर्भ में हम पारिभाषिक शव्दो की एक माला पाते है जिसका कि सीधा ही एक अध्यात्मपरक आशय है, अथवा वह स्पष्ट तौर से इस योग्य है कि उसमें से अध्यात्मपरक आशय निकल सके और इस शव्दावलि ने अपनी इस रगत से सारे-के-सारे प्रकरण को रगा हुआ है। पर फिर भी सायण इसकी विशुद्ध कर्मकाण्ड-परक व्याख्या पर ही आग्रह करता है और यह देखना मजेदार है कि वह इसतक कैसे पहुचता है। पहले वाक्य में हमें 'कवि' शव्द मिलता है जिसका अर्थ द्रष्टा है और यदि हम 'क्रतु' का अर्थ यज्ञ-कर्म ही मान ले तो भी परिणामत इसका अभिप्राय होगा–"अग्नि, वह ऋत्विज् जिसका कि कर्म या यज्ञ द्रष्टा का है।" और यह ऐसा अनुवाद है जो तुरन्त यज्ञ को एक प्रतीक का रूप दे देता है और अपने-आपमें इसके लिये पर्याप्त है कि वेद को और भी गम्भीर रूप से समझने मे वीज का काम दे सके। सायण अनुभव करता है कि उसे इस कठिनाई को जिस किसी प्रकार से भी परे हटाना चाहिये और इसलिये वह 'कवि' मे जो द्रष्टा का भाव है, उसे छोड देता है और इसका एक दूसरा ही नया सा अप्रचलित अर्थ कर देता है*। आगे फिर वह व्याख्या करता है कि 'अग्नि' 'सत्य' है, सच्चा है, क्योकि वह यज्ञ के फल को अवश्य देता है। 'श्रवस्' का अनुवाद सायण करता है "कीर्ति",

---

*"कविशव्दोऽत्र क्रातवचनो न तु मेधाविनाम"–सायण

उन सब स्वाभाविक निर्देशो की उपेक्षा की है जिनके लिये ऋषि की भाषा हमपर दबाव डालती है।

तो अब हमे इस सिद्धात को छोडकर इसके स्थान पर दूसरे सिद्धात का अनुसरण करना चाहिये। और ईश्वर-प्रेरित मूल वेद के शब्दो को उनका जो आध्यात्मिक मूल्य है, वह उन्हें पूर्ण रूप से देना चाहिये। 'क्रतु' का अर्थ सस्कृत मे कर्म या क्रिया है, विशेषकर यह कर्म यज्ञ के अर्थो में, परन्तु इसका अर्थ वह शक्ति या बल (ग्रीक क्रटोस 'Kratos') भी होता है जो कि क्रिया को उत्पन्न करने में समर्थ हो। आध्यात्मिक रूप में यह शक्ति जो क्रिया मे समर्थ होती है, सकल्प है। इस शब्द का अर्थ मन या बुद्धि भी हो सकता है और सायण स्वीकार करता कि इसका एक सभव अर्थ विचार या ज्ञान भी है। 'श्रवस्' का शाब्दिक अर्थ सुनना है और इस मुख्य अर्थ से ही इसका आनुषगिक अर्थ 'कीर्ति' लिया गया है। पर अध्यात्मरूप से, इसमें जो सुनने का भाव है वह सस्कृत में एक दूसरे ही भाव को देता है, जिसे हम 'श्रवण', 'श्रुति', 'श्रुत'—ईश्वरीय ज्ञान या वह ज्ञान जो अन्त प्रेरणा से आता है—में पाते है। 'दृष्टि' और 'श्रुति', दर्शन और श्रवण, स्वत प्रकाश और अन्त स्फुरणा ये उस अतिमानस सामर्थ्य की दो शक्तिया है जिसका सबध सत्य के, 'ऋतम्' के प्राचीन वैदिक विचार से है। कोषकारो ने 'श्रवस्' शब्द को इस अर्थ में नही दिखाया है, परतु 'वैदिक ऋचा, एक वैदिक सूक्त, वेद के ईश्वरप्रेरित शब्द' इस अर्थ में यह शब्द स्वीकार किया गया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी समय में यह शब्द अन्त प्रेरित ज्ञान के या किसी ऐसी वस्तु के भाव को देता था जो कि अन्त स्फुरित हुई हो, चाहे वह शब्द हो या ज्ञान हो। तो इस अर्थ को, कम-से-कम अस्थायी तौर पर ही सही, हमें उपस्थित सदर्भ में लगाने का अधिकार है, क्योकि दूसरा कीर्ति का अर्थ इस प्रकरण में बिलकुल असगत और निरर्थक लगता है। फिर नमस् शब्द का भी आध्यात्मिक आशय लेना चाहिये, क्योकि इसका शाब्दिक अर्थ है "नीचे झुकना" और इसका प्रयोग देवता के प्रति की गयी सत्कारसूचक नम्रता की क्रिया के लिये होता है जो कि भौतिक रूप से शरीर को दण्डवत् करके की जाती है। इसलिये जब ऋषि "विचार द्वारा अग्नि के लिये नम धारण करने" की बात कहता है तो इसपर हम

मुश्किल से ही सदेह कर सकते है कि वह 'नमस्' को आध्यात्मिक तौर पर आन्तरिक नमस्कार के, देवता के प्रति हृदय से नत हो जाने या आत्म-समर्पण करने के अर्थ में प्रयोग कर रहा है।

तो हम उपर्युक्त चार ऋचाओ का यह अर्थ पाते है–

"अग्नि, जो यज्ञ का होता है, कर्म के प्रति जिसका सकल्प द्रष्टा का सा है, जो सत्य है, नानाविध अन्त प्रेरणा का जो महाधनी है, वह देव देवो के साथ आवे।"

"वह भलाई जो तू हवि देनेवाले के लिये करेगा, वही तेरा वह सत्य है, हे अगिर!"

"तेरे प्रति दिन-प्रतिदिन, हे अग्ने! रात्रि मे और प्रकाश में, हम विचार के द्वारा अपने आत्म-समर्पण को धारण करते हुए आते है।"

"तेरे प्रति, जो तू यज्ञो में देदीप्यमान होता है (या जो यज्ञो पर राज्य करता है), सत्य का और इसकी ज्योति का सरक्षक है, अपने घर मे वढ रहा है।"

हमारे इस अनुवाद में यह त्रुटि है कि हमें 'सत्यम्' और 'ऋतम्' दोनोंके लिये एक ही शब्द प्रयुक्त करना पडा है, जब कि, जैसे कि हमें 'सत्यम् ऋतम् वृहत्' इस सूत्र मे देखने से पता चलता है, वैदिक विचार मे इन दोनो शब्दो के ठीक-ठीक अर्थ में अतर था। अस्तु।

तो फिर यह अग्निदेवता कौन है जिसके लिये ऐसी रहस्यमयी तेजस्विता की भाषा प्रयुक्त की गयी है, जिसके साथ इतने महान् और गभीर कार्यों का सबध जोडा गया है? यह सत्य का सरक्षक कौन है जो अपने कार्य में इस सत्य का प्रकाशरूप है, कर्म मे जिसका सकल्प एक ऐसे द्रष्टा का सकल्प है जो अपनी नाना प्रकार से विविध अन्त प्रेरणाओ पर शासन करनेवाली दिव्य बुद्धि से युक्त है? वह सत्य क्या वस्तु है जिसकी वह रक्षा करता है? और वह भद्र क्या है जिसे वह उस हवि देनेवाले के लिये करता है जो उसके पास सदा दिनरात विचार में हविरूप मे नमन और आत्म-समर्पण को धारण किये हुए आता है? क्या यह सोना है और घोडे है और गौए है, जिन्हे वह लाता है, अथवा यह कोई अधिक दिव्य ऐश्वर्य है?

यह यज्ञ की अग्नि नही है जो इन सब कार्यो को कर सके, न ही वह कोई भौतिक ज्वाला अथवा भौतिक ताप और प्रकाश का कोई तत्त्व हो सकता है। तो भी

सर्वत्र यज्ञिय अग्नि के प्रतीक का अवलबन किया गया है। यह स्पष्ट है कि हमारे सामने एक रहस्यमय प्रतीकवाद है, जिसमे अग्नि, यज्ञ, होता, ये सब एक गभीरतर शिक्षण के केवल बाह्य अलकारमात्र है और फिर भी ऐसे अलकार जिनका अवलबन करना और निरतर अपने सामने रखना आवश्यक समझा गया था।

उपनिषदो की प्राचीन वैदान्तिक शिक्षा मे सत्य का एक विचार देखने मे आता है जो अधिकतर सूत्रो के द्वारा प्रकट किया गया है और वे सूत्र वेद की ऋचाओ में से लिये गये है, जैसे कि एक वाक्य जिसे हम पहले ही उद्धृत कर चुके है, यह है "सत्यम् ऋतम् बृहत्"—सच, ठीक और महान्। वेद में इस सत्य के विषय मे कहा गया है कि यह एक मार्ग है जो सुख की ओर ले जाता है, अमरता की ओर ले जाता है। उपनिषदो मे भी यही कहा है कि सत्य के मार्ग द्वारा ही सन्त या द्रष्टा, ऋषि या कवि पार पहुचता है। वह असत्य को पार कर लेता है, मर्त्य अवस्था को पार करके अमर सत्ता मे पहुच जाता है। इसलिये हमे यह कल्पना करने का अधिकार है कि, यह एक ही विचार ह जिसपर वेद मे और वेदान्त में दोनो जगह चर्चा चल रही है।

यह आध्यात्मिक विचार उस सत्य के विषय में है, जो दिव्य तत्त्व का सत्य है, न कि वह जो कि मर्त्य अनुभव का और दीखने का सत्य है। वह 'सत्यम्' है, सत्ता का सत्य है, अपनी क्रियारूप में यह 'ऋतम्' है, व्यापार का सत्य है,—दिव्य सत्ता का सत्य जो मन और शरीर दोनो की सही क्रिया को नियमित करता है, यह 'बृहत्' है, वह सार्वत्रिक सत्य है, जो असीम में से सीधा और अविकृत रूप से निकलता है। वह चेतना भी जो कि इसके अनुरूप होती है, असीम है, 'बृहत्' है, महान् है, विपरीत उस अनुभवशील मन की चेतना के जो कि ससीमता पर आश्रित है। एक को 'भूमा', विशाल कहा गया है, दूसरी को 'अल्प' छोटा। इस अतिमानस या सत्य-चेतना का एक दूसरा नाम 'मह' है और इसका अर्थ भी 'महान्', 'विशाल' यही है और ऐन्द्रियक अनुभव होने तथा दिखाई देने के तथ्यो के लिये जो कि मिथ्या ज्ञान से ('अनृतम्', जो सत्य नही है, या जो मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओ में 'सत्यम्' का अशुद्ध तरीके पर प्रयोग है, उससे) भरे होते है जैसे हमारे पास उपकरण-रूप में इद्रिया, अनुभवशील मन (मन) और बुद्धि

(जो कि उनकी साक्षी पर कार्य करती है) है, वैसे ही सत्य चेतना के लिये उसीके अनुरूप शक्तिया है–'दृष्टि', 'श्रुति', 'विवेक', सत्य का अपरोक्ष दर्शन, इसके शब्द का अपरोक्ष श्रवण, और जो ठीक हो उसकी अपरोक्ष विवेचन द्वारा पहिचान। जो कोई इस सत्य चेतना से युक्त होता है या इस योग्य होता है कि ये शक्तिया उसमें अपनी क्रिया करे, वह ऋषि या 'कवि' है, सन्त या द्रष्टा है। सत्य के, 'सत्यम्' और 'ऋतम्' के ये ही विचार है जिनको कि हमें वेद के इस प्रारम्भिक सूक्त में लगाना चाहिये।

अग्नि वेद में हमेशा शक्ति और प्रकाश के द्विविध रूप में आता है। यह वह दिव्य शक्ति है जो लोको का निर्माण करती है, एक शक्ति है जो सर्वदा पूर्ण ज्ञान के साथ क्रिया करती है, क्योकि यह 'जातवेदस्' है, सब जन्मो को जाननेवाली है, 'विश्वानि वयुनानि विद्वान्'–यह सब व्यक्त रूपो या घटनाओ को जानती है अथवा दिव्य बुद्धि के सब रूपो और व्यापारो से वह युक्त है। इसके अतिरिक्त, यह वार-बार कहा गया है कि अग्नि को देवो ने मर्त्यों में अमृत रूप से स्थापित किया है, मनुष्य में दिव्य शक्ति के रूप में, उस पूर्ण करनेवाली, सिद्ध करनेवाली शक्ति के रूप में रखा है जिसके द्वारा वे देवता उस मनुष्य के अन्दर अपना कार्य करते है। यह कार्य है जिसका कि प्रतीक यज्ञ को बनाया गया है।

तो आध्यात्मिक रूप मे अग्नि का अर्थ हम दिव्य सकल्प ले सकते है, वह दिव्य सकल्प जो पूर्ण रूप से दिव्य बुद्धि के द्वारा प्रेरित होता है और असल में जो इस बुद्धि के साथ एक है, जो वह शक्ति है जिससे सत्य चेतना क्रिया करती है या प्रभाव डालती है। 'कविक्रतु' शब्द का स्पष्ट आशय है, वह जिसका क्रियाशील सकल्प या प्रभावक शक्ति द्रष्टा की है, अर्थात् जो उस ज्ञान के साथ कार्य करता है जो सत्य-चेतना से आनेवाला ज्ञान है और जिसमे कोई भ्रान्ति या गलती नही है। आगे जो विशेषण आये है वे इस व्याख्या को और भी पुष्ट करते है। अग्नि 'सत्य' है, अपनी सत्ता में सच्चा है, अपने निजी सत्य पर और वस्तुओ के सारभूत सत्य पर जो इसका पूर्ण अधिकार है उसके कारण से इसमें यह सामर्थ्य है कि वह इस सत्य का शक्ति की सब क्रियाओ और गतियो में पूर्णता के साथ उपयोग कर सकता है। इसके पास दोनो है, 'सत्यम्' और 'ऋतम्'।

इसके अतिरिक्त वह 'चित्रश्रवस्तम' है, 'ऋतम्' से उसमे अत्यधिक प्रकाशमय और विविध अन्त प्रेरणाओ की पूर्णता आती है, जो उसे पूर्ण कार्य करने की क्षमता प्रदान करती है। क्योकि ये सब विशेषण उस अग्नि के है जो 'होता' है, यज्ञ का पुरोहित है, वह है जो हवि प्रदान का कर्त्ता है। इसलिये यज्ञ के प्रतीक से सूचित होनेवाले कार्य (कर्म या अपस्) मे सत्य का प्रयोग करने की उसकी शक्ति ही है जो कि अग्नि को मनुष्य द्वारा यज्ञ मे आहूत किये जाने का पात्र बनाती है। बाह्य यज्ञो में यज्ञिय अग्नि की जो महत्ता है तदनुरूप ही आभ्यन्तर यज्ञ में इस एकीभूत ज्योति और शक्ति के आन्तरिक बल की महत्ता है, उस आभ्यन्तर यज्ञ मे जिसके द्वारा मर्त्य और अमर्त्य मे परस्पर ससर्ग और मर्त्य और अमर्त्य में एक दूसरे के साथ आदान-प्रदान होता है। अन्य स्थलो मे ऐसा वर्णन बहुतायत के साथ पाया जाता है कि अग्नि 'दूत' है, उस ससर्ग और आदान-प्रदान का माध्यम है।

तो हम देखते है कि किस योग्यतावाले अग्नि को यज्ञ के लिये पुकारा गया है, "वह देव अन्य देवो के साथ आये।" "देवो देवेभि" इस पुनरुक्ति के द्वारा जो दिव्यता के विचार पर विशेष बल दिया गया है यह बिल्कुल साफ समझ में आने लगता है जब कि हम अग्नि के इस नियत वर्णन को स्मरण करते है कि, अग्नि जो मनुष्यो मे रहनेवाला देव है, मर्त्यो मे अमर्त्य है, दिव्य अतिथि है। इसे हम पूर्ण आध्यात्मिक रग दे सकते है, यदि यह अनुवाद करे, 'वह दिव्य शक्ति दिव्य शक्तियो के साथ आये।' क्योकि वेदार्थ की बाह्य दृष्टि में देवताए भौतिक प्रकृति की सार्वत्रिक शक्तिया है जिन्हे अपना पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व प्राप्त है, तो किसी भी आन्तरिक दृष्टि मे ये देवतायें अवश्य ही प्रकृति की वे सार्वत्रिक शक्तिया, सकल्प, मन आदि होनी चाहिये जिन द्वारा प्रकृति हमारे अन्दर की हलचलो में काम करती है।

परन्तु वेद मे इन शक्तियो की साधारण मन सीमित या मानवीय क्रिया, 'मनुष्वत्' में और इनकी दिव्य क्रिया में सर्वदा भेद किया गया है। यह कल्पना की गयी है कि मनुष्य देवताओ के प्रति अपने आन्तरिक यज्ञ मे अपनी मानसिक क्रियाओ का सही उपयोग करे तो उन्हे वह उनके सच्चे अर्थात् दिव्य

रूप में रूपान्तरित कर सकता है, मर्त्य अमर वन सकता है। इस प्रकार ऋभु-गण जो कि पहले मानव सत्तायें थी या जो मानव शक्तियो के द्योतक थे, कर्म की पूर्णता के द्वारा–'सुकृत्यया' 'स्वपस्यया'–दिव्य और अमर शक्तिया वन गये। यह मानव का दिव्य को सतत आत्म-समर्पण और दिव्य का मानव के अन्दर सतत अवतरण है जो कि यज्ञ के प्रतीक से प्रकट किया गया प्रतीत होता है।

इस अमरता की अवस्था को जो इस प्रकार प्राप्त होती है आनन्द और परम सुख की अवस्था समझा गया है जिसका आधार एक पूर्ण सत्यानुभव और सत्या-चरण, 'सत्यम्' और 'ऋतम्' है। मै समझता हू इससे अगली ऋचा को हमे अवश्य इसी अर्थ में लेना चाहिये। "वह भलाई (सुख) जो तू हवि देनेवाले के लिये करेगा, वही तेरा वह सत्य है, हे अग्ने!" दूसरे शब्दो में, इस सत्य का (जो इस अग्नि का स्वभाव है) सार है अभद्र से मुक्ति, पूर्ण भद्र और सुख की अवस्था जो 'ऋतम्' के अन्दर रहती है और जिसका मर्त्य मे सृजन होना निश्चित है, जव कि वह मर्त्य अग्नि को दिव्य होता वनाकर उसकी क्रिया द्वारा यज्ञ में हवि देता है। 'भद्रम्' का अर्थ है कोई वस्तु जो भली, शिव, सुखमय हो, और इस शब्द को अपने-आप में कोई गम्भीर अर्थ देने की आवश्यकता नही है। परन्तु वेद मे हम इसे 'ऋतम्' की तरह एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ पाते है।

एक सूक्त (५-८२) में इसका इस रूप मे वर्णन किया गया है कि, यह बुरे-स्वप्न (दुःस्वप्न्यम्) का, 'अनृतम्' की मिथ्या-चेतना का और 'दुरितम्' का, मिथ्या आचरण का विरोधी है,[1] जिसका अभिप्राय होता है कि यह सव प्रकार के पाप और कष्ट का विरोधी है। 'भद्रम्'[2] इसलिये 'सुवितम्' का, सत्य आचरण का समानार्थक है, जिसका अर्थ है वह सव भलाई और सुख कल्याण जो सत्य की, 'ऋतम्' की अवस्था से सम्वन्ध रखता है। यह 'मयस्' है, सुख कल्याण है, और देवताओ को जो कि सत्य-चेतना का प्रतिनिधित्व करते है, 'मयोभुव' कहा गया है अर्थात् वे जो सुख कल्याण लाते है या जो अपनी सत्ता में सुख कल्याण

---

[1] प्रजावत् सावी सौभगम्। परा दुःष्वप्न्यं सुव॥ (ऋ० ५-८२-४)

[2] दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव॥ (ऋ० ५-८२-५)

रखते हैं। इस प्रकार वेद का प्रत्येक भाग, यदि यह अच्छी तरह से समझ मे आ गया है, तो प्रत्येक दूसरे भाग पर प्रकाश डालता है। इसमे परस्पर असगति हमें तभी दीखती है जब इनपर पडे हुए आवरण के कारण हम भटक जाते हैं।

अगली ऋचा में यह प्रतीत होता है कि फलोत्पादक यज्ञ की शर्त बतायी गयी है। वह है दिन-प्रतिदिन, रात मे-प्रकाश मे, मानव के अन्दर उसके विचार का सतत रहना, उस दिव्य सकल्प और बुद्धि के प्रति अधीनता, पूजा और आत्म-समर्पण के साथ जिसका कि प्रतिनिधि अग्नि है। रात और दिन, 'नक्तोषासा', भी वेद के अन्य सब देवो की तरह प्रतीकरूप ही हैं और आशय यह प्रतीत होता है कि चेतना की सभी अवस्थाओ मे, चाहे वे प्रकाशमय हो चाहे धुधली, समस्त क्रियाओ की दिव्य नियन्त्रण के प्रति सतत वशवर्तिता और अनुरूपता होनी चाहिये।

क्योकि चाहे दिन हो चाहे रात, अग्नि यज्ञो मे प्रदीप्त होता है, वह मनुष्य के अन्दर सत्य का, 'ऋतम्' का रक्षक है और अधकार की शक्तियो से इसकी रक्षा करता है, वह इस सत्य का सतत प्रकाश है जो मन की धुधली और पर्याक्रान्त दशाओ में भी प्रदीप्त रहता है। ये विचार जो इस प्रकार आठवी ऋचा मे सक्षेप से दर्शाये गये है, ऋग्वेद में अग्नि के जितने सूक्त है उन सबमे स्थिर रूप से पाये जाते हैं।

अन्त में अग्नि के विषय मे यह कहा गया है कि वह अपने घर में वृद्धि को प्राप्त होता है। अब हम अधिक देर तक इस व्याख्या से सन्तुष्ट नही रह सकते कि अग्नि का अपना घर वैदिक गृहस्थाश्रमी का 'अग्नि-गृह' है। हमे स्वय वेद में ही इसकी कोई दूसरी व्याख्या ढूढनी चाहिये, और वह हमें प्रथम मडल के ७५वे सूक्त में मिल भी जाती है।

यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ ऋत बृहत्। अग्ने यक्षि स्व दमम्। ऋ० १।७५।५

'यज्ञ कर हमारे लिये मित्र और वरुण के प्रति, यज्ञ कर देवो के प्रति, सत्य के, बृहत् के प्रति, हे अग्ने! स्वकीय घर के प्रति यज्ञ कर।'

यहा 'ऋत, बृहत्' और 'स्व दमम्' यज्ञ के लक्ष्य को प्रकट करते हुए प्रतीत होते है और ये पूर्णतया वेद के उस अलकार के अनुरूप है जिसमें यह कहा गया है कि यज्ञ देवो की ओर यात्रा है और मनुष्य स्वय एक यात्री है जो सत्य, ज्योति या आनन्द की ओर अग्रसर हो रहा है। इसलिये यह स्पष्ट है कि 'सत्य', 'बृहत्' और 'अग्नि

का स्वकीय घर' एक ही है। अग्नि और अन्य देवताओ के वारे में वहुवा यह कहा गया है कि वे सत्य में उत्पन्न होते हैं, 'ऋतजात', विस्तार या वृहत् के अन्दर रहते है। तो हमारे इस सदर्भ का आशय यह होगा कि अग्नि जो मनुष्य के अन्दर दिव्य सकल्प और दिव्य शक्ति-रूप है, सत्य-चेतना में जो कि इसका अपना वास्तविक क्षेत्र है, वढता है, जहा मिथ्या वन्धन 'उरौ अनिवाधे,' विस्तृत और असीम में टूट-कर गिर जाते है।

इस प्रकार वेद के प्रारम्भिक सूक्त की इन चार ऋचाओ में हमें वैदिक ऋपियो के प्रधानभूत विचारो के प्रथम चिह्न देखने को मिलते है,—अतिमानस और दिव्य सत्यचेतना का विचार, सत्य की शक्तियो के रूप मे देवताओ का आवाहन, इस-लिये कि वे मर्त्य मन के मिथ्यारूपो में से मनुष्य को निकालकर ऊपर उठाये, इस सत्य के अन्दर और इसके द्वारा पूर्ण भद्र और कल्याण की अमर अवस्था को पाना और दिव्य पूर्णता के साधन-रूप में आभ्यन्तर यज्ञ करना तथा उसमें अपने पाम जो कुछ है एव अपने-आप जो कुछ है उसका हवि-रूप से उत्सर्ग कर देना, जिसके द्वारा कि मनुष्य मर्त्य से अमर हो जाता है। शेष सव वैदिक विचार अपने आध्यात्मिक रूपो मे इन्ही केद्रभूत विचारो के चारो तरफ एकत्रित हो जाते है।

आठवा अध्याय

वरुण, मित्र और सत्य

यदि सत्य का यह विचार जिसे हमने वेद के पहले-पहले ही सूक्त में पाया है अपने अदर वस्तुत उस आशय को रखता है जिसकी हमने कल्पना की है और उस अतिमानस चैतन्य के विचार तक पहुचता है जो कि अमरता या परम पद को पाने की शर्त है और यदि यही वैदिक ऋषियो का मुख्य विचार है तो हमें अवश्य सारे-के-सारे सूक्तो के अदर यह विचार वार-वार आया हुआ मिलना चाहिये, अध्यात्म-विज्ञान-सवधी अन्य सिद्धियो तथा तदाश्रित सिद्धियो के लिये केंद्रभूत विचार के तौर पर मिलना चाहिये। ठीक अगले ही सूक्त मे, जो इन्द्र और वायु को सबो-धित किया गया मधुच्छदस् का दूसरा सूक्त है, हम एक और सदर्भ पाते है जो कि स्पष्ट और विलकुल ही अप्रत्याख्येय आध्यात्मिक निर्देशो से भरा पडा है, जिसमें 'ऋतम्' का विचार अग्निसूक्त की अपेक्षा भी और अधिक वल के साथ रखा गया है। यह सदर्भ इस सूक्त की अतिम तीन ऋचाओ का है जो निम्न है-

मित्र हुवे पूतदक्ष वरुण च रिशादसम्।
धिय घृताचीं साधन्ता॥
ऋतेन मित्रावरुणा ऋतावृधा ऋतस्पृशा।
ऋतु वृहन्तमाशाथे॥
कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया।
दक्ष दधाते अपसम्॥ (१।२।७-९)

इस सदर्भ की पहिली ऋचा में एक शब्द 'दक्ष' आया है जिसका अर्थ सायण ने प्राय बल किया है, पर वस्तुत जो अध्यात्मपरक व्याख्या के योग्य है, एक महत्त्व-पूर्ण शब्द 'घृत' आया है जो 'घृताची' इस विशेषण मे है और एक अपूर्व वाक्याश है-'धिय घृताचीम्'। शब्दश इस ऋचा का यह अनुवाद किया जा सकता है- "मै मित्र का आह्वान करता हू, जो पवित्र वलवाला (अथवा, पवित्र विवेकशक्ति-

वाला) है और वरुण का जो हमारे शत्रुओ का नाशक है, (जो दोनो) प्रकाशमय वुद्धि को सिद्ध करनेवाले (या पूर्ण करनेवाले) है।"

दूसरी ऋचा में हम देखते है कि 'ऋतम्' को तीन वार दोहराया गया है और 'वृहत्' तथा 'क्रतु' शब्द आये है, जिन दोनोको ही वेद की अध्यात्मपरक व्याख्या मे हम वहुत ही अधिक महत्त्व दे चुके है। 'क्रतु' का यहा अर्थ या तो यज्ञ का कर्म है या सिद्धिकारक साधक-शक्ति। पहले अर्थ के पक्ष में हम वेद में इसके जैसा ही एक और सदर्भ पाते है, जिसमें वरुण और मित्र को कहा गया है कि वे 'क्रतु' के द्वारा यज्ञ को अधिगत करते है या उसका भोग करते है, 'क्रतुना यज्ञ-माशाथे' (ऋ०१-१५-६)। परतु यह समानान्तर सदर्भ निर्णायक नही है, क्योकि एक प्रकरण में यदि यह स्वय यज्ञ है जिसका उल्लेख किया गया है, तो दूसरे प्रकरण में उस शक्ति या वल का उल्लेख हो सकता है जिससे कि यज्ञ सिद्ध होता है। और यज्ञ के साथ 'क्रतुना' शब्द वहा भी है ही। इस दूसरी ऋचा का अनुवाद शब्दश यह हो सकता है—"सत्य के द्वारा मित्र और वरुण, जो सत्य को वढानेवाले है, सत्य का स्पर्श करनेवाले है, एक वृहत् कर्म का अथवा एक विशाल (साधक) शक्ति का भोग करते है (या उन्हे अधिगत करते है)।"

अत में तीसरी ऋचा में हमें फिर 'दक्ष' शब्द मिलता है, 'कवि' शब्द मिलता है जिसका अर्थ 'द्रष्टा' है और जिसे पहले ही मधुच्छदस् 'क्रतु' के कर्म या सकल्प के साथ जोड चुका है, सत्य का विचार मिलता है और 'उरुक्षया' यह प्रयोग मिलता है। 'उरुक्षया' मे 'उरु' अर्थात् विस्तृत या विशाल, महान्वाची उस 'वृहत्' का पर्यायवाची हो सकता है जो अग्नि के "स्वकीय घर" सत्यचेतना के लोक या स्तर का वर्णन करने के लिये प्रयुक्त हुआ है। शब्दश मै इस ऋचा का अनुवाद करता हू—"हमारे लिये मित्र और वरुण, जो द्रष्टा है, वहु-जात है, विशाल घरवाले है, उस वल (या विवेकशक्ति) को धारण करते है जो कर्म करने-वाली है।"

यह एकदम स्पष्ट हो जायगा कि दूसरे सूक्त के इस सदर्भ में हमें विचारो का ठीक वही क्रम मिलता है और वहुत से वैसे ही भाव प्रकाशित किये गये है जिन्हे पहले सूक्त में हमने अपना आधार वनाया था। पर उनका प्रयोग भिन्न प्रकार

'डेक्सिअस' की तरह चतुर, कौशलयुक्त, दक्षिण-हस्त है, और सज्ञावाची 'दक्ष' का अर्थ वल तथा दुष्टता भी होता ही है जो कि चोट पहुचाने के अर्थ से निकलता है, पर इसके अतिरिक्त इस परिवार के अन्य शब्दो की तरह मानसिक क्षमता या योग्यता भी होता है। हम इसके साथ 'दशा' शब्द की भी तुलना कर सकते है जो कि मन, वुद्धि के अर्थ में आता है। इन सव प्रमाणो को इकट्ठा लेने पर पर्याप्त स्पष्ट तौर से यह निर्देश मिलता हुआ प्रतीत होता है कि एक समय में अवश्य 'दक्ष' का अर्थ विवेचन, निर्धारण, विवेचक विचारशक्ति रहा होगा और इसका मानसिक क्षमता का अर्थ मानसिक विभाजन के इस अर्थ मे लिया गया है, न कि यह वात है कि शारीरिक वल का विचार मन की शक्ति मे वदल गया हो और इस तरीके से यह अर्थ निकला हो।

इसलिये वेद मे दक्ष के लिये तीन अर्थ सम्भव हो सकते है, वल सामान्यत, मानसिक शक्ति या विशेषत निर्धारण की शक्ति—विवेचन। 'दक्ष' निरन्तर 'क्रतु' के साथ मिला हुआ आता है, ऋषि इन दोनो की एक साथ अभीप्सा करते है, 'दक्षाय क्रत्वे' (जैसे १-१११-२, ४-३७-२, ५-४३-५ में) जिसका सीधा अर्थ हो सकता है, 'क्षमता और साधक शक्ति' अथवा 'विवेक और सकल्प'। लगातार इस शब्द को हम उन सदर्भों में पाते है जहा कि सारा प्रकरण मानसिक व्यापारो का वर्णन कर रहा होता है। अन्तिम वात यह है कि हमारे सामने देवी 'दक्षिणा' है जो कि 'दक्ष' का ही स्त्रीलिंग रूप हो सकता है जो दक्ष अपने-आपमे एक देवता था और वाद में पुराण में आदिम पिता, प्रजापतियो मे से एक माना जाने लगा। हम देखते है कि 'दक्षिणा' का सम्वन्ध ज्ञान के अभिव्यक्तीकरण के साथ है और कही-कही हम यह भी पाते है कि उषा के साथ इसकी एकात्मता कर दी गयी है, उस दिव्य उषा के साथ जो प्रकाश को लानेवाली है। मै यह सुझाव दूगा कि 'दक्षिणा' अपेक्षया अधिक प्रसिद्ध 'इळा', 'सरस्वती' और 'सरमा' के समान ही उन चार देवियो में से एक है जो 'ऋतम्' या सत्यचेतना की चार शक्तियो की द्योतक है, 'इळा' सत्य-दर्शन या दिव्य स्वत प्रकाश (Revelation) की द्योतक है, 'सरस्वती' सत्य-श्रवण, दिव्य-अन्त प्रेरणा (Inspiration) या दिव्य शब्द की, 'सरमा' दिव्य अन्तर्ज्ञान (Intuition) की

और 'दक्षिणा' विभेदक अन्तर्ज्ञानमय विवेक (Separative intuitional discrimination) की। तो 'दक्ष' का अर्थ होगा यह विवेक, चाहे वह मनोमय स्तर में होनेवाला मानसिक निर्धारण हो अथवा 'ऋतम्' के स्तर का अन्तर्ज्ञानमय विवेचन हो।

ये तीन ऋचायें जिनके सम्बन्ध में हम विचार कर रहे हैं, उस एक सूक्त का अन्तिम सदर्भ है जिसकी सबसे पहली तीन ऋचायें अकेले वायु को सम्बोधित करके कही गयी हैं और उससे अगली तीन इन्द्र और वायु को। मन्त्रो की अध्यात्म-परक व्याख्या के अनुसार इन्द्र, जैसा कि हम आगे देखेंगे, मन शक्ति का प्रतिनिधि है। ऐन्द्रियिक ज्ञान की साधनभूत शक्तियो के लिये प्रयुक्त होने-वाला 'इद्रिय' शब्द इस 'इन्द्र' के नाम से ही लिया गया है। उसका मुख्य लोक 'स्व' है, इस 'स्व' शब्द का अर्थ सूर्य या प्रकाशमान है, यह सूर्यवाची 'सूर' और 'सूर्य' का सजातीय है और तीसरी वैदिक व्याहृति तथा तीसरे वैदिक लोक के लिये प्रयुक्त होता है जो कि विशुद्ध अन्धकाररहित व अनाच्छादित मन का लोक है। सूर्य द्योतक है 'ऋतम्' के उस प्रकाश का जो कि मन पर उदय होना है, 'स्व' मनोमय चेतना का वह लोक है जो साक्षात् रूप से इस प्रकाश को ग्रहण करता है। दूसरी ओर 'वायु' का सम्बन्ध हमेशा प्राण-शक्ति या जीवन-शक्ति के साथ है, जो उन सब वातिक क्रियाओ के एक समुदायभूत वातसस्थान को अपना अश प्रदान करती है जो कि क्रियायें मनुष्य के अन्दर इन्द्र के द्वारा अधि-ष्ठित मानसिक शक्तियो का अवलम्ब होती हैं। इन दोनो इन्द्र और वायु के सयोग से ही मनुष्य की साधारण मनोवृत्ति बनी हुई है। इस सूक्त मे इन दोनो देवताओ को निमन्त्रित किया गया है कि वे आयें और दोनो मिलकर सोम-रस को पीने में हिस्सा ले। यह सोम-रस उस आनन्द की मस्ती का, सत्ता के दिव्य आनन्द का प्रतिनिधि है जो कि 'ऋतम्' या सत्य के बीच में से होकर अतिमानस चेतना से मन में प्रवाहित होता है। अपने इस कथन की पुष्टि मे हमें वेद में असख्यो प्रमाण मिलते हैं, विशेषकर नवम मण्डल मे जिसमें कि सोमदेवता को कहे गये सौ से ऊपर सूक्तो का सग्रह है। यदि हम इन व्याख्याओ को स्वीकार कर ले, तो हम आसानी के साथ इस सूक्त को इसके अध्यात्म-परक अर्थ में अनू-

दित कर सकते हैं।

इन्द्र और वायु, सोम-रस के प्रवाहो के प्रति चेतना मे जागृत रहते हैं (चेतथ), अभिप्राय यह कि मन शक्ति और प्राण-शक्ति को मनुष्य की मनोवृत्ति मे एक साथ कार्य करते हुए, ऊपर से आनेवाले इस आनन्द के, इस अमृत के, इम परम सुख और अमरता के अन्त प्रवाह के प्रति जागृत होना है। वे उमे मनोमय तथा वातिक शक्तियो की पूर्ण प्रचुरता मे अपने अन्दर ग्रहण करती है, **चेतथ सुताना वाजिनीवसू'** (पाचवा मन्त्र)। इस प्रकार ग्रहण किया हुआ आनन्द एक नयी क्रिया करता है, जो मर्त्य के अन्दर अमर चेतना का सृजन करती है और इन्द्र तथा वायु को निमन्त्रित किया गया है कि वे आये और विचार के योगदान द्वारा इन नयी क्रियाओ को शीघ्रता के साथ पूर्ण करे, **आयातम् उप निष्कृतम् मक्षु धिया'** (छठा मत्र)। क्योकि 'धी' है विचार-शक्ति, बुद्धि या समझ। यह 'धी' इन्द्र तथा वायु की सयुक्त क्रिया द्वारा प्रदर्शित होनेवाली साधारण मनोवृत्ति के और 'ऋतम्' या सत्य चेतना के मध्यवर्तिनी है, इन दोनो के बीच मे स्थित है।

ठीक यह प्रसग है जब कि वरुण और मित्र बीच मे आते है और हमारा सदर्भ शुरू होता है। अध्यात्म-सम्बन्धी उपर्युक्त सूत्र को बिना पाये इस सूक्त के पहिले हिस्से और अन्तिम हिस्से मे परस्परसम्बन्ध बहुत स्पष्ट नही होता, न ही वरुण-मित्र तथा इन्द्र-वायु इन युगलो मे कोई स्पष्ट सम्बन्ध दीखता है। उस सूत्र के पा लेने पर दोनो सम्बन्ध बिल्कुल स्पष्ट हो जाते है, वस्तुत वे एक दूसरे पर आश्रित है। क्योकि सूक्त के पहले भाग का विषय है—पहले तो प्राण-शक्तियो की तैयारी, जिनका द्योतक वायु है, जिस अकेले का पहिली तीन ऋचा-ओ में आह्वान किया गया है, फिर मनोवृत्ति की तैयारी जो कि इन्द्र-वायु के जोडे से प्रकट की गयी है, जिससे कि मनुष्य के अन्दर सत्यचेतना की क्रियाए हो सके, सूक्त के अन्तिम भाग का विषय है—मानसिक वृत्ति पर सत्य की क्रिया का होना, इस प्रकार जिससे कि बुद्धि पूर्ण हो और क्रिया का रूप व्यापक हो। वरुण और मित्र उन चार देवताओ में से दो है जो कि मनुष्य के मन और स्वभाव में होने-वाली सत्य की इस क्रिया के प्रतिनिधि है।

यह वेद की शैली है कि उसमें जब कोई इस प्रकार का विचार-सक्रमण होता

है—विचार की एक धारा उसमें से विकसित हुई दूसरी धारा में बदल जाती है—तो उनके सम्बन्ध की कडी प्राय इस प्रकार दर्शाई जाती है कि, नयी धारा मे एक ऐसे महत्त्वपूर्ण शब्द को दुहरा दिया जाता है जो कि पूर्ववर्ती धारा की समाप्ति मे पहले भी आ चुका होता है। इस प्रकार यह नियम, जिसे कि कोई 'प्रति-ध्वनि द्वारा सूचना देने का नियम' यह नाम दे सकता है, सूक्तो मे व्यापक रूप से पाया जाता है और यह सभी ऋषियो की एकसी पद्धति है। दो धाराओ को जोडनेवाला शब्द यहा 'धी' है, जिसका अर्थ है विचार या बुद्धि। 'धी' मति से भिन्न है, जो अपेक्षया अधिक साधारण शब्द है। मति शब्द का अर्थ होता है, सामान्यतया मानसिक वृत्ति या मानसिक क्रिया, और यह कभी विचार का, कभी अनुभव का तथा कभी सारी ही मानसिक दशा का निर्देश करता है। 'धी' है विचारक मन या बुद्धि, बुद्धि (समझ) के रूप में यह जो इसके पास आता है उसे धारण करती है, प्रत्येक का स्वरूप निर्धारण करती है और उसे उचित स्थान में रखती है,* अथवा यो कहना चाहिये धी प्राय बुद्धि की, विशिष्ट विचार या विचारो की क्रिया को निर्दिष्ट करती है। यह विचार ही है जिसके द्वारा इन्द्र और वायु का आवाहन किया गया है कि वे आकर वातिक (प्राणमय) मनोवृत्ति को पूर्णता प्राप्त करायें 'निष्कृत धिया'। पर यह उपकरण, 'विचार' स्वय ऐसा है जिसे पूर्ण करने की, समृद्ध करने की, शुद्ध करने की आवश्यकता है, इससे पहिले कि मन सत्यचेतना के साथ निर्बाध ससर्ग करने के योग्य हो सके। इसलिये वरुण और मित्र का, जो कि सत्य की शक्तिया है, इस रूप में आवाहन किया गया है कि वे 'एक अत्यधिक प्रकाशमय विचार को पूर्ण करनेवाले' 'धियं घृताचीं साधन्ता' है।

वेद में यही पहले-पहल घृत शब्द आया है, एक प्रकार से परिणत हुए विशेषण के रूप मे आया है और यह अर्थपूर्ण बात है कि वेद में बुद्धि के लिये प्रयुक्त होनेवाले शब्द 'धी' का विशेषण होकर आया है। दूसरे सदर्भो में भी हम इसे सतत रूप से 'मनस्' 'मनीषा' शब्दो के साथ सबद्ध पाते है अथवा उन प्रकरणो में देखते हैं

---

*धातु 'धी' का अर्थ होता है धारण करना या रखना।

जहा कि विचार की किसी क्रिया का निर्देश है। 'घृ' धातु से एक तेज चमक या प्रचण्ड ताप का विचार प्रकट होता है, वैसा जैसा कि अग्नि का या ग्रीष्मकालीन सूर्य का होता है। इसका अर्थ सिंचन या अभ्यजन भी है, ग्रीक में 'क्रिओ' (Chrio)। एव इसका प्रयोग किसी तरल (क्षरित होनेवाले) पदार्थ के लिये हो सकता है, पर मुख्यतया चमकीले, घने द्रव के लिये। तो (इन दो मभावित अर्थों के कारण) घृत शब्द की यह द्वयर्थकता है जिसका ऋषियो ने यह लाभ उठाया कि वाह्य रूप से तो इस शब्द से यज्ञ में काम आनेवाला घी सूचित हो और आभ्यन्तर रूप में मस्तिष्क-शक्ति, मेघा की समृद्ध और उज्ज्वल अवस्था या क्रिया जो कि प्रकाशमय विचार का आधार और सार है। इसलिये 'धिय घृताचीम्' से अभिप्राय है वुद्धि जो कि समृद्ध और प्रकाशमय मानसिक क्रिया से भरपूर हो।

वरुण या मित्र की जो कि वुद्धि की इस अवस्था को सिद्ध या परिपूर्ण करते है, दो पृथक्-पृथक् विशेषणो से विशेषता वतायी गयी है। मित्र है 'पूतदक्ष', एक पवित्रीकृत विवेक से युक्त, वरुण 'रिशादस्' है, सव हिंसको या शत्रुओ का विनाश करनेवाला है। वेद में कोई भी विशेपण सिर्फ शोभा के लिये नही लगाया जाता। प्रत्येक शब्द कुछ अभिप्राय रखता है, अर्थ में कुछ नयी वात जोडता है और जिस वाक्य में यह आता है, उस वाक्य मे प्रकट होनेवाले विचार के साथ इसका घनिष्ठ सवध होता है। दो वाधाए है जो कि वुद्धि को सत्य-चेतना का पूर्ण और प्रकाशमय दर्पण वनने से रोकती है। पहली तो है विवेक या विवेचना-शक्ति की अपवित्रता जिसका परिणाम सत्य में गडवडी पड जाना होता है। दूसरे वे अनेक कारण या प्रभाव हैं जो सत्य के पूर्ण प्रयोग को सीमा में वाधने के द्वारा अथवा इसे व्यक्त करनेवाले विचारो के सवधो और सामजस्यो को तोड डालने के द्वारा सत्य की वृद्धि में हस्तक्षेप करते हैं और जो परिणामत इस प्रकार इसके विषयो में दरिद्रता तथा मिथ्यापन ले आते है। जैसे देवता वेद में सत्य-चेतना से अवतरित हुई-हुई उन सार्वत्रिक शक्तियो के प्रतिनिधि है जो लोको के सामजस्य का और मनुष्य में उसकी वृद्धिशील पूर्णता का निर्माण करती है, ठीक वैसे ही इन उद्देश्यो के विरोध में काम करनेवाले प्रभावो का जो प्रतिनिधित्व करती है वे विरोधी शक्तिया 'दस्यु' और 'वृत्र' है, जो तोडना, सीमित करना,

रोक रखना और निषेध करना चाहती है। वरुण की वेद मे सर्वत्र यह विशेपता दिखलायी गयी है कि वह विशालता तथा पवित्रता की शक्ति है, इसलिये जव वह मनुष्य के अदर सत्य की जागृत शक्ति के रूप में आकर उपस्थित हो जाता है तव उसके सस्पर्श से वह सव जो कि दोप, पाप, वुराई के प्रवेश द्वारा स्वभाव को सीमित करनेवाला और क्षति पहुंचानेवाला होता है, विनष्ट हो जाता है। वह 'रिशादस' है, शत्रुओ का, उन सवका जो वृद्धि को रोकना चाहते है, विनाश करनेवाला है। मित्र जो कि वरुण की तरह प्रकाश और सत्य की एक शक्ति है, मुख्यतया प्रेम, आह्लाद, सम-स्वरता का द्योतक है, जो कि वैदिक निश्रेयम 'मयस्' का आधार है। वरुण की पवित्रता के साथ कार्य करता हुआ और उस पवित्रता को विवेक में लाता हुआ, वह विवेक को इस योग्य कर देता है कि यह सव वेसुरेपन और गडवडी से मुक्त हो जाय तथा दृढ और प्रकाशमय वुद्धि के सही व्यापार को स्थापित कर सके।

यह प्रगति सत्यचेतना को, 'ऋतम्' को मनुष्य की मनोवृत्ति में कार्य करने योग्य वना देती है। सत्यरूपी साधन से 'ऋतेन', मनुष्य के अन्दर सत्य की क्रिया को वढाते हुए 'ऋतावृवा', सत्यका स्पर्श करते हुए या सत्य तक पहुचते हुए, अभिप्राय यह कि, मनोमय चेतना को सत्यचेतना के साथ सफल सस्पर्श के योग्य और उस सत्यचेतना को अधिगत करने योग्य वनाते हुए 'ऋतस्पृशा', मित्र और वरुण विशाल कार्यसाधक सकल्पशक्ति को उपयोग मे लाने का मजा लेने योग्य होते है, 'क्रतु वृहन्तम् आशाये'। क्योकि यह सकल्प ही है जो कि आभ्यन्तर यज्ञ का मुख्य कार्य-साधक अग है, परन्तु सकल्प ऐसा जो कि सत्य के साथ समस्वर है और इसीलिये जो पवित्रीकृत विवेक द्वारा ठीक मार्ग में प्रवर्तित है। यह सकल्प जितना ही अधिकाधिक सत्यचेतना के विस्तार मे प्रवेश करता है, उतना ही वह स्वय भी विस्तृत और महान् होता जाता है, अपने दृष्टिकोण की सीमाओं से तथा अपनी कार्यसिद्धि में रुकावट डालनेवाली वाधाओं मे मुक्त होता जाता है। यह कार्य करता है "उरौ अनिवाधे", उस विस्तार में जहा कोई भी वाधा या सीमा की दीवार नही है।

इस प्रकार दो अनिवार्य चीजे जिनपर वैदिक ऋपियो ने सदा वल दिया है

प्राप्त हो जाती है, प्रकाश और शक्ति, ज्ञान मे कार्य करता हुआ सत्य का **प्रकाश, 'धिय घृताचीम्'**, और कार्यसाधक तथा प्रकाशमय सकल्प में कार्य करती हुई मत्य की शक्ति, **'क्रतु वृहन्तम्'**। परिणामत, सूक्त की अन्तिम ऋचा में मित्र और वरुण को अपने सत्य के पूर्ण अर्थ मे कार्य करते हुए दर्शाया गया है। **'कवी तुविजाता उरुक्षया'**। हम देख चुके हैं कि 'कवि' का अर्थ है सत्यचेतना से युक्त और दर्शन, अन्त प्रेरणा, अन्तर्ज्ञान, विवेक की अपनी शक्तियो का उपयोग करनेवाला। 'तुविजाता' है "वहुरूप मे उत्पन्न", क्योकि 'तुवि' जिसका मूल अर्थ है वल या शक्ति, फ्रेंच शब्द फोर्स (Force) के समान 'वहुत' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। पर देवताओ के उत्पन्न होने का अभिप्राय वेद मे हमेशा उनके अभिव्यक्त होने से होता है, इस प्रकार 'तुविजाता' का अभिप्राय निकलता है "वहुत प्रकार से अभिव्यक्त हुए-हुए", वहुत से रूपो में और वहुतसी क्रियाओ मे। 'उरुक्षया' का अर्थ है विस्तार में निवास करनेवाले, यह एक ऐसा विचार है जो वेद मे वहुधा आता है, 'उरु' वृहत् अर्थात् महान् का पर्यायवाची है और यह सत्य-चेतना की नि सीम स्वाधीनता को सूचित करता है।

इस प्रकार 'ऋतम्' की वढती जाती हुई क्रियाओ का परिणाम हम यह पाते हैं कि मानवसत्ता में विस्तार और पवित्रता की, आह्लाद और समस्वरता की शक्तियो का व्यक्तीकरण होता जाता है, एक ऐसा व्यक्तीकरण जो रूपो मे समृद्ध, 'ऋतम्' की विशालता मे प्रतिष्ठित और अतिमानस चेतना की शक्ति-यो का उपयोग करनेवाला होता है।

सत्य की शक्तियो का यह व्यक्तीकरण, जिस समय कि वह कार्य कर रहा होता है, विवेक को धारित करता है या इसे दृढ करता है, **'दक्ष दधाते अपसम्'**। विवेक जो कि अब पवित्र और सुधृत हो गया है, सत्य की शक्ति के रूप मे सत्य की भावना मे कार्य करता है और विचार तथा सकल्प को उन सव त्रुटियो तथा गडवडियो से मुक्त करता है जो उनकी क्रिया और परिणामो में आनेवाली होती है और इस प्रकार इन्द्र और वायु की क्रियाओ की पूर्णता को सिद्ध करता है।

इस सदर्भ के पारिभाषिक शब्दो की हमने जो व्याख्या की है उसे पुष्ट करने के लिये हम चौथे मण्डल के दसवे सूक्त की एक ऋचा उद्धृत कर सकते है।

अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधो ।
रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ॥ ४-१०-२

"वस्तुत तभी, हे अग्ने, तू सुखमय सकल्प का, सिद्ध करनेवाले विवेक का, विशाल सत्य का रथी होता है ।" यहा हम वही विचार पाते है जो कि प्रथम मण्डल के पहिले सूक्त में है अर्थात् कार्यसाधक सकल्प का जो कि सत्यचेतना का स्वभाव है, 'कविक्रतु', और जो इसलिये महान् सुख की एक अवस्था मे भलाई को, 'भद्रम्' को निष्पन्न करता है । 'दक्षस्य साधो' इस वाक्याश में हम दूसरे सूक्त के अन्तिम वाक्याश, 'दक्ष अपसम्' का एक मिलता-जुलता रूप तथा स्पष्टीकरण पाते है, विवेक जो कि मनुष्य में आन्तरिक कार्य को पूर्ण और सिद्ध करता है । बृहत् सत्य को हम इन दो क्रियाओ की, बलक्रिया और ज्ञानक्रिया की, सकल्प और विवेक की, 'क्रतु' और 'दक्ष' की पूर्णावस्था के रूप में पाते है ।

इस प्रकार से एकसी सज्ञाओ को और एकसे विचारो को तथा विचारो के एक-से परस्पर सबध को फिर फिर प्रस्तुत करते हुए वैदिक सूक्त सदा एक-दूसरे को पुष्ट करते है । यह सम्भव नही हो सकता था, यदि उनका आधार कोई ऐसा सुसम्बद्ध न होता जिसमें इस प्रकार की स्थायी सज्ञाओ जैसे कवि, क्रतु, दक्ष, भद्रम्, ऋतम् आदि के कोई निश्चित ही अर्थ होते हो । स्वय ऋचाओ की अन्त - साक्षी ही इस बात को स्थापित कर देती है कि उनके ये अर्थ अध्यात्मपरक है, क्योकि यदि ऐसा न हो तो परिभाषायें, सज्ञाये अपने निश्चित महत्त्व को, नियत अर्थ को और अपने आवश्यक पारस्परिक सम्बन्ध को खो देती है, और एक दूसरे के साथ सबद्ध होकर उनका बार-बार आना केवल आकस्मिक तथा युक्ति या प्रयोजन से शून्य हो जाता है ।

तो हम यह देखते है कि दूसरे सूक्त में हम फिर उन्ही प्रधान नियामक विचारो को पाते है जिन्हे कि पहले सूक्त मे । सब कुछ अतिमानस या सत्यचेतना के उस केन्द्रभूत वैदिक विचार पर आश्रित है जिसकी ओर कि क्रमश पूर्ण होती जाती हुई मानवीय मनोवृत्ति पहुचने का यत्न करती है, इस रूप में कि वह परिपूर्णता की ओर और अपने लक्ष्य की ओर जा रही है । प्रथम सूक्त में इसके विषय में केवल इस रूप मे कहा गया है कि यह यज्ञ का लक्ष्य है और अग्नि का

विशेष कार्य है। दूसरा सूक्त तैयारी के प्राथमिक कार्य का निर्देश करता है, वह तैयारी जो कि मनुष्य की साधारण मनोवृत्ति की इन्द्र और वायु द्वारा, मित्र और वरुण द्वारा आनन्द की शक्ति से और सत्य की प्रगतिशील वृद्धि से होती है।

हम यह पायेंगे कि सारा-का-सारा ऋग्वेद क्रियात्मक रूप से इस द्विविध विषय पर ही सतत रूप से चक्कर काट रहा है, मनुष्य की अपने मन और शरीर मे तैयारी और सत्य तथा निश्रेयस की प्राप्ति और विकास के द्वारा अपने अन्दर देवत्व और अमरत्व की परिपूर्णता।

नवां अध्याय

अश्विन्, इन्द्र, विश्वेदेवाः

मधुच्छन्दस् का तीसरा सूक्त फिर सोमयज्ञ का सूक्त है। इसके पूर्ववर्ती दूसरे सूक्त की तरह यह भी तीन-तीन मन्त्रों की शृखलाओं से जुडकर बना है। इसमें ऐसी चार शृखलाए हैं। पहिली शृखला अर्थात् पहिले तीन मन्त्र अश्विनो को सबोधित किये गये हैं, दूसरे इन्द्र को, तीसरे विश्वेदेवा को और चौथे देवी सरस्वती को। इस सूक्त में भी हमे अन्त की कडी में, जिसमे कि सरस्वती का आवाहन है, एक ऐसा सदर्भ मिलता है जो स्पष्ट अध्यात्मपरक भाव रखता है, और वस्तुत वह उनकी अपेक्षा कहीं अधिक साफ है जो सदर्भ अवतक हमे वेद के रहस्यमय विचार को समझने मे सहायक हुए है।

परन्तु यह सारा का सारा सूक्त अध्यात्मपरक सकेतो से भरा हुआ है और इसमें हम वह परस्पर घनिष्ठ सबन्ध, बल्कि वह तादात्म्य पाते है जिसे कि वैदिक ऋषि मानव-आत्मा के तीन मुख्य हितो के बीच मे स्थापित करना और पूर्ण करना चाहते थे, जो तीन ये है—विचार तथा इसके अन्तिम विजयशाली प्रकाश, कर्म तथा इसके चरम श्रेष्ठतम सर्वप्रापक बल, भोग तथा इसके सर्वोच्च आत्मिक आनन्द। सोम-रस प्रतीक है हमारे सामान्य ऐन्द्रियक सुखभोग को दिव्य आनन्द में रूपान्तर कर देने का। यह रूपान्तर हमारी विचारमय क्रिया को दिव्य बनाने के द्वारा सिद्ध होता है, और जैसे-जैसे यह क्रमश बढता है वैसे-वैसे यह अपनी उस दिव्यीकरण की क्रिया को भी पूर्ण बनाने मे सहायक होता है जिसके द्वारा कि यह सिद्ध किया जाता है। गौ, अश्व, सोमरस ये इस त्रिविध यज्ञ के प्रतीकचिह्न है। 'घृत' की अर्थात् घी की हवि जो कि गाय से मिलता है, घोडे की हवि—'अश्वमेध', सोम के रस की हवि ये इसके तीन रूप या अग है। अपेक्षाकृत कम प्रधानभूत एक और हवि है अपूप की, जो कि सभवत शरीर का, भौतिक वस्तु का प्रतीक है।

प्रारभ मे दो अश्विनौ का आवाहन किया गया है जो कि अश्वोवाले हैं, 'घुड-सवार' है। प्राचीन भूमध्यतटवर्ती गाथाशास्त्र के कैस्टर (Castor) तथा पोलीडथ्यूसर्स (Polydeuces) है। तुलनात्मक गाथाशास्त्रज्ञो की कल्पना यह है कि ये अश्विन् दो युगल तारो को सूचित करते है, जो तारे किसी कारण आकाशीय तारासमूह के अन्य तारो की अपेक्षा अधिक भाग्यवान् थे कि आर्यलोग इनकी विशेष पूजा करते थे। तो भी आइये हम देखें कि जिस सूक्त का हम अध्ययन कर रहे है उसमे इनके विषय मे क्या-क्या वर्णन किया गया है। सबसे पहले उनका वर्णन आता है, "अश्विन्, तीव्रगामी, सुख के देवता, बहुत आनन्द भोग करनेवाले–द्रवत्पाणी शुभस्पती पुरुभुजा।" 'रत्न' और 'चन्द्र' शब्दो के समान, 'शुभ' शब्द का अर्थ किया जा सकता है या तो प्रकाश या भोग, परन्तु इस सदर्भ में यह आया है "पुरुभुजा,–बहुत सुखभोग करनेवाले" इस विशेषण के साथ और "चनस्यतम्,–आनन्द लो" इस क्रिया के साथ, और इसलिये इसे भला या सुख के अर्थ मे लेना चाहिये।

आगे इन युगलदेवताओ का वर्णन आता है, "अश्विन्, जो बहुकर्मा दिव्य आत्माए है–'पुरुदससा नरा', विचार को धारण करनेवाले है–'धिष्ण्या', जो मन्त्र की वाणियो को स्वीकार करते है और उनमें प्रमुदित होते है–'वनत गिर', एक बलवान् विचार के साथ 'शवीरया धिया'।" 'नृ' वेद मे देवताओ और मनुष्यो दोनो के लिये प्रयुक्त होता है और इसका अर्थ खाली मनुष्य ही नही होता, मै समझता हू, प्रारभ में इसका अर्थ था 'बलवान्' या 'क्रियाशील' और फिर 'पुरुष' और इसका प्रयोग पुल्लिग देवो के लिये, कर्मण्य दिव्य आत्माओ या शक्तियो के लिये, 'पुरुषा' के लिये हुआ है जो उन स्त्रीलिंगी देवताओ, 'ग्ना' से उल्टे है, जो उन पुल्लिग देवो की शक्तिया है। फिर भी ऋषियो के मनो में बहुत अशो में इसका प्रारम्भिक मौलिक अर्थ सुरक्षित रहा, जैसे कि हमे बलवाची 'नृम्ण' शब्द से और "नृतमा नृणाम्" अर्थात् दिव्य शक्तियो में सबसे अधिक बलवान्, इस वाक्याश से पता लगता है। 'शव' और इससे बना विशेषणरूप 'शवीर' बल के भाव को देते है, परन्तु ज्वाला और प्रकाश का अगला विचार भी सदा इसके साथ रहता है, इसलिये 'शवीर' 'धी' के लिये बहुत ही उपयुक्त

विशेषण है, विचार जो कि प्रकाशमय या विद्योतमान शक्ति मे भरपूर है। 'धिष्ण्या' का सबन्ध 'धिषणा' अर्थात् बुद्धि या समझ के साथ है और इसका सायण ने अनुवाद किया है, बुद्धि से युक्त, 'बुद्धिमन्तौ'।

आगे फिर अश्विनौ का वर्णन होता है, 'जो कर्म मे सही उतरनेवाले है, गति की शक्तिया है, अपने मार्ग पर भीषणता के साथ गति करनेवाले है',—दस्रा, नासत्या, रुद्रवर्तनी। 'दस्र', 'दस्म' इन वैदिक विशेषणो का अनुवाद निरपेक्ष भाव से सायण ने अपनी मन की मौज या सुभीते के अनुसार 'नाशक' या 'दर्शनीय' या 'दानी' कर दिया है। मै इसे 'दस्' धातु के साथ जोडता हू, पर 'दस्' का अर्थ मै यहा काटना या विभक्त करना नही लेता जिससे कि नाश करने और दान करने के दो अर्थ निकलते है, नाही इसका अर्थ 'विवेक, दर्शन' लेता हू जिससे कि सायण ने सुन्दर का, 'दर्शनीय' का अर्थ लिया है, परन्तु मै इसे कर्म करने, क्रिया करने, आकृति देने, पूर्ण करने के अर्थ में लेता हू, जैसा अर्थ कि दूसरी ऋचा में 'पुरुदससा' में है। 'नासत्या' के विषय में कइयो ने यह कल्पना की है कि यह गोत्र-नाम है, प्राचीन वैयाकरणो ने बडे बुद्धिकौशल के साथ इसके लिये 'सच्चे, जो असत्य नही है' यह अर्थ गढ लिया था, परन्तु मै इसकी निष्पत्ति चलनार्थक 'नस्' धातु मे करता हू। हमे यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि अश्विन् घुडसवार है, कि उनका वर्णन बहुधा गतिसूचक विशेषणो से हुआ है, जैसे 'तीव्रगामी' (द्रवत्पाणी), 'अपने मार्ग पर रुद्रता के साथ चलनेवाले' (रुद्रवर्तनी), कि ग्रीमलेटिन (Graeco-Latin) गाथाशास्त्र मे कैस्टर (Castor) और पोलक्स (Pollux) समुद्रयात्रा में नाविको की रक्षा करते है और तूफान मे तथा जहाज टूट जाने पर उन्हे बचाते है, और यह कि ऋग्वेद मे भी ये उन शक्तियो के सूचक है जो ऋषियो को नौका की तरह पार ले जाती है अथवा उन्हें समुद्र में डूबने से बचाती है। इसलिये 'नासत्या' का यह बिल्कुल उपयुक्त अर्थ जान पडता है कि जो समुद्रयात्रा के, प्रयाण के देवता है या प्रगति की शक्तिया है। 'रुद्रवर्तनी' का भाष्य अर्वाचीन विद्वानो ने किया है "लाल रास्तेवाले" और यह मान लिया है कि यह विशेषण तारो के लिये बिल्कुल उपयुक्त है और वे उदाहरण के लिये इसके समान दूसरे शब्द 'हिरण्यवर्तनी' को प्रस्तुत करते है,

जिसका अर्थ होता है 'सुनहरे या चमकीले रास्तेवाले'। 'रुद्र' का अर्थ एक समय में "चमकीला, गहरे रग का, लाल" यह अवश्य रहा होगा, जैसे रुष् और रुश् धातु है, जैसे रुधिर, 'रक्त' या 'लाल' है, अयवा जैसे लेटिन भाषा के रुबर (Ruber), रुटिलस (Rutilus) रुफस (Rufus), है, जिन सबका अर्थ 'लाल' है। 'रोदसी' का, जो आकाश तथा पृथिवी के अर्थ मे एक द्वन्द्ववाची शब्द है, सभवत अर्थ था, "चमकीले" जैसे कि आकाशीय तथा पार्थिव लोको के वाचक दूसरे वैदिक शब्दो 'रजस्' और 'रोचना' का है। दूसरी ओर क्षति और हिंसा का अर्थ भी इस शब्द-परिवार मे समान रूप से अन्तर्निहित है और लगभग उन सब विविध धातुओ में जिनसे ये बनते है, पाया जाता है। इस-लिये 'रुद्र' का 'भीषण' या 'प्रचण्ड' यह अर्थ भी उतना ही उपयुक्त है, जितना "लाल"। अश्विन् दोनो है 'हिरण्यवर्तनी' तथा 'रुद्रवर्तनी', क्योकि वे प्रकाश की और प्राण-बल की, दोनो की, शक्तिया है, पहले रूप मे उनकी चमकीली सुनहरी गति होती है, पिछले रूप में वे अपनी गतियो मे प्रचण्ड होते है। एक मन्त्र (५-७५-३) में हम स्पष्ट इकट्ठा पाते है 'रुद्रा हिरण्यवर्तनी' रौद्र तथा प्रकाश के मार्ग में चलनेवाले, अब इस मन्त्रवचन में अभिप्राय की सगति का यदि जरा भी ख्याल किया जाय तो यह अर्थ हमारी समझ मे नही आ सकता कि तारे तो लाल है पर उनकी गति या उनका मार्ग सुनहरा है।

फिर यहा, इन तीन ऋचाओ में आध्यात्मिक व्यापारो की एक असाधारण शृखला है, क्या वह एक आकाशीय तारामण्डल के दो तारो की ओर लगेगी! यह स्पष्ट है कि यदि अश्विनो का प्रारभिक भौतिक स्वरूप कभी यह था भी, तो वे अपने विशुद्ध तारासबधी स्वरूप को चिरकाल से, जैसे कि ग्रीक गाथा-शास्त्र में, खो चुके है और उन्होने एथेनी (Athene), उषा की देवी, की तरह एक आध्यात्मिक स्वरूप और व्यापारो को पा लिया है। वे घोडे की, 'अश्व' की सवारी करनेवाले है, जो अश्व शक्ति का और विशेषकर जीवनशक्ति और वातशक्ति का--प्राण का--प्रतीक है। उनका सामान्य स्वरूप यह है कि वे आनन्द-भोग के देवता है, मधु को खोजनेवाले है, वे वैद्य है, वे फिर से बूढे को जवानी, रोगी को आरोग्य, अगहीन को सपूर्णंगता प्राप्त करा देते है। उनका

एक दूसरा स्वरूप तीव्र, प्रचण्ड, अधृष्य गति का है, उनका वेगवान् अजेय रथ स्तुति का सतत पात्र है और यहा उनका वर्णन इस रूप में किया गया है कि वे तीव्रगामी है और अपने मार्ग मे प्रचण्डता से चलनेवाले है। वे अपनी तीव्रता में पक्षियो के समान, मन के समान, वायु के समान है (देखो ५-७७-३ और ७८-१)[1]। वे अपने रथ मे मनुष्य के लिये परिपक्व या परिपूर्ण सन्तुष्टियो को भरकर लाते है, वे आनन्द के, 'मयस्' के, निर्माता है। ये निर्देश पूर्णरूप से स्पष्ट हैं।

इनसे मालूम होता है कि अश्विन् दो युगल दिव्य शक्तिया है, जिनका मुख्य व्यापार है मनुष्य के अन्दर क्रिया तथा आनन्दभोग के रूप मे वातमय या प्राणमय सत्ता को पूर्ण करना। परन्तु साथ ही वे सत्य की, ज्ञानयुक्त कर्म की और यथार्थ भोग की भी शक्तिया है। ये वे शक्तिया है जो उषा के साथ प्रकट होती है, क्रिया की वे अमोघ शक्तिया है जो चेतना के समुद्र में से पैदा हुई है (सिंधुमातरा), और जो क्योकि दिव्य (देवा) है, इसलिये सुरक्षित रूप से उच्चतर सत्ता के ऐश्वर्यो को मनोमय कर सकती है (मनोतरा रयीणाम्), उस विचार-शक्ति के द्वारा जो उस सच्चे तत्त्व को और सच्चे ऐश्वर्य को पा लेती है या जान लेती है (धिया वसुविदा)—

या दस्रा सिन्धुमातरा, मनोतरा रयीणाम्।
धिया देवा वसुविदा॥ (१-४६-२)

इस महान् कार्य के लिये वे उस प्रेरक शक्ति (इषम्) को देते है (राम्) जो अपने स्वरूप और सारवस्तु के रूप मे अपने में सत्य की ज्योति को रखती हुई (ज्योतिष्मती) मनुष्य को अन्धकार से परे ले जाती है (तमस्तिर पीपरत्)

या न पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिर।
तामस्मे रासाथामिषम्॥ (१-४६-६)

वे मनुष्य को अपनी नौका मे बैठाकर उस परले किनारे पर पहुचा देते है जो विचारो तथा मानव मन की अवस्थाओं से परे है, अर्थात् जो अतिमानस चेतना

---

[1]मनोजवा अश्विना वातरंहा ५-७७-३, हसाविव पततम् ५-७८-१

है—नावा मतीना पाराय (१-४६-७)। 'सूर्या' जो सत्य के देवता सूर्य की दुहिता है, उनकी वधू बनकर उनके रथ पर आरूढ होती है।

उपस्थित सूक्त में अश्विनो का आवाहन किया गया है इस रूप मे कि वे आनन्द के तीव्रगामी देवता है, वे अपने साथ अनेक सुखभोगो को रखते है, वे यज्ञ की (यज्वरी) प्रेरक शक्तियो मे (इष) आनन्द लेवे (चनस्यतम्)। ये प्रेरक शक्तिया स्पष्ट ही सोमरस के पीने से अर्थात् दिव्य आनन्द के अन्न प्रवाह मे उत्पन्न होती है। क्योकि अर्थपूर्ण वाणिया (गिर) जिन्होने कि चेतना में नवीन रचनाओ को करना है, पहले मे ही उठ रही है, यज्ञ का आसन बिछाया जा चुका है, सोम के शक्तिशाली रस निचोडे जा चुके है[1]। अश्विनो ने क्रिया की अमोघ शक्तियो के, 'पुरुदससा नरा' के रूप मे आना है वाणियो मे आनन्द लेने के लिये और उन्हे बुद्धि के अन्दर स्वीकार करने के लिये जहा कि वे प्रकाशमय शक्ति से परिपूर्ण विचार के द्वारा क्रिया के लिये धारित रखी जायगी।[2] उन्हे सोम-रस की हवि के समीप आना है, इसलिये जिससे कि वे यज्ञ की क्रिया को निष्पन्न कर सके, 'दस्रा', उन्हे क्रिया को पूर्ण करनेवालो के रूप में आना है और उन्होने इसे पूर्ण करना है क्रिया के आनद को अपनी वह भीषण गति प्रदान करने द्वारा, 'रुद्र-वर्तनी' जो कि उन्हें बेरोकटोक उनके मार्ग पर ले जाती है और सब विरोधो को दूर कर देती है। वे आते है इस रूप मे कि वे आर्यो की यात्रा की शक्तिया है, महान् मानवीय प्रगति के अधिपति है, नासत्या। सब जगह हम देखते है कि वह चीज शक्ति हो है जिसे कि इन घोडे के सवारो ने देना है, उन्हे आनद लेना है यज्ञिय शक्तियो में, वाणी को ग्रहण करना है एक शक्तिशाली विचार में ले आने को, यज्ञ को वह गति देनी है जो मार्ग पर चलने की उनकी अपनी भीषण गति है। और यह क्रिया की कार्य-साधकता है तथा उस बडी भारी यात्रा पर चलने में शीघ्रता व वेग है जिसके लिये इस शक्ति की माग की आवश्यकता हुई है। मैं पाठक के ध्यान को उस विचार की स्थिरता की ओर और रचना की सगति की ओर

---

[1]युवाकव सुता वृक्तबर्हिष।

[2]शवीरया धिया धिष्ण्या वनत गिर।

तथा रूपरेखा की उस सुबोध स्पष्टता और निश्चयात्मकता की ओर सतत रूप से आकर्षित करूगा जो कि ऋषियो के विचार मे अध्यात्मपरक व्याख्या करने द्वारा आ जाती है, और इस अध्यात्मपरक व्याख्या मे कितनी भिन्न है वे उलझी हुई अव्यवस्थित और असगत तथा असबद्ध व्याख्याए जो कि वेदो की इस अत्युच्च परपरा की उपेक्षा कर देती है कि वेद विद्या की और गभीरतम ज्ञान की पुस्तक है।

तो हम पहली तीन ऋचाओ का यह अर्थ पाते है—

"ओ घोडे के सवारो, तेज चालवालो, बहुत अधिक आनद लेनेवालो, सुख के अधिपतियो, तुम आनद लो, यज्ञ की शक्तियो मे।"

"ओ घोडे के सवारो, अनेकरूप कर्मों को निष्पन्न करनेवाले नर आत्माओ, वाणियो का आनद लो, ओ तुम प्रकाशमय शक्ति से युक्त विचार के द्वारा बुद्धि मे धारण करनेवालो।"

"मैने यज्ञ का आसन बिछा दिया है, मैने शक्तिशाली सोमरसो को निचोड लिया है, क्रिया को पूर्ण करनेवालो, प्रगति की शक्तियो! उन रसो के पास तुम आओ, अपनी उस भीषण गति के साथ जिससे तुम मार्ग पर चलते हो।"

जैसे कि दूसरे सूक्त में वैसे ही इस तीसरे मे भी ऋषि प्रारभ मे उन देवताओ का आवाहन करता है जो कि वातिक या प्राण की शक्तियो मे कार्य करते है। पर वहा उसने पुकारा था 'वायु' को जो कि प्राण की शक्तियो को देता है, अपने जीवन के घोडो को लाता है, यहा वह "अश्विनो" को पुकारता है जो कि प्राण की शक्तियो का प्रयोग करते है, उन घोडो पर सवार होते है। जैसे कि दूसरे सूक्त मे वह प्राण-क्रिया या वातिक क्रिया से मानसिक क्रिया पर आया था, वैसे ही यहा वह अपनी दूसरी शृखला मे 'इन्द्र' की शक्ति का आवाहन करता है। निचोडे हुए आनद-रस उसे चाहते है, 'सुता इमे त्वायव।' वे प्रकाशयुक्त मन को चाहते है कि वह आवे और आकर अपनी क्रियाओ के लिये उन्हे अपने अधिकार में ले ले। वे शुद्ध किये हुए है 'अण्वीभिस्तना', सायण की व्याख्या के अनुसार, "अगुलियो द्वारा और शरीर द्वारा" पर जैसा मुझे इसका अर्थ प्रतीत होता है उसके अनुसार "पवित्र मन की सूक्ष्म विचार-शक्तियो के द्वारा और भौतिक चेतना में

हुए-हुए विस्तार के द्वारा।" क्योकि ये "दस अगुलिया", यदि ये अगुलिया ही हो तो सूर्या की दस अगुलिया है, जो सूर्या सूर्य की दुहिता है, अश्विनो की वधू है। नवम मण्डल के प्रथम सूक्त में यही ऋषि मधुच्छदस् इसी विचार को विस्तार से कहता है, जिसे कि यहा वह इतने अधिक सक्षेप से कह गया है। वह 'सोम' की देवता को सबोधित करता हुआ कहता है "सूर्य की दुहिता तेरे सोम को शुद्ध करती ह, जब कि यह सतत विस्तार के द्वारा इसके छानने की चलनी मे बहकर चारो ओर फैल जाता है", **वारेण शश्वता तना।**[1] तुरत इसके साथ ही वह यह भी कह जाता है "सूक्ष्म शक्तिया अपने प्रयत्न मे (या महान् कार्य में, सघर्ष में, अभीप्सा में, 'समर्ये') इसे ग्रहण करती है, जो दस वधुए है, बहिने है, उस आकाश मे जिसे कि पार करना है।"[2] यह एक ऐसा वाक्य है जो कि एकदम अश्विनो की उस नौका का स्मरण करा देता है जो कि हमे विचारो से परे उस पार पहुचा देती है, क्योकि आकाश (द्यौ) वेद में विशुद्ध मानसिक चेतना का प्रतीक है, जैसे कि पृथिवी भौतिक चेतना का। ये बहिने जो कि विशुद्ध मन के अदर रहती है, जो सूक्ष्म, 'अण्वी' है, दस वधुए, 'दश योषण' है, दूसरी जगह कही गयी है, दस प्रक्षेप्त्री, 'दश क्षिप', क्योकि वे सोम को ग्रहण करती और इसे अपने मार्ग में गति दे देती है। वे सभवत वे ही है जिनको कि वेद में कही-कही दस किरणे, 'दश गाव' कहा गया है। वे इस रूप में वर्णित की गयी प्रतीत होती है कि वे सूर्य की पौत्रिया या सतान है, '**नप्तीभि विवस्वत** (९।१४।५)'। उपर्युक्त शुद्ध किये जाने के कार्य में विचारमय चेतना के सात रूप, 'सप्त धीतय' इनकी सहायता करते है। आगे हमें यह कहा गया है कि "अपने आशुगामी रथो के साथ शूरवीर हुआ-हुआ सोम सूक्ष्म विचार की शक्ति के द्वारा, 'धिया अण्व्या', आगे बढता है और इन्द्र की पूर्ण क्रियाशीलता (या उसके पूर्ण क्षेत्र) तक पहुचता है और दिव्यता के उस विशाल विस्तार (या निर्माण) तक पहुचने में, जहा कि जो अमर है वे रहते है, वह विचार के अनेक रूपो को ग्रहण करता है" (९।१५।१,२)।

---

[1] **पुनाति ते परिस्रुत सोम सूर्यस्य दुहिता। वारेण शश्वता तना॥** ९-१-६

[2] **तमीमण्वी समर्य आ गृभ्णन्ति योषणो दश। स्वसार. पार्ये दिवि॥** ९-१-७

एष पुरू धियायते बृहते देवतातये।

यत्रामृतास आसते ॥

मैंने इस विषय पर कुछ विस्तार से विचार इसलिये किया है जिससे कि यह दिखा सकू कि किस प्रकार वैदिक ऋषियो का सोमवर्णन पूर्णतया प्रतीकात्मक है और कितना अधिक यह अध्यात्मपरक विचारो से घिरा हुआ है, जैसा कि उसे अच्छी प्रकार पता लग जायगा, जो कि नवम मण्डल में से गुजरने का यत्न करेगा, जिसमें कि प्रतीकात्मक अलकारों की शोभा अत्यधिक प्रकट हुई है और जो कि अध्यात्मपरक सकेतो से भरपूर है।

वह कुछ भी क्यो न हो, यहा मुख्य विषय सोम और इसका शोधन नही है, बल्कि इन्द्र का आध्यात्मिक व्यापार है। इन्द्र को इस रूप में सबोधित किया गया है कि वह अत्यधिक चित्रविचित्र दीप्तियोवाला है, **इन्द्र चित्रभानो**। सोमरस उसे चाहते है। वह आता है विचार से प्रेरित किया हुआ, प्रकाशयुक्त विचारक से अदर से आगे गति दिया हुआ, **धियेषितो विप्रजूत**, उस ऋषि के आत्मिक विचारों के पास जो कि आनन्द की मदिरा को निचोड चुका है, और उन विचारो को वाणी में, अन्त प्रेरित मत्रो में व्यक्त करना चाहता है, **सुतावत उप ब्रह्माणि वाघत**। वह आता है उन विचारो के पास, प्रकाशयुक्त मन शक्ति की गति और वेग के साथ, अपने उज्ज्वल घोडो से युक्त हुआ-हुआ, **तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिव**। और ऋषि उससे प्रार्थना करता है कि वह आकर सोम की हवि में आनन्द को दृढ करे या थामे, **सुते दधिष्व नश्चनः**। अश्विनौ आनन्द की क्रिया में वात-सस्थान के सौख्य को ले आये है और उसे शक्ति दे दी है। इन्द्र की आवश्यकता है कि वह आकर उस सौख्य को प्रकाशयुक्त मन के अदर दृढ़ता से थाम ले, ताकि वह चेतना में से निकलकर गिर न पडे।

"आ, हे इन्द्र! अपनी अत्यधिक दीप्तियो के साथ, ये सोमरस तुझे चाह रहे है, वे शुद्ध किये हुए है सूक्ष्म शक्तियो के द्वारा और शरीर मे हुए विस्तार के द्वारा।"

"आ, हे इन्द्र! मेरे आत्मिक विचारो के पास आ, मन द्वारा प्रेरित हुआ-हुआ प्रकाशयुक्त विचार के द्वारा आगे गति दिया हुआ, जिस मैंने सोमरस को अभि-

पुत कर लिया है और जो मै अपने उन आत्मिक विचारो को वाणी मे व्यक्त करना चाह रहा हू।"

"आ, हे इन्द्र! अपनी वेगवान् गति के साथ मेरे आत्मिक विचारो के पास आ, हे चमकीले घोडो के अधिपति! तू आ, आनन्द को दृढता के साथ सोम-रस मे थाम ले।"

आगे चलकर ऋषि "विश्वेदेवा" सभी देवताओ अथवा किन्ही विशेष 'सब-देवताओ' पर आता है। इस विषय मे विवाद है कि इन 'विश्वेदेवा' की कोई श्रेणी-विशेष है अथवा यह केवल सामान्य रूप से सभी देवताओ का वाचक है। मै इसे इस रूप में लेता हू कि इस पद का अर्थ है, सामूहिक रूप मे विश्व की सब दिव्य शक्तिया, क्योकि जिन मन्त्रो मे इनका आवाहन किया गया है उन मन्त्रो के वास्तविक अर्थप्रकाशन मे यह भाव मुझे अधिक-से-अधिक अनुकूल पतीत होता है। इस सूक्त मे उन्हे एक सामान्य क्रिया के लिये पुकारा गया है जो कि अश्विनो तथा इन्द्र के व्यापारो में सहायक होती है और उन्हे पूर्ण करती है। उन्हे सामूहिक रूप से यज्ञ मे आना है और उस सोम को अपने बीच मे बाट लेना है जिसे कि यज्ञकर्त्ता उन्हे समर्पित करता है, **विश्वे देवास आगत, दाश्वासो दाशुष· सुतम्**, स्पष्ट ही इसलिये ताकि प्रत्येक अपने उचित व्यापार को दिव्य रूप से तथा आह्लादक रूप से कर सके। अगली ऋचा मे और अधिक आग्रह के साथ इसी प्रार्थना को दोहराया गया है, वे सोम की हवि के पास जल्दी से पहुचे, **तूर्णयः**, अथवा इसका यह अर्थ हो सकता है कि वे आवे चेतना के उन सभी स्तरो, 'जलो', के बीच में से अपना मार्ग बनाते हुए, उन्हे पार उतरकर आते हुए जो स्तर कि मनुष्य की भौतिक प्रकृति को उनके अपने देवत्व से पृथक् किये हुए है और पृथ्वी तथा आकाश के बीच में ससर्ग स्थापित करने में बाधाओ से भरे हुए है, **अप्तुर सुतमागन्त तूर्णय**। वे आये, उन गौओ की तरह जो कि साध्य वेला मे अपने आश्रय-स्थानो पर पहुचने की जल्दी मे होती है, **उस्रा इव स्वसराणि**। इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक पहुचकर वे प्रसन्नतापूर्वक यज्ञ को स्वीकार करें और यज्ञ से सलग्न रहे तथा यज्ञ को वहन करे, जिससे कि लक्ष्य की तरफ अपनी यात्रा में, देवो के प्रति या देवो के घर—सत्य, बृहत्—के प्रति अपने आरोहण में इस यज्ञ

को वहन करते हुए वे इसे अन्त तक पहुंचा दें, **मेघ जुषन्त वह्नय** ।

'विश्वेदेवा' के विशेषण भी, जो कि उनके उन स्वरूप तथा व्यापारो को वताते है जिनके लिये कि वे सोम-हवि के पास निमन्त्रित किये गये है, उसी प्रकार सबके लिये समान है, वे सब देवताओ के लिये एकसे है और सारे वेद में वे उनमे से किसीके लिये भी अथवा सभीके लिये समान रूप से प्रयुक्त किये गये है। वे है मनुष्य के प्रतिपालक या परिवर्द्धक और कर्म में, यज्ञ मे उसके श्रम तथा प्रयत्न को थामनेवाले, **ओमासश्चर्षणीधृत** । सायण ने इन शब्दो का अर्थ किया है, रक्षक तथा मनुष्यो के धारक। यहा इस बात की आवश्यकता नही है कि इन शब्दो को जो अर्थ मैं देना पसद करता हू उसके विषय में पूरे-पूरे प्रमाण उपस्थित करने मे प्रवृत्त होऊ, क्योकि भाषा-विज्ञान की जिस प्रणाली का मैं अनुसरण करता हू उसे मै पहले ही दिखा चुका हू। सायण को स्वयमेव यह अशक्य प्रतीत हुआ है कि वह उन शब्दो का सदा रक्षा अर्थ ही करे, जो कि अव् धातु से बने अवस्, ऊती, ऊमा आदि शब्द है, जिनका कि वेदमन्त्रो मे बहुत ही बाहुल्य पाया जाता है, और वह बाध्य होकर एक ही शब्द का भिन्न-भिन्न सदर्भो में अत्यधिक भिन्न तथा सबन्धरहित अर्थ करता है। इसी प्रकार, जहा कि 'चर्षणि' और 'कृष्टि' इन दो सजातीय शब्दो के लिये जब कि ये अकेले आते है यह आसान है कि इन्हे 'मनुष्य' का अर्थ दे दिया जाय, वहा यह 'मनुष्य' अर्थ इनके समस्त रूपो मे, जैसे कि 'विचर्षणि', 'विश्वचर्षणि', 'विश्वकृष्टि' के रूप मे बिना किसी कारण के विलुप्त हो जाता है। सायण स्वय इसके लिये बाध्य हुआ है कि वह विश्व-चर्षणि का अर्थ 'सर्वद्रष्टा' करे, न कि 'सब मनुष्य' या 'सर्व-मानवीय'। मैं यह नही मानता कि नियत वैदिक सज्ञाओ के अर्थो मे इस प्रकार की बिलकुल निराधार विभिन्नताए सभव हो सकती है। 'अव्' के अर्थ हो सकते है होना, रखना, रख छोडना, धारण करना, रक्षा करना, वन जाना, रचना करना, पोषण करना, वृद्धि करना, फलना-फूलना, समृद्ध होना, खुश करना, खुश होना, पर यह वृद्धि करने का या पालन-पोषण करने का अर्थ है जो कि मुझे वेद मे प्रचलित हुआ प्रतीत होता है। 'चर्ष' और 'कृष्' ये धातुए मूल में 'चर्' तथा 'कृ' से निकली थी, जिन दोनोका ही अर्थ 'करना' है, और श्रमसाध्य क्रिया या गति का अर्थ 'कृष्'

में अब भी विद्यमान है, खीचना, हल जोतना। इसलिये 'चर्पणि' और 'कृष्टि' का अर्थ है प्रयत्न, श्रमसाध्य क्रिया या कर्म अथवा इस प्रकार की क्रिया को करने-वाले। ये उन अनेक शब्दो (कर्म, अपस्, कार, कीरि, दुवस् आदि) में से दो है जो कि वैदिक कर्म को, यज्ञ को, अभीप्सा करती हुई मानवता के प्रयास को, आर्यों की 'अरति' को दर्शाने के लिये प्रयुक्त किये गये है।

मनुष्य की जो सारभूत वस्तु है उस सबमे और उसकी सब प्राप्तियो मे उस-का पोपण करना और वृद्धि करना, वृहत् सत्य-चेतना की पूर्णता और समृद्धता की ओर उसे सतत वृद्धिगत करना, उसके महान् सघर्ष और प्रयास मे उसे सहारा देना– यह है वैदिक देवताओ का सामान्य व्यापार। फिर वे है 'अप्तुर', वे जो कि जलो को पार कर जाते है, या जैसा सायण इसका अर्थ करता है, वे जो कि जलो को देते है। इसका अर्थ वह "वृष्टि-दाता" समझता है, और यह पूर्णतया सच है कि सभी वैदिक देवता वर्षा के, आकाश से आनेवाली वहुतायत के (क्यो-कि 'वृष्टि' के दोनो अर्थ होते है) देनेवाले है, जिसका कि कही-कही इस रूप मे वर्णन हुआ है कि सौर जल, 'स्वर्वती अप' अथवा वे जल जो कि ज्योतिर्मय आकाश के, 'स्व' के प्रकाश को अपने अन्दर रखते है। परन्तु वेद में समुद्र और उसके जल, जैसा कि ये वचन स्वय ही निर्देश करते है, प्रतीक है चेतनामय सत्ता के उसके समुदायरूप में (समुद्र) और उसकी गतियो सहित (उसके जल)। देवता इन जलो की पूर्णता को बरसाते है, विशेषकर उपरले जलो की, उन जलो की जो कि आकाश के जल है, सत्य की धाराये है, 'ऋतस्य धारा' और वे सब बाधाओ को पार करके मानवीय चेतना के अन्दर जा पहुचते है। इस अर्थ में वे सब 'अप्तुर' है। परन्तु साथ ही मनुष्य का भी इस रूप मे वर्णन हुआ है कि वह जलो को पार करके सत्य-चेतना के अपने घर में पहुचता है और वहा देवता उसे पार पहुचाते है, यह विचारणीय है कि कही 'अप्तुर' का वास्तविक अर्थ यहा यह ही तो नही है, विशेषकर जब कि अप्तुर तूर्णयः इन दो शब्दो को हम एक दूसरेके आसपास एक ऐसे सम्बन्ध में रखा हुआ पाते है जो सबन्ध कि बडी अच्छी तरह अर्थपूर्ण हो सकता है।

[1] फिर ये देवता किन्ही आक्रामको के (स्रिध्) आक्रमण हो सकने से सर्वथा

रहित है, चोट पहुचानेवाली या विरोधी शक्तियो की हानि (द्रोह) से रहित है और इसलिये उनके सचेतन ज्ञान की सर्जक रचनाए, उनकी 'माया' स्वच्छन्द रूप से, व्यापक रूप से गति करती है, अपने ठीक उद्देश्य को प्राप्त कर लेती है—**अस्रिध एहिमायासो अद्रुहः।** यदि हम वेद के उन अनेक सदर्भो को ध्यान मे लायें जिनमें यह निर्देश किया गया है कि यज्ञ, कर्म, यात्रा, प्रकाश की वृद्धि तथा जलो की अधिकता का सामान्य उद्देश्य सत्यचेतना की—इसके परिणामभूत सुख, 'मयस्' के साथ सत्यचेतना की—'ऋतम्' की प्राप्ति है, तथा इस बात पर विचार करे कि 'विश्वेदेवा' के ये विशेषण सामान्य रूप से असीम, पूर्ण सत्यचेतना की शक्तियो की ओर लगते है, तो हम यह समझ सकते है कि सत्य की यह उपलब्धि ही है जो कि इन तीन ऋचाओ में निर्दिष्ट हुई है। ये 'विश्वेदेवा' मनुष्य की वृद्धि करते हैं, वे उसे महान् कार्य में सहारा देते हैं, वे उसके लिये 'स्व' के जलो की प्रचुरता को, सत्य की धाराओ को लाते है, वे सत्य-चेतना की अवृष्य रूप से पूर्ण तथा व्यापक क्रिया का इसके ज्ञान की विशाल रचनाओ, 'माया' के साथ ससर्ग स्थापित करते है।

'उस्रा इव स्वसराणि' इस वाक्याश का अनुवाद मैंने, जो अधिक-से-अधिक बाह्य अर्थ सभव है, वह किया है, पर वेद में काव्यमय उपमाए भी केवलमात्र शोभा के लिय बहुत ही कम या कही भी नही प्रयुक्त की गई है, उनका प्रयोग भी आध्यात्मिक अर्थ को गहरा करने के लिये एक प्रतीकात्मक अथवा द्व्यर्थक अलकार के साथ किया गया है। वेद में 'उस्रा' शब्द, 'गो' शब्द के समान ही, हर जगह दोहरे अर्थ में प्रयुक्त होता है, अर्थात् इसके मूर्त आलकारिक रूप या प्रतीक, बैल या गाय के अर्थ को देता है और साथ ही इसके आध्यात्मिक अभिप्राय, चमकीली या ज्योतिर्मय वस्तुओ का, मनुष्य के अन्दर जो सत्य की प्रकाशमय शक्तिया है उनका भी निर्देश करता है। ऐसी प्रकाशमय शक्तियो के तौर पर ही, इसी रूप में ही, 'विश्वेदेवा' ने आना होता है, और वे सोम-रसो के पास आते है, 'स्वसराणि', मानो कि वे शान्ति के या सुख के आसनो या रूपो पर आ रहे हो, क्योकि 'स्वस्' धातु, 'सम्' तथा अन्य कई धातुओ के समान, दोनो अर्थ रखती है, विश्राम करना और आनन्द लेना। वे सत्य की शक्तिया है जो कि

मनुष्य के अन्दर होनेवाले आनन्द के उत्सरणो मे प्रवेश करती है, ज्योही कि इस कार्य की अश्विनो की प्राण-क्रिया तथा मानमिक क्रिया के द्वारा और इन्द्र की विशुद्ध मानसिक क्रिया के द्वारा तैयारी हो चुकी होती है।

"ओ पालन-पोषण करनेवालो, जो कर्ता को उसके कर्म मे सहारा दिये रहते हो, धारे रखते हो, ओ सव-देवो, आओ और बाट लो उम मोमरस को, जिमे कि मै वितरित कर रहा हू।"

"ओ सव-देवताओ, जो हमे जलो को ऊपर मे लाकर देते हो, पार उतरकर आते हुए तुम मेरी सोम की हवियो के पाम आओ, प्रकाशमय शक्तियो के तौर पर अपने मुख के स्थानो पर आओ।"

"ओ मब-देवताओ, तुम जो कि आक्रात नही हो सकते हो, जिनको हानि नही पहुचायी जा सकती है, अपने ज्ञान के रूपो मे स्वच्छन्दता के साथ गति करते हुए तुम आकर मेरे यज्ञ के साथ सलग्न रहो, उसके वहन करनेवाले होकर।"

• और अन्तिम तौर पर, सूक्त की अन्तिम शृखला मे हम सत्य-चेतना का इस रूप मे स्पष्ट और असदिग्ध निर्देश पाते है कि वह यज्ञ का ध्येय है, सोम-हवि का उद्दिष्ट लक्ष्य है, प्राणशक्ति मे और मन मे अश्विनो का, इन्द्र का और विश्वेदेवा का जो कार्य है उसकी चरम कोटि है। क्योकि ये तीन ऋचाए 'सरस्वती' को, **दिव्य वाणी** को अर्पित की गई है, जो अन्त प्रेरणा की उस धारा को सूचित करती है जो कि सत्यचेतना से अवरोहण करती है, उतरती है और इस प्रकार निर्मल स्पष्टता के साथ उन ऋचाओ का आशय यह निकलता है।

"पावक सरस्वती, समृद्धि के अपने रूपो की सपूर्ण समृद्धता के साथ, विचार के द्वारा साररूपी ऐश्वर्यवाली होकर हमारे यज्ञ को चाहे।"

"वह, सुखमय सत्यो की प्रेरयित्री, चेतना मे सुमतियो को जागृत करनेवाली सरस्वती, यज्ञ को धारण करती है।"

"सरस्वती ज्ञानद्वारा, बोधनद्वारा चेतना के अन्दर बडी भारी बाढ को (ऋतम् की व्यापक गति को) जागृत करती है और समस्त विचारो को प्रकाशित कर देती है।"

इस सूक्त का यह स्पष्ट और उज्ज्वल अन्त उस सबपर अपना प्रकाश डालता

है जो इस सूक्त मे पहले आ चुका है। यह वैदिक यज्ञ तथा मन और आत्मा की एक अवस्था के बीच घनिष्ठ सबन्ध को दर्शाता है, घी की और सोम-रस की हवि और प्रकाशयुक्त विचार, आध्यात्मिक अन्तर्निहित ऐश्वर्य की समृद्धि, मन की सम्यक् अवस्थाए और सत्य तथा प्रकाश की ओर इसकी जागृति और प्रवृत्ति, इनमें परस्पर अन्योन्याश्रयता को दर्शाता है। यह सरस्वती की प्रतिमा को इस रूप में प्रकट करता है कि यह अन्त प्रेरणा की, 'श्रुति' की देवी है। और यह वैदिक नदियो तथा मन की आध्यात्मिक अवस्थाओ के बीच सबन्ध स्थापित करता है। यह सदर्भ उन प्रकाशभरे सकेतो मे से एक है जिनको कि ऋषियों ने अपनी प्रतीकात्मक शैली की जानबूझकर रची गयी अस्पष्टार्थताओ के बीच में कही-कही बिखरे रूप में रख छोडा है, ताकि वे हमें उनके रहस्य तक पहुचाने में हमारे पथप्रदर्शक हो सके।

दसवा अध्याय

सरस्वती और उसके सहचारी

वेद का प्रतीकवाद देवी सरस्वती के अलकार मे अत्यधिक स्पष्टता के साथ अपने-आपको प्रकट कर देता है, छुपा नही रख सकता। वहुत से अन्य देवताओ में उनके आन्तरिक अर्थ का तथा उनके वाह्य अलकार का सतुलन वडी सावधानी के साथ सुरक्षित रखा गया है। वेदवाणी के सामान्य श्रोता तक के लिये यह तो है कि अलकार का वह आवरण कही-कही पारदर्शक हो जाता है या कही-कही से उसके कोने उठ जाते है, पर यह कभी नही होता कि वह विलकुल ही हट जाय। कोई यह सदेह कर सकता है कि 'अग्नि' क्या इसके अतिरिक्त भी कुछ है कि यज्ञिय आग को या पदार्थों में रहनेवाले प्रकाश या ताप के भौतिक तत्त्व को सजीव शरीर-धारी मान लिया गया है, अथवा 'इन्द्र' क्या इसके अतिरिक्त भी कुछ है कि वह आकाश और वर्षा का या भौतिक प्रकाश (विद्युत्) का देव है, अथवा 'वायु' इसके अतिरिक्त भी कुछ है कि वह आधी और पवन में रहनेवाला या अधिक-से-अधिक भौतिक जीवन-श्वास का देवता है। पर अपेक्षाकृत छोटे देवताओ के विषय में प्रकृतिवादी व्याख्या को अपना विश्वास कराने के लिये वहुत कम आधार है। क्योकि यह प्रकट है कि 'वरुण' केवल वेद का यूरेनस (Uranus) या नैपचून (Neptune) ही नही है, परतु वह एक ऐसा देवता है जिसके कि वडे महान् और महत्त्वपूर्ण नैतिक व्यापार है। 'मित्र' और 'भग' का भी इसी प्रकार का आध्यात्मिक स्वरूप है। 'ऋभु' जो कि मन के द्वारा वस्तुओ की रचना करते है और कर्मों के द्वारा अमरता का निर्माण करते है, कठिनता से ही कूटे-पीटे जाकर प्रकृतिवादी गाथाशास्त्र के* प्रोक्रस्टियन साचे में ढाले जा सकते है। फिर

*ग्रीक गाथाशास्त्र में **प्रोक्रस्टी** नामक एक असुर था जो कि सब लोगों को अपनी चारपाई के विलकुल अनुकूल कर लेता था। जो लवे होते थे उनके पैर

भी वैदिक ऋचाओ के कवियो के सिर पर विचारो की अस्तव्यस्तता और गडवडी का दोप मढकर इस कठिनता को हटाया नही, तो कुचला तो जा ही सकता है। पर 'सरस्वती' तो इस प्रकार के किसी भी उपाय के वश मे नही होगी। वह तो सीधे तौर से और स्पष्ट ही वाणी की देवी है, एक दिव्य अन्त प्रेरणा की देवी है।

यदि सव कुछ इतना ही होता, तो यह हमे इस स्पष्ट तथ्य से विशेष अधिक दूर नही ले जाता कि वैदिक ऋषि केवल प्रकृतिवादी जगली नही थे, वल्कि वे अपने आध्यात्मिक विचार रखते थे और गाथात्मक प्रतीको की रचना करने में समर्थ थे, जो प्रतीक कि, न केवल भौतिक प्रकृति के उन स्पष्ट व्यापारो को सूचित करते थे जिनका सरोकार उनके कृषिसवधी, पशुपालनसवधी तथा उनके खुली हवा में रहने के जीवन से था पर साथ ही वे मन तथा आत्मा के आन्तरिक व्यापारो के सूचक भी थे। यदि हम प्राचीन धार्मिक विचार के इतिहास को यह समझें कि यह एक क्रमिक विकास है जो कि प्रकृति और जगत् तथा देवताओ के सवध में भौतिक से आध्यात्मिक की ओर, विशुद्ध प्रकृतिवाद से एक उत्तरोत्तर वढते हुए नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण की ओर हुआ है (और यही, यद्यपि यह किसी भी प्रकार निश्चित नही है, आजकल के लिये माना हुआ दृष्टिकोण है*) तो हमें

काट देता था, जो छोटे होते थे उनको खीचकर उतना लवा कर देता था। उस से प्रोक्रस्टियन शव्द वना है। जवरदस्ती काट-छाटकर खीचतान कर अनुकूल वनानेवाला।

*मैं नही समझता कि हमारे पास कोई वास्तविक सामग्री है, जिसमे कि हम धार्मिक विचारो के प्रारभिक उद्गम तथा उनके आदिम इतिहास का निश्चय कर सके। असल मे तथ्य जिसकी ओर सकेत करते है, वह यह है कि एक प्राचीन शिक्षा थी जो कि एक साथ ही आध्यात्मिक और प्रकृतिवादी दोनो थी अर्थात् उसके दो पार्श्व थे, जिनमें से कि पहला कम या अधिक धुवला हुआ-हुआ था, परन्तु पूर्ण रूप से विलुप्त वह जगली जातियो तक मे कभी नही हुआ था, वैसी जातियो तक मे जैसी कि उत्तरीय अमेरिका की थी। पर यह शिक्षा यद्यपि प्रागैतिहासिक थी, पर किसी भी प्रकार से प्राथमिक नही थी।

अवश्यमेव यह कल्पना करनी चाहिये कि वैदिक कवि कम-से-कम पहले मे ही देवताओ के सम्बन्ध में भौतिक और प्रगतिवादी विचार मे नैतिक तथा आत्मिक विचार की ओर प्रगति कर रहे थे। परन्तु 'सरस्वती' केवल अन्त प्रेरणा की देवी ही नही है, इसीके साथ-साथ वह प्राचीन आर्य जगत् की सात नदियो मे से भी एक है। यहा तुरन्त यह प्रश्न उठता है कि यह असाधारण एकरूपता—अन्त प्रेरणा और नदी की एकरूपता कहा से आ गई ? और किस प्रकार इन दो विचारो का सम्बन्ध वैदिक मत्रो में आ पहुचा ? और इतना ही नही और भी है, क्योकि 'सरस्वती' केवल अपने आपमे ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, वल्कि अपने सबन्धो के साथ है। आगे चलने से पहले हम उन सम्बन्धो पर भी शीघ्रता के साथ एक स्थूल दृष्टि डाल जायें, यह देखने के लिये कि उनसे हमें क्या पता लगता है।

कविता की अन्त प्रेरणा के साथ नदी का साहचर्य ग्रीक गाथाशास्त्र में भी आता है, पर वहा म्यूजज (Muses) नदियो के रूप मे नही समझी गयी है, उनका सम्बन्ध केवल एक विशेष पार्थिव धारा के साथ है, वह भी वहुत सुवोध रूप में नही। वह धारा है 'हिप्पोक्रेन' (Hippocrene) नदी, घोडे की धारा, और इसके नाम की व्याख्या करने के लिये एक कहानी है कि यह दिव्य घोडे पैगेसस (Pegasus) के सुम से निकली थी, क्योकि उसने अपने सुम से चट्टान पर प्रहार किया और अन्त प्रेरणा के जल उसमें वहा से वह निकले जहा कि चट्टान पर इस प्रकार प्रहार किया गया था। क्या यह कथानक केवल एक (ग्रीक में) परिओ की कहानी थी ? अथवा इसका कुछ विशेष अर्थ था ? और यह स्पष्ट है कि, यदि इसका कुछ अर्थ था, तो क्योकि यह स्पष्ट ही एक आध्यात्मिक घटना का, अन्त प्रेरणा के जलो की उत्पत्ति का सकेत करती है इसलिये वह अर्थ अवश्यमेव आध्यात्मिक अर्थ होना चाहिये था, अवश्य ही यह किन्ही आध्यात्मिक तथ्यो को मूर्त्त रूपो के अन्दर रखने का एक प्रयास होना चाहिये था। हम इसपर ध्यान दे सकते है कि पैगेसस (Pegasus) शब्द को यदि प्रारभिक आर्यन स्वरशास्त्र के अनुसार लिखें, तो यह पाजस बन जाता है और स्पष्ट ही इसका सबन्ध सस्कृत के 'पाजस्' शब्द से लगता है जिसका कि

मूल अर्थ था शक्ति, गति या कभी-कभी पैर रखना। स्वय ग्रीक भाषा मे भी इसका सबध पेगे (Pege) अर्थात् धारा के साथ है। इसलिये इस कथानक के शब्दो मे अन्त प्रेरणा की शक्तिशाली गति के रूपक के साथ इसका सतत सबध है। यदि हम वैदिक प्रतीको की ओर आए, तो हम देखते है कि वहा 'अश्व' या घोडा जीवन की महान् क्रियाशील शक्ति की, प्राणमय या वातिक शक्ति की मूर्त प्रतिमा है और निरतर उन दूसरी प्रतिमाओ के साथ जुडा हुआ है जो कि चेतना की द्योतक है। 'अद्रि', पहाडी या चट्टान, साकार सत्ता का और विशेषकर भौतिक प्रकृति का प्रतीक है और यह इसी पहाडी या चट्टान मे से होता है कि सूर्य की गौए छूटकर आती है और जल प्रवाहित होते है। 'मधु' की, शहद की, 'सोम' की धाराओ के लिये भी कहा गया है कि वे इस पहाडी या चट्टान मे से दुही जाती है। चट्टान पर घोडे के सुम का प्रहार जिसमे कि अन्त प्रेरणा के जल छूट निकलते है, इस प्रकार बहुत ही स्पष्ट आध्यात्मिक रूपक हो जाता है। न ही इसमें कोई युक्ति है कि यह कल्पना की जाय कि प्राचीन ग्रीक और भारतीय इस योग्य नही थे कि, वे इस प्रकार के आध्यात्मिक निरूपण कर सके या इसे कवितात्मक और रहस्यमय अलकार में रख सके जो कि प्राचीन रहस्यवाद का असली कलेवर ही था।

अवश्य ही हम और दूर तक जा सकते है और इसकी पडताल कर सकते है कि वीर बैलेरोफन (Bellerophon), जो कि बैलेरस (Bellerus) का वध करनेवाला है और जो कि दिव्य घोडे पर सवार होता है, का कुछ मौलिक सबन्ध उस 'वलहन् इन्द्र' के साथ तो नही था जो कि वेद में 'वल' का घातक है, उस 'वल' शत्रु का जो कि प्रकाश को अपने कब्जे में कर रखता है? पर यह हमें हमारे विषय की सीमा से परे ले जायगा। न ही 'पैगेसस' के कथानक की यह व्याख्या इसकी अपेक्षा किसी और सुदूर परिणाम पर पहुचा सकती है कि यह पूर्वजो की स्वाभाविक कल्पना-पद्धति को दर्शाये और उस प्रणाली को दर्शाये जिसमे कि वे अन्त प्रेरणा की धारा को बहते हुए पानी की एक सचमुच की धारा के रूप मे चित्रित कर सके। 'सरस्वती' का अर्थ है, "वह जो धारावाली है, प्रवाह की गति से युक्त है", और इसलिये यह दोनो के लिये एक स्वाभाविक नाम

है, नदी के लिये और अन्त प्रेरणा की देवी के लिये। परन्तु विचारणा या साह-चर्य की किस प्रक्रिया के द्वारा यह सम्भव हुआ कि अन्त प्रेरणा की नदी के सामान्य विचार का सम्वन्ध एक विशेप पार्थिव धारा के साथ जुड गया ? और वेद मे यह एक ही नदी का प्रश्न नही है, जो कि अपने चारो ओर की प्राकृतिक और गाथात्मक परिस्थितियो के द्वारा पवित्र अन्त प्रेरणा के विचार के साथ किसी अन्य नदी की अपेक्षा अधिक उपयुक्त रूप से सम्वद्ध प्रतीत होती हो। क्योकि यहा यह एक का नही अपितु सात नदियो का प्रश्न है, जो सातो कि ऋपियो के मनो मे सदा परस्पर सवद्ध रूप से रहती है और वे सारी ही इकट्ठी 'इन्द्र' देवता के प्रहार के द्वारा छूटकर निकली है, जव कि उसने 'पाइथन'[1] (Python) (वडे भारी साप, अजगर, वेद के 'अहि') पर प्रहार किया, जो कि उनके स्रोत के चारो ओर कुडली मारकर वैठा हुआ था और जिसने उनके वाह्य प्रवाह को रोका हुआ था। यह असम्भव प्रतीत होता है कि हम यह कल्पना कर ले कि इन सप्तरूप प्रवाहो मे से केवल एक नदी आध्यात्मिक अभिप्राय रखती थी और शेष का सम्वन्ध केवल पजाव में प्रति वर्ष आनेवाले वर्षा के आगमन से था। जव हम 'सरस्वती' की अध्यात्मपरक व्याख्या करते है, तो इसके साथ ही यह आव-श्यक हो जाता है कि हम वैदिक "जलो" के सपूर्ण प्रतीक की ही आध्यात्मिक व्याख्या करे।[2]

'सरस्वती' का सम्बन्ध न केवल अन्य नदियो के साथ है, किन्तु अन्य देवियो के साथ भी है जो देविया कि स्पष्ट तौर से आध्यात्मिक प्रतीक है और

---

[1]ग्रीक गाथाशास्त्र में यह एक भीषणकाय साप या दैत्य था, जिसे कि, अपोलो (Apollo) ने, जो कि सूर्य का देवता है, मारा था। यही समानता वेद में इस रूप में पायी जाती है कि वहा 'इन्द्र' ने 'अहि' का वध किया है।—अनुवादक

[2]नदिया उत्तरकाल के भारतीय विचार में एक प्रतीकात्मक अर्थ रखती है, उदाहरण के लिये, गगा, यमुना और सरस्वती और उनके सगम तान्त्रिक कल्पना में यौगिक प्रतीक है और वे सामान्य रूप से यौगिक प्रतीकवाद में प्रयुक्त किये गये है, यद्यपि एक भिन्न तरीके से।

विशेषकर 'भारती' और 'इळा' के साथ। बाद के पौराणिक पूजा-रूपो में 'सरस्वती' वाणी की, विद्या की और कविता की देवी है और 'भारती' उसके नामो मे से ही एक है, पर वेद मे 'भारती' और 'सरस्वती' भिन्न-भिन्न देविया है। 'भारती' को 'मही' अर्थात् विशाल, महान् या विस्तीर्ण भी कहा गया है। 'इळा', 'मही' या 'भारती' और 'सरस्वती' ये तीनो उन प्रार्थनामन्त्रो में जिनमें कि 'अग्नि' के साथ देवताओ को यज्ञ में पुकारा गया है, एक स्थिर सूत्र के रूप में इकट्ठी आती है।

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुव.।
बर्हि सीदन्त्वस्रिध.॥ (ऋ० १-१३-९)

"'इळा', 'सरस्वती' और 'मही' ये तीन देविया जो कि सुख को उत्पन्न करनेवाली है, यज्ञिय आसन पर आकर बैठें, वे जो कि स्खलन को प्राप्त नही होती, या 'जिनको हानि नही पहुच (सक) ती' अथवा 'जो हानि नही पहुचाती'।" इस अन्तिम विशेषण 'अस्रिध' का अभिप्राय मेरे विचार मे यह है कि वे जिनमे कि कोई भी मिथ्या गति और फलत उसका कोई बुरा परिणाम—'दुरितम्' नही होता, जिनका कि पाप और भ्राति के अन्व कूपो में किसी प्रकार का स्खलन नही होता। दशम मण्डल के ११० वे सूक्त में यह सूत्र और विस्तार के साथ आता है—

आ नो यज्ञ भारती तूयमेतु इळा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेद स्योन सरस्वती स्वपस सदन्तु॥

"'भारती' शीघ्रता के साथ हमारे यज्ञ मे आवे और 'इला' यहा मनुष्योचित प्रकार से हमारी चेतना को (या ज्ञान को अथवा बोधो को) जागृत करती हुई आवे, और 'सरस्वती' आवे,—ये तीनो देविया इस सुखमय आसन पर बैठे, कर्म को अच्छी प्रकार करती हुई।"

यह स्पष्ट है तथा और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा कि ये तीनो देविया परस्पर अत्यधिक सबद्ध व्यापारो को रखती है, जो कि 'सरस्वती' की अन्त प्रेरणा की शक्ति के सजातीय है। 'सरस्वती' वाणी है, अन्त.प्रेरणा है जो कि, जैसा कि मेरा विचार है, 'ऋतम्' से, सत्यचेतना से आती है। 'भारती' और 'इळा' भी

अवश्यमेव उसी वाणी या ज्ञान के विभिन्न रूप होने चाहिये। मधुच्छदस् के आठवे सूक्त मे हमे एक ऋचा मिलती है, जिसमे कि 'भारती' का 'मही' नाम से उल्लेख हुआ है–

एवा ह्यस्य सूनृता, विरप्शी गोमती मही।
पक्वा शाखा न दाशुषे॥ (ऋ० १-८-८)

'इस प्रकार 'मही' इन्द्र के लिये किरणो से भरपूर हुई-हुई, अपनी बहुलता मे उमडती हुई, एक सुखमय सत्य के स्वरूपवाली, हवि देनेवाले के लिये इस प्रकार हो जाती है मानो वह पके फलो से लदी हुई कोई शाखा हो।'

किरणें वेद मे 'सूर्य' की किरणें है। क्या हम यह कल्पना करे कि यह देवी भौतिक प्रकाश की कोई देवी है, अथवा 'गो' का अनुवाद हम गाय करे और इस प्रकार यह कल्पना करे कि 'मही' के पास यज्ञ के लिये गाये भरी पडी है? 'सरस्वती' का आध्यात्मिक स्वरूप हमारे सामने आकर हमें इस दूसरी बेहूदी कल्पना से मुक्त करा देता है, पर साथ ही यह (पहली) प्रकृतिवादी व्याख्या का भी उसी प्रकार प्रतिषेध करता है। 'मही' का इस प्रकार से वर्णित होना जो कि यज्ञ मे सरस्वती की सहचारिणी है, अन्त प्रेरणा की देवी की बहिन है, उत्तरकालीन गाथाशास्त्र मे जो सरस्वती के साथ बिलकुल एक कर दी गयी है–दूसरे सैकडो प्रमाणो के बीच मे–इसका एक और प्रमाण है कि वेद मे प्रकाश ज्ञान का, आत्मिक ज्योति का प्रतीक है। 'सूर्य' अधिपति है अत्युच्च दृष्टि का, महान् प्रकाश का, 'बृहज्ज्योति' अथवा जैसा कि कही-कही इसके लिये कहा गया है 'ऋत ज्योति' सच्चे प्रकाश का। और 'ऋतम्' तथा 'बृहत्' इन शब्दो मे सबध वेद में सतत रूप से पाया जाता है।

यह मुझे असभव प्रतीत होता है कि इन शब्दप्रयोगो का इसके अतिरिक्त कुछ और अर्थ समझा जाय कि इनमें प्रकाशमय चेतना की अवस्था का निर्देश है, जिसका कि स्वरूप यह है कि वह विस्तृत या विशाल है 'बृहत्', सत्ता के सत्य से भरपूर है 'सत्यम्', और ज्ञान तथा क्रिया के सत्य से युक्त है 'ऋतम्'। देवताओ के पास यही चेतना होती है। उदाहरण के लिये 'अग्नि' को 'ऋतचित्' कहा गया है, अर्थात् वह जो कि सत्यचेतनावाला है। 'मही' इस सूर्य की किरणो से भरपूर

है, वह अपने अदर इस प्रकाश को रखती है। इसके अतिरिक्त वह 'सूनृता' है, सुखमय सत्य की वाणी है, ऐसे ही जैसे कि सरस्वती के विषय मे भी कहा गया है कि वह सुखमय सत्यो की प्रेरयित्री है, **चोदयित्री सूनृतानाम्**। अत में वह 'विरप्शी' है, विशाल है या प्रचुरता मे फूट निकलनेवाली है और यह शब्द हमे इसका स्मरण करा देता है कि सत्य जो कि विशालतारूप भी है 'ऋतम् बृहत्'। और एक दूसरे मत्र (ऋ १ २२ १०) में उसका वर्णन इस रूप मे आता है कि वह 'वरूत्री धिषणा' है, विचार-शक्ति को विशाल रूप से ओढे हुए या आलिंगन किये हुए है। तो 'मही' सत्य की प्रकाशमय व्यापकता है, हमारे अदर अपने मे सत्य को, 'ऋतम्' को धारण किये हुए जो अतिचेतन (Superconscient) है उसकी विशालता को, 'बृहत्' को प्रकट करनेवाली वह है। इसलिये वह यज्ञ-कर्ता के लिये पके फलो से लदी हुई एक शाखा के समान है।

'इळा' भी सत्य की वाणी है, उत्तरकाल में होनेवाली अस्तव्यस्तता में इसका नाम वाक् का समानार्थक हो गया है। जैसे सरस्वती है सत्य विचारो या मन की सत्य अवस्थाओ की ओर चेतना को जागृत करनेवाली, **'चेतन्ती सुमतीनाम्'** उसी प्रकार 'इळा' भी चेतना को ज्ञान के प्रति जागृत करती हुई, 'चेतयन्ती', यज्ञ में आती है। वह शक्ति मे भरपूर है, 'सुवीरा', और ज्ञान को लाती है। उस का भी सम्बन्ध 'सूर्य' के साथ है, जैसे कि ५-४-४ में 'अग्नि' का, सकल्पशक्ति का, आवाहन किया गया है कि वह 'इळा' के साथ समना होकर 'सूर्य' की, सत्य प्रकाश के अधिपति की, किरणो के द्वारा यत्न करता हुआ आवे, **"इळया सजोषा यतमानो रश्मिभि सूर्यस्य"**। वह किरणो की, 'सूर्य' की गौओ की, माता है। उसके नाम से अभिप्राय निकलता है कि वह जो कि खोजती है और पा लेती है और यह शब्द अपने अन्दर उसी विचार-साहचर्य को रखता है, जो कि 'ऋतम्' और 'ऋषि' शब्द मे है। 'इळा' को इसलिये ठीक-ठीक यह समझा जा सकता है कि यह द्रष्टा की दर्शनशक्ति है जो कि सत्य को पा लेती है।

जैसे सरस्वती सत्यश्रवण की, 'श्रुति' की सूचक है जो कि अन्त प्रेरणा की वाणी को देती है, वैसे ही इळा 'दृष्टि' को, सत्य-दर्शन को सूचित करती है। यदि ऐसा हो, तो क्योंकि 'दृष्टि' और 'श्रुति' ये ऋषि, कवि, सत्य के द्रष्टा की दो शक्ति-

था है, इसलिये हम 'इळा' और 'सरस्वती' के घनिष्ठ सम्बन्ध को समझ सकते है। 'भारती' या 'मही' सत्यचेतना की विशालता है, जो कि मनुष्य के सीमित मन मे उदित होकर उक्त दो शक्तियो को, जो दो वहिने है, अपने साथ लाती है। यह भी हम समझ सकते है कि किस प्रकार ये सूक्ष्म और सजीव अन्तर पीछे जाकर उपेक्षित हो गये, जब कि वैदिक ज्ञान का ह्रास हुआ और 'भारती', 'सरस्वती' 'इळा' तीनो एक मे परिणत हो गयी।

हम इसपर भी ध्यान दे सकते है कि इन तीन देवियो के विषय मे यह कहा गया है कि ये मनुष्य के लिये सुख, 'मयस्' को उत्पन्न करती है। वैदिक ऋषियो की धारणानुसार जो सत्य और सुख या आनन्द के बीच मे सतत सम्बन्ध है उसपर मै पहले ही बल दे चुका हू। यह मनुष्य के अन्दर सत्यमय या असीम चेतना के उदय होने के द्वारा होता है कि वह पीडा और कष्ट के इस दु स्वप्न मे से, इस विभक्त (द्वन्द्वमय) रचना मे से निकलकर उस आनन्द में, सुखमय अवस्था में पहुच जाता है जिसका कि वेद में 'भद्रम्', 'मयस्' (प्रेम और सुख), 'स्वस्ति' (सत्ता की उत्तम अवस्था, सम्यक् अस्तित्व) शब्दो से तथा अन्य कई अपेक्षाकृत कम पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त 'वार्यम्', 'रयि', 'राय' जैसे शब्दो से वर्णन किया गया है। वैदिक ऋषि के लिये सत्य एक रास्ता है, तथा प्रारभिक कोठरी है और दिव्य सत्ता का आनन्द लक्ष्य है, अथवा यो कहे कि सत्य है नीव, आनन्द है सर्वोच्च परिणाम।

तो यह है आध्यात्मिकवाद के अनुसार 'सरस्वती' का स्वरूप, उसका अपना विशिष्ट व्यापार और देवताओ के बीच मे जो उसके अधिकतम निकट सहचारी है उनके साथ उसका सम्बन्ध। ये कहा तक उसपर कुछ प्रकाश डालते है जो कि वैदिक नदी के रूप में उसका अपनी छ बहिन नदियो के साथ सम्बन्ध है? सात की सख्या का वैदिक सप्रदाय में एक बहुत ही मुख्य स्थान है, जैसा कि अधिकाश बहुत प्राचीन विचार-सप्रदायो में है। हम उसे निरन्तर आता देखते है—सात आनन्द, **'सप्त रत्नानि'**, सात ज्वालायें, अग्नि की जिह्वायें या किरणें, **'सप्त अर्चिष'**, **'सप्त ज्वाला'**, विचार-तत्त्व के सात रूप, **'सप्त धीतय'**, सात **किरणे या गौए**, जो कि अवध्य **गौ**, 'अदिति', देवो की माता के रूप है, **'सप्त गाव'**,

सात नदिया, सात मातायें या प्रीणयिश्री गौए, 'सप्त मातर', 'सप्त धेनव', जो कि शब्द समान रूप से किरणो और नदियो दोनो के लिये प्रयुक्त किया गया है। ये सव सात के समुदाय, मुझे प्रतीत होता है, सत्ता के आधारभूत तत्त्वो के वैदिक वर्गीकरण पर आश्रित है। इन तत्त्वो की सख्या का अन्वेषण पूर्वजो के विचारशील मन के लिये वहुत ही रुचिकर था और भारतीय दर्शनशास्त्र मे हम इसके विभिन्न उत्तर पाते है जो कि एक सख्या से शुरू होकर वढकर वीस से ऊपर तक पहुचते है। वैदिक विचार में इसके लिये जो आधार चुना गया था वह आध्यात्मिक तत्त्वो की सख्या था, क्योकि ऋषियो के विचार में सम्पूर्ण अस्तित्व एक सचेतन सत्ता की ही हलचलरूप था। आधुनिक मन को ये विचार और वर्गीकरण चाहे केवल कौतूहलपूर्ण या निस्सार ही क्यो न प्रतीत हों, पर वे केवल शुष्क दार्शनिक भेद नही थे, वल्कि एक सजीव आध्यात्मिक अभ्यास-पद्धति के साथ निकट रूप से सम्बन्ध रखते थे, जिसके कि वे वहुत अशो मे विचारमय आधार थे, और चाहे कुछ भी हो हमें अवश्यमेव उन्हे साफ-साफ समझ लेना चाहिये यदि हम किसी यथार्थता के साथ अपना विचार इस प्राचीन और दूरवर्ती सप्रदाय के विषय में वनाना चाहते हो।

तो हम वेद में तत्त्वो की सख्या को विविध रूप मे प्रतिपादित हुआ पाते हैं। 'एक' को समझा गया था आधारभूत और आत्मपूर्ण, इस 'एक' के अन्दर दो तत्त्व रहते थे दिव्य तथा मानव, मर्त्य तथा अमर्त्य। यह द्वित्वसख्या अन्य प्रकार से भी दो तत्त्वो में प्रयुक्त की गयी है। आकाश और पृथ्वी, मन और शरीर, आत्मा और प्रकृति, जो कि सव प्राणियो के पिता और माता समझे गये है। तो भी यह अर्थपूर्ण है कि आकाश और पृथ्वी जव कि वे प्राकृतिक शक्ति के दो रूपो, मानसिक तथा भौतिक चेतना के प्रतीक होते है, तव वे पिता और माता नही वल्कि दो माताए होते है। तीन का तत्त्व दो रूपो में समझा गया था, प्रथम तो त्रिविध दिव्य तत्त्व के रूप में, जो कि वाद के सच्चिदानन्द, दिव्य सत्ता, दिव्य चेतना और दिव्य आनन्द के अनुरूप है और दूसरे त्रिविध लौकिक तत्त्व—मन, प्राण, शरीर के रूप में, जिसपर कि वेद और पुराणो का त्रिविध लोक-सस्थान निर्मित है। परन्तु पूर्ण सख्या जो कि सामान्यत मानी गयी है वह है 'सात'। यह सात का अक वना

है तीन लौकिक तत्त्वो के माथ तीन दिव्य तत्त्वो के योग करने तथा एक सातवे या मयोजक तत्त्व के अन्तर्निवेश मे, जो कि ठीक-ठीक सत्यचेतना का 'ऋतम् वृहत्' का तत्त्व है और आगे चलकर जो 'विज्ञान' या 'मह' के रूप मे जाना गया है। इनमे से पिछले शब्द (मह) का अर्थ है विशाल और इसलिये यह 'वृहत्' का समानार्थक है। वेद मे और भी वर्गीकरण आते है, पाच का, आठ का, नौ का और दस का तथा जैसा कि प्रतीत होता है, वारह का भी, पर इस समय हमारा इनसे सम्वन्ध नही है।

यह ध्यान देने योग्य है कि ये सव तत्त्व वास्तव मे अवियोज्य और सर्वत्र व्यापक समझे गये है और इसलिये प्रकृति की प्रत्येक पृथक् रचना मे लागू होते है। उदाहरणार्थ सात **विचार** हुए है, क्योकि **मन** अपने-आपको, जैसा कि अव हम कह सकते है, सात भूमिकाओ मे से प्रत्येक में विनियुक्त करता है और भौतिक मन (यदि हम इसे यह नाम दे सके), वातिक मन, विशुद्ध मन, सत्य मन आदि आदि के रूप मे अपनेको विन्यस्त करता हुआ सप्तम भूमिका मे सर्वोच्च शिखर,'परम पगवत्' तक पहुचता है। सात किरणे या गौए हुई है, क्योकि 'अदिति' जो असीम माता है, अवध्य गाय है, परम प्रकृति या असीम चेतना है, जो **प्रकृति** या **शक्ति** के वाद के विचार का आदिस्रोत है—(**'पुरुष'** उस **पशुपालनसम्वन्धी** कल्पना के अनुसार है **बैल, 'वृषभ'**)—जो वस्तुओ की माता है, वह अपनी सृष्टि-क्रिया की सात भूमिकाओ पर सचेतन सत्ता की शक्ति के रूप में आकार धारण कर लेती है। इसी प्रकार सात नदिया चेतन धाराए है, जो कि सत्ता के समुद्र के उन सप्तविध तत्त्वो की अनुसारिणी हैं जो कि पुराणो मे परिगणित सात लोको के रूप में सूत्रबद्ध हो हमारे सामने प्रकट होते है। यह मानवीय चेतना में उन नदियो का पूर्ण प्रभाव है जो कि मनुष्य की पूर्ण क्रियाशीलता का कारण होता है, सारभूत तत्व के उसके पूर्ण खजाने को वनाता है, उसकी शक्ति की पूर्ण क्रीडा को चलाता है। वैदिक अलकार में, उसकी ये गौए उन सात नदियो के जल को पीती हैं।

यदि नदियो की इस रूपक-कल्पना को स्वीकार कर लिया जाय,—और यदि एक बार इस प्रकार के विचारो के अस्तित्व को मान लिया जाय तो यह स्पष्ट है कि उन लोगो के लिये जो कि प्राचीन आर्यों का जीवन विताते थे और वैसी परिस्थितिओ

में रहते थे, एकमात्र यही रूपक-कल्पना स्वाभाविक हो सकती थी (उनके लिये वह ऐसी ही स्वाभाविक और अनिवार्य थी, जैसी कि आजकल के हम लोगो के लिये 'प्लेन्स' [Planes = भूमिकाओं] की रूपक-कल्पना जिससे कि थ्यासोफिकल विचारो ने हमें परिचित कराया है)—तो सात नदियो मे से एक के रूप मे 'सरस्वती' का स्थान स्पष्ट हो जाता है। 'सरस्वती' वह धारा है जो कि सत्य तत्त्व से, 'ऋतम्' या 'मह' से आती है और वस्तुत ही वेद मे इस तत्त्व का वर्णन —उदाहरणार्थ हमारे तीसरे सूक्त (१ ३) के अन्तिम सदर्भ मे— हम इस प्रकार कहा गया पाते हैं कि वह महान् जल, 'महो अर्ण' है, ('महो अर्ण' यह एक ऐसा प्रयोग है जो कि एकदम हमें बाद की 'महस्' इस सज्ञा के उद्गम को बता देता है) या कही-कही इस रूप में कि, वह 'महाँ अर्णव' है। तीसरे सूक्त मे हम 'सरस्वती' तथा इन महान् जलो में निकट सम्बन्ध देखते है। तो इस सबन्ध की हमें जरा और निकटता के साथ परीक्षा कर लेनी चाहिये, इससे पहले कि हम वैदिक गौओ के विचार पर तथा 'इन्द्र' देवता और सरस्वती की सगी सम्बन्धिन देवी 'सरमा' के साथ उन गौओ के सम्बन्ध पर आवे। क्योकि यह आवश्यक है कि पहले हम इन सम्बन्धो की परिभाषा कर ले, जिससे कि हम मधुच्छन्दस् के शेष सूक्तो की परीक्षा कर सके जो सूक्त कि बिना अपवाद के उस महान् वैदिक देवता, द्यौ के अधिपति (इन्द्र) को सम्बोधित किये गये है जो कि हमारी कल्पना के अनुसार मनुष्य के अन्दर मन की शक्ति का और विशेषकर दिव्य या स्वत प्रकाश मन का प्रतीक है।

ग्यारहवा अध्याय

समुद्रों और नदियो का रूपक

मधुच्छन्दस् के तीसरे सूक्त की वे तीन ऋचाए जिनमे कि सरस्वती का आवाहन किया गया है इस प्रकार हैं–

पावका न सरस्वती, वाजेभिर्वाजिनीवती।

यज्ञ वष्टु धियावसु ॥

चोदयित्री सूनृताना, चेतन्ती सुमतीनाम्।

यज्ञ दधे सरस्वती ॥

महो अर्ण सरस्वती, प्र चेतयति केतुना।

धियो विश्वा वि राजति ॥

प्रथम दो ऋचाओ का आशय पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है, जब कि हम यह जान लेते हैं कि सरस्वती सत्य की वह शक्ति है जिसे कि हम अन्त प्रेरणा कहते है। सत्य से आनेवाली अन्त प्रेरणा सपूर्ण मिथ्यात्व से छुडा देने द्वारा हमें पवित्र कर देती है (पावका), क्योकि भारतीय विचार के अनुसार सब पाप केवल मिथ्यापन ही है, मिथ्या रूप से प्रेरित भाव, मिथ्या रूप से सचालित सकल्प और क्रिया ही है। जीवन का और हमारे अपने-आपका केद्रभृत विचार जिसको लेकर हम चलते है, एक मिथ्यात्व है और उसके द्वारा अन्य सब भी मिथ्याकृत हो जाता है। सत्य हमारे अदर आता है एक प्रकाश, एक वाणी के रूप में, और वह आकर हमारे विचार को बदलने के लिये बाधित कर देता है, हमारे अपने विषय में और जो कुछ हमारे चारो ओर है उसके विषय में एक नवीन विवेकदृष्टि को ला देता है। विचार का सत्य दर्शन (Vision) के सत्य को रचता है और दर्शन का सत्य हमारे अदर सत्ता के सत्य का निर्माण करता है और सत्ता के सत्य (सत्यम्) में से स्वभावत भावना का, सकल्प का और क्रिया का सत्य प्रवाहित होता है। यह है वास्तव में वेद का केद्रभूत विचार।

सरस्वती, अन्त:प्रेरणा, प्रकाशमय समृद्धताओ से भरपूर है (वाजेभिर्वाजिनी-वती), विचार की सपत्ति से ऐश्वर्यवती (धियावमु) है। वह यज्ञ को धारण करती है, देव के प्रति दी गयी मर्त्य जीव की क्रियाओ की हवि को धारण करती है, एक तो इस प्रकार कि वह मनुष्य की चेतना को जागृत कर देती है (चेतन्ती सुमतीना), जिससे कि वह चेतना, भावना की समुचित अवस्थाओ को और विचार की समुचित गतियो को पा लेती है, जो अवस्थाए और गतिया कि उस सत्य के अनुरूप होती हैं जहासे कि सरस्वती अपने प्रकाशो को उँडेला करती है और दूसरे इस प्रकार कि वह मनुष्य की इस चेतना के अदर उन सत्यो के उदय होने को प्रेरित कर देती है (चोदयित्री सूनृताना), जो सत्य कि वैदिक ऋषियो के अनुसार जीवन और सत्ता को असत्य, निर्बलता और सीमा से छुडा देते है और उसके लिये परम सुख के द्वारो को खोल देते है।

इस सतत जागृत करने और प्रेरित करने (चेतन और चोदन) के द्वारा जो कि 'केतु' (अर्थात् बोधन) इस एक शब्द में सगृहीत हुए-हुए है,–जिस 'केतु' को कि वस्तुओ के मिथ्या मर्त्यदर्शन से भेद करने के लिये 'दैव्य-केतु' (दिव्य बोधन) करके प्राय कहा गया है,–सरस्वती मनुष्य की क्रियाशील चेतना के अदर बडी भारी बाढ को या महान् गति को, स्वय सत्य-चेतना को ही, ला देती है और इससे वह हमारे सब विचारो को प्रकाशमान कर देती है (तीसरा मत्र)। हमें यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि वैदिक ऋषियो की यह सत्य-चेतना एक अति-मानस (मन से अतिक्रात) स्तर है, जीवन की पहाडी की सतह पर (अद्रे सानु) है जो कि हमारी सामान्य पहुच से परे है और जिसपर हमें बडी कठिनता से चढ़-कर पहुचना है। यह हमारी जागृत सत्ता का भाग नही है, यह हमसे छिपा हुआ अति-चेतन की निद्रा मे रहता है। तो हम समझ सकते है कि मधुच्छदस् का क्या आशय है, जब कि वह कहता है कि सरस्वती अन्त:प्रेरणा की सतत क्रिया के द्वारा सत्य को हमारे विचारो में चेतना के प्रति जागृत कर देती है।

परन्तु जहातक केवल व्याकरण के रूप का सबध है, इस पक्ति का इसकी अपेक्षा बिलकुल भिन्न अनुवाद भी किया जा सकता है, हम "महो अर्ण" को सरस्वती के समानाधिकरण मानकर इस ऋचा का यह अर्थ कर सकते है कि, "सरस्वती

जो कि बडी भारी नदी है, बोधन (केतु) के द्वारा हमें ज्ञान के प्रति जागृत करती है और हमारे सब विचारो मे प्रकाशित होती है।" यदि हम यहा "बडी भारी नदी" इस मुहावरे को भौतिक अर्थ मे ले और इससे पजाब की भौतिक नदी समझे, जैसा कि सायण समझता प्रतीत होता है, तो यहा हमें विचार और शब्द-प्रयोग की एक बडी असगति दिखायी पडने लगेगी, जो कि किसी भयकर स्वप्न या पागलखाने के अतिरिक्त कही सभव नही हो सकती। पर यह कल्पना की जा सकती है कि इसका अभिप्राय है, अन्त प्रेरणा का बडा भारी प्रवाह या समुद्र और यह कि, यहा सत्य-चेतना के महान् समुद्र का कोई सकेत नही है। तो भी, दूसरे ऐसे स्थलो मे देवताओ के सबध मे यह सकेत बार-बार आता है कि वे महान् प्रवाह या समुद्र की विशाल शक्ति के द्वारा कार्य करते है, (मह्ना महतो अर्णवस्य १०-६७-१२), जहा कि सरस्वती का कोई उल्लेख नही होता और यह असभव होता है कि वहा उससे अभिप्राय हो। यह सच है कि वैदिक लेखो में सरस्वती के विषय में यह कहा गया है कि वह 'इन्द्र' की गुप्त आत्मशक्ति है (यहा हम यह भी देख सकते है कि, यह एक ऐसा प्रयोग है जो कि अर्थशून्य हो जाता है, यदि सरस्वती केवल एक उत्तर की नदी हो और इन्द्र आकाश का देवता हो, पर तब इसका एक बडा गभीर और हृदयग्राही अर्थ हो जाता है यदि इन्द्र हो प्रकाशयुक्त मन और सरस्वती हो वह अन्त प्रेरणा जो कि अतिमानस सत्य के गुह्य स्तर से निकलकर आती है)। परतु इससे यह नही हो सकता कि, सरस्वती को अन्य देवो की अपेक्षा इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दे दिया जाय जितना कि तब उसे मिल जाता है यदि "मह्ना महतो अर्णवस्य" का यह अनुवाद करे कि "सरस्वती की महानता के द्वारा।" यह तो बार-बार प्रतिपादित किया गया है कि देवता सत्य की शक्ति के द्वारा, 'ऋतेन' कार्य करते है, पर सरस्वती तो सत्य के देवताओ में से केवल एक है, यह भी नही कि वह उनमें से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण या व्यापक हो। इसलिये 'महो अर्ण' का जो अर्थ मैंने किया है वही अर्थ है जो कि वेद के सामान्य विचार के साथ और दूसरे सदर्भों में जो इस वाक्याश का प्रयोग हुआ है उसके साथ सगति रखता है।

तो चाहे हम यह समझें कि यह बडा भारी प्रवाह "महो अर्ण" स्वय सरस्वती

ही है और चाहे हम उसे सत्य का समुद्र समझें, यह एक निश्चयात्मक सत्य है, जो कि इस सदर्भ के द्वारा असदिग्ध हो जाता है, कि वैदिक ऋषि जल के, नदी के या समुद्र के रूपक को आलकारिक अर्थ में और एक आध्यात्मिक प्रतीक के रूप में प्रयुक्त करते थे। तो इसको लेकर हम आगे विचार प्रारभ कर सकते हैं और देख सकते हैं कि यह हमे कहातक ले जाता है। प्रथम तो हम यह देखते है कि हिन्दू लेखो में, वेद में, पुराण में और दार्शनिक तर्कों तथा दृष्टातो तक में सत्ता को स्वयं एक समुद्र के रूप में वर्णित किया गया है। वेद दो समुद्रो का वर्णन करता है, उपरले जल और निचले जल। ये समुद्र है, एक तो अवचेतन का जो कि अध-कारमय और अभिव्यक्तिरहित है और दूसरा अतिचेतन का जो कि प्रकाशमय है और नित्य अभिव्यक्त है, पर है मानवमन से परे।

ऋषि वामदेव चतुर्थ मण्डल के अतिम सूक्त में इन दो समुद्रो का वर्णन करता है। वह कहता है कि एक मधुमय लहर समुद्र से ऊपर को आरोहण करती है और इस आरोहण करती हुई लहर, जो कि 'सोम' (अशु) है, के द्वारा मनुष्य पूर्ण रूप से अमरता को पा लेता है, वह लहर या वह सोम निर्मलता का ('घृतस्य', जो कि शुद्ध किये हुए मक्खन का, घी का, सूचक है) गुह्य नाम है, वह देवताओ की जिह्वा है, वह अमरता की नाभि है।

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारद् उपाशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्य यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभि.॥ (४।५८।१)

मै समझता हू कि इसमें सन्देह नही हो सकता कि समुद्र, मधु, सोम, घृत ये सब कम-से-कम इस सदर्भ में तो अवश्य आध्यात्मिक प्रतीक है। निश्चय ही वाम-देव का यह आशय नही है कि शराब की एक लहर या प्रवाह हिन्दमहासागर या बगाल की खाडी के खारे पानी से निकलकर अथवा चाहे यह भी सही कि, सिन्धु नदी के या गगा नदी के ताजे पानी से निकलकर ऊपर चढती हुई आयी, और यह शराब घी का गुह्य नाम है। जो वह कहना चाहता है वह स्पष्ट यह है कि हमारे अन्दर जो अवचेतन की गहराइया है उनमें से आनन्द की या सत्ता के विशुद्ध आह्लाद की एक मधुमय लहर उठती है और यह इसी आनन्द के द्वारा होता है कि हम अमरता तक पहुच पाते है, यह आनन्द वह रहस्यमय सत्ता है, वह गुह्य वास्तविकता है,

जो कि अपनी चमकती हुई निर्मलताओं से युक्त मन की क्रिया के पीछे छिपी हुई है।

'सोम', इस आनन्द का देवता, (वेदान्त भी हमें बताता है कि) वह वस्तु है जो कि मन या सवेदनात्मक बोध बन गया है। दूसरे शब्दो में, समस्त मानसिक संवेदन अपने अदर सत्ता के एक गुप्त आनन्द को रखता है और अपने ही अस्तित्व के उस रहस्य को व्यक्त करना चाहता है। इसलिये आनन्द देवताओं की जिह्वा है, जिससे कि वे सत्ता के आनन्द का आस्वादन करते हैं, यह नाभि है जिसमें कि अमर अवस्था या दिव्य सत्ता की सब क्रियाए इकट्ठी बधी हुई हैं। वामदेव अपने कथन को जारी रखता हुआ आगे कहता है, "आओ, हम निर्मलता (घृत) के इस रहस्यमय नाम को व्यक्त करे,—अभिप्राय यह कि हम इस सोम-रस को, सत्ता के इस गुह्य आनन्द को, बाहर निकाले, इसे इस विश्व-यज्ञ मे अग्नि के प्रति अपने समर्पणो या प्रणतियो के द्वारा (नमोभि) थाम ले, जो अग्नि कि वह दिव्य सकल्प या सचेतन-शक्ति है जो कि सत्ता का स्वामी (ब्रह्मा) है। वह लोकों का चार सीगोवाला बैल है, और जब वह मनुष्य के व्यक्त होते हुए आत्मिक विचारो को सुनता है तब वह आनन्द के इस गुह्य नाम को इसकी गुहा से बाहर निकाल देता है, (अवमीत्)।"

वय नाम प्र ब्रवामा घृतस्य अस्मिन् यज्ञे धारयामा नमोभि ।
उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानम् चतु शृङ्गोऽवमीद् गौर एतत् ॥ (४।५८।२)

यहा हम इस बात की तरफ भी ध्यान देते चले कि क्योकि सोमरस और घृत प्रतीकात्मक हैं इसलिये यज्ञ को भी अवश्यमेव प्रतीकात्मक ही होना चाहिये। इस प्रकार के सूक्तो में जैसा कि यह वामदेव का सूक्त है कर्मकाड का आवरण जिसे कि वैदिक रहस्यवादियो ने ऐसे प्रयत्नपूर्वक बुना था इस प्रकार विलुप्त हो जाता है जैसे कि हमारी आखो के सामने से विलीन होता हुआ कोहरा और वहा वैदातिक सत्य, वेद का रहस्य स्पष्ट दीखने लगता है।

वामदेव हमें अपने वर्णित इस समुद्र के स्वरूप के विषय में बिल्कुल भी सन्देह का अवकाश नही देता, क्योकि पाचवी ऋचा में उसने साफ ही इसे हृदय का समुद्र कह दिया है, "हृद्यात् समुद्रात्", जिसमें से कि निर्मलता की धारायें, "घृतस्य धारा", उठती हैं, वह कहता है कि वे मन और आन्तरिक हृदय के द्वारा

क्रमश पवित्र की जाती हुई बहती है, "अन्तर्हृदा मनसा पूयमाना"। और अन्तिम ऋचा में वह सारी ही सत्ता को तीन रूपो मे स्थित हुआ-हुआ वर्णन करता है, प्रथम तो 'अग्नि' के धाम में जिसे कि दूसरी ऋचाओ से हम यह जानते है कि वह सत्यचेतना है, अग्नि का अपना घर है, "स्व दमम् ऋतम् बृहत्",—दूसरे, हृदय मे, समुद्र में जो कि स्पष्ट ही वह है जो कि 'हृद्य समुद्र' है—तीसरे, मनुष्य के जीवन में (आयुषि)।

धामन् ते विश्व भुवनम् अधि श्रितम्, अन्त -समुद्रे हृद्यन्तरायुषि। (४-५८-११)

(१) अतिचेतन और (२) अवचेतन का समुद्र, तथा (३) इन दोनो के मध्य में प्राणी का जीवन,—यह (तीनो मिलकर) है सत्ता का वैदिक विचार।

अतिचेतन का समुद्र निर्मलता की नदियो का, मधुमय लहर का, लक्ष्य है, जैसे कि हृदय के अन्दर का अवचेतन का समुद्र उनके उठने का स्थान है। इस उपरले समुद्र को "सिन्धु" कहा गया है और 'सिन्धु' शब्द के नदी या समुद्र दोनो अर्थ हो सकते है, पर इस सूक्त मे स्पष्ट ही इसका अर्थ समुद्र है। आइये, जरा हम इस अद्भुत भाषा पर दृष्टि डाले जिस भाषा में कि वामदेव निर्मलता की इन नदियो का वर्णन करता है। सबसे पहले वह यह कहता है कि देवताओ ने उस निर्मलता को, 'घृतम्' को खोजा और पा लिया, जो 'घृत' कि तीन रूपो मे स्थित था, तथा पणियो ने जिसे गौ के अन्दर, 'गवि', छिपाया हुआ था।* यह नि सदिग्ध है कि 'गौ' वेद मे दो अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है, गाय और प्रकाश, गाय बाह्य प्रतीक है, आन्तरिक अर्थ है प्रकाश। गौओ का अलकार कि उनको पणि चुरा ले गये थे और ले जाकर छिपा लिया था, वेद में निरन्तर आता है। यहा यह स्पष्ट है कि क्योकि 'समुद्र' एक आध्यात्मिक प्रतीक है—हृदय का समुद्र "समुद्रे हृदि",—और 'सोम' एक आध्यात्मिक प्रतीक है, तथा 'घृत' एक आध्यात्मिक प्रतीक है इसलिये वे गौए भी जिनमें कि देवता पणियो द्वारा छिपाये गये 'घृत' को ढूढकर पा लेते है अवश्य ही एक आन्तरिक

---

*त्रिधा हित पणिभिर्गुह्यमान गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।
(इन्द्र एक सूर्य एक जजान वेनादेक स्वधया निष्टतक्षु)॥ (४।५८।४)

प्रकाश का प्रतीक होनी चाहियें, न कि भौतिक प्रकाश की सूचक। गौ वास्तव में 'अदिति' है, असीम चेतना है जो कि अवचेतन के अन्दर छिपी हुई है, और त्रिविध घृत है छूटकर आये हुए सवेदन की त्रिविध निर्मलता जो कि (१) आनन्द के, (२) प्रकाश और अन्तर्ज्ञान को प्राप्त करनवाले विचारशील मन के और (३) स्वय सत्य के, चरम अतिमानस दर्शन के अपने रहस्य को ढूढकर पा लेती है। यह इस ऋचा (४।५८।४) के उत्तरार्व से स्पष्ट हो जाता है, जिसमे कि यह कहा गया है कि "एक को इन्द्र ने पदा किया, एक को सूर्य ने, एक को देवताओ ने 'वेन' के स्वाभाविक विकास से रचा", क्योकि 'इद्र' विचारशील मन का, 'सूर्य' अतिमानस प्रकाश का अधिपति है और वेन है सोम, सत्ता के मानसिक आनन्द का अविपति, इन्द्रिय-मन का रचयिता।

अब यहा हम यह भी देख सकते है कि यहापर वर्णित 'पणि' अवश्य और वलात् आध्यात्मिक शत्रु, अन्धकार की शक्तिया ही होने चाहियें, न कि द्राविड देवता या द्राविड जातिया या द्राविड सौदागर। अगली (पाचवी) ऋचा मे वामदेव 'घृतम्' की धाराओ के विषय में कहता है कि वे हृदय के समुद्र से चलती है, जहा कि वे शत्रु द्वारा सैकडो कारागारो ('व्रजो', वाडो) में वद की हुई पडी है, जिससे कि वे दिखायी नही देती। निश्चय ही, इसका यह अभिप्राय नही है कि घी की या पानी की नदिया हृदय-समुद्र से या किसी भी समुद्र से उठती हुई बीच में दुप्ट और अन्यायी द्रविडियो से पकड ली गयी और सैकडो बाडो में वन्द कर दी गयी, जिससे कि आर्य लोगो को या आर्यों के देवताओ को उनकी झाकी तक न मिल सके। तुरन्त हम अनुभव करते है कि यह शत्रु, वेदमन्त्रो का पणि, वृत्र एक विशुद्ध आध्यात्मिक विचार है, न कि यह बात है कि यह हमारे पूर्वजो का प्राचीन भारतीय इतिहास की सचाइयो को अपनी सन्तति से छिपाने के लिये उन्हे जटिल और दुर्गम्य गाथाओ के वादलो से ढक देने का एक प्रयास हो। ऋषि वामदेव हक्का-बक्का रह जाता, यदि वह कही देख पाता कि उसके यज्ञसवन्धी रूपको को आज ऐसा अप्रत्याशित उपहास-रूप दिया जा रहा है। इससे भी कुछ वात नही बनती यदि हम 'घृत' को पानी के अर्थ मे ले, 'हृद्य समुद्र' को मनोहर झील के अर्थ में और यह कल्पना कर ले कि द्रविडियो ने नदियो के पानी को सैकडो बाध लगाकर बन्द कर लिया था, जिससे कि आर्य लोग उनकी एक झाकी तक नही पा सकते थे।

क्योकि यदि पजाव की नदिया सत्र-की-सत्र हृदय को आनन्द देनेवाली एक मनोहर झील से निकलती भी हो, तो भी यह नही हो सकता कि उनकी पानी की धाराओं को वहुत ही चालाक तथा वडे युक्ति से काम करनेवाले द्रविडियो ने इस प्रकार से एक गाय के अन्दर तीन रूपो में रख दिया हो और उस गाय को ले जाकर एक गुफा में छिपा दिया हो।

वामदेव कहता है, "ये हृदय-समुद्र से चलती हैं, शत्रु द्वारा सैंकडो वाडो में वद की हुई ये दीख नही सकती। मै निर्मलता (घृत) की धाराओ की ओर देखता हू, क्योकि उनके मध्य में सुनहरा वेंत रखा हुआ है (५ वा मत्र)। ये सम्यक् प्रकार से स्रवण करती है जैसे कि वहती हुई नदिया, ये अदर हृदय के द्वारा और मन के द्वारा पवित्र की जाती हुई, ये निर्मलता की लहरे ऐसे चलती है जैसे कि पशु अपने हाकनेवाले की अध्यक्षता में चलते हे (६ठा मत्र)। मानो कि उस रास्ते पर चल रही हो जो कि समुद्र ('सिंधु' उपरले समुद्र) के सामने है, ये महती धाराए वेगयुक्त गति से भरपूर, किन्तु प्राण की शक्ति (वात, वायु) से सीमित हुई-हुई चलती है, ये जो कि निर्मलता (घृत) की धाराए हैं, वे एक जोर मारते हुए घोडे के समान है जो कि अपने सीमित करनेवाले वधनो को तोड फेंकता है, जव कि वह लहरो द्वारा परिपुष्ट हो जाता है, (७ वा मत्र)।*" देखते ही यह मालूम हो जाता है कि यह रहस्यवादी की एक कविता है, जो कि अपने अभिप्राय को अधार्मिको से छिपाने के लिये उसे रूपको के आवरण के नीचे ढक रहा है, जिसको कि कही-कही पर वह पारदर्शक हो जाने देता है ताकि वे जो कि देखना चाहते हैं उसमेंसे देख सकें।

---

*एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम् ॥५॥
सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमाना.।
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगा इव क्षिपणोरीषमाणा ॥६॥
सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वा।
घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभि पिन्वमानः ॥७॥ (४-५८)

जो वह कहना चाहता है वह यह है कि दिव्य ज्ञान हर समय हमारे विचारो के पीछे सतत रूप मे प्रवाहित हो रहा है, परतु आन्तरिक शत्रु उसे हमसे रोके रखते है, जो शत्रु कि हमारे मन के तत्त्व को इन्द्रिय-क्रिया और इद्रियाश्रित बोध तक ही सीमित कर देते है, जिससे कि यद्यपि हमारी सत्ता की लहरे उन किनारो पर टकराती है जो कि अतिचेतन तक, असीम तक पहुचते है तो भी इन्द्रियाश्रित मन की स्नायवीय क्रिया द्वारा सीमित हो जाती है और वे अपने रहस्य को प्रकट नही कर पाती। वे उन घोडो के समान है जो कि नियत्रण से काबू में रखे हुए और लगाम से रोके हुए है, केवल तब जब कि प्रकाश की धाराए अपनी शक्ति को बढाकर भरपूर कर लेती है, जोर मारता हुआ घोडा इन बधनो को तोड पाता है और वे स्वच्छदतापूर्वक बहने लगती है, उस ओर जहासे कि सोमरस अभिपुत हुआ है और यज्ञ पैदा हुआ है —

यत्र सोम सूयते यत्र यज्ञो, घृतस्य धारा अभि तत् पवन्ते। (९)

फिर यह लक्ष्य इस रूप मे व्याख्यात हुआ है कि यह सारा मधु-ही-मधु है—घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ते (१०), यह आनन्द है, दिव्य परम-सुख है। और यह कि यह लक्ष्य 'सिधु' है, अतिचेतन समुद्र है, अतिम ऋचा में स्पष्ट कर दिया गया है जहा कि वामदेव कहता है "तेरी मधुमय लहर का हम आस्वादन कर सके"—तेरी अर्थात् 'अग्नि' की जो कि दिव्य पुरुष है, लोको का चार सीगोवाला बैल है, "जो कि लहर जलो की शक्ति में, जहा कि वे इकट्ठे होते है, धारण की हुई है।"

अपामनीके समिथे य आभृत तमश्याम मधुमन्त त ऊर्मिम्। (११)

वैदिक ऋषियो के इस आधारभूत विचार को हम 'सृष्टि-सूक्त' (१०।१२९) में प्रतिपादित किया हुआ पाते है, जहा कि अवचेतन का इस प्रकार वर्णन किया गया है, "अधकार से घिरा हुआ अधकार, यही सब कुछ था जो कि प्रारभ में था, एक समुद्र था जो कि बिना मानसिक चेतना के था इसमेंसे एक पैदा हुआ, अपनी शक्ति की महत्ता के द्वारा। (३)। पहले-पहल इसके अदर इसने इच्छा (काम) के रूप में गति की, जो इच्छा कि मन का प्रथम बीज था। उन्होने जो कि बुद्धि के स्वामी थे असत् में से उसे पा लिया जो कि सत् का निर्माण करता है, हृदय के अदर उन्होने इसे सोद्देश्य अन्त प्रवृत्ति के द्वारा और विचारात्मक मन

द्वारा पाया। (४)। उनकी किरण दिगन्तसम रूप से फैली हुई थी, उसके ऊपर भी कुछ था, उसके नीचे भी कुछ था*। (५)।" इस सदर्भ में वे ही विचार प्रतिपादित है जो कि वामदेव के सूक्त में, परतु रूपको का आवरण यहा नही है। अचेतन के समुद्र में से 'एक तत्त्व' हृदय मे उठता है जो सर्वप्रथम इच्छा (काम) के रूप मे आता है, वहा हृदय-समुद्र मे वह सत्ता के आनद की एक अव्यक्त इच्छा के रूप में गति करता है और यह इच्छा उसका प्रथम बीज है जो कि बाद में इन्द्रियाश्रित मन के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार देवताओ को अवचेतन के अधकार मे से सत् को, सचेतन सत्ता को, निर्मित कर लेने का एक साधन मिल जाता है, वे इसे हृदय में पाते है और विचार के तथा सोद्देश्य प्रवृत्ति के विकास के द्वारा बाहर निकाल लाते है, 'प्रतीष्या' जिस शब्द से मनोमय इच्छा का ग्रहण करना अभिप्रेत है, जो कि उस पहली अस्पष्ट इच्छा से भिन्न है जो कि अवचेतन में से प्रकृति की केवल प्राणमय गतियो मे उठती है। सचेतन सत्ता, जिसे कि वे इस प्रकार रचते है, इस प्रकार विस्तृत होती है मानो कि वह अन्य दो विस्तारो के बीच मे दिगन्तसम रूप में हो, नीचे अवचेतन की अधकारमय निद्रा होती है, ऊपर होती है अतिचेतन की प्रकाशपूर्ण रहस्यमयता। ये ही उपरले और निचले समुद्र है।

यह वैदिक अलकार पुराणो के इसी प्रकार के प्रतीकात्मक अलकारो पर भी एक स्पष्ट प्रकाश डालता है, विशेषकर 'विष्णु' के इस प्रसिद्ध प्रतीक पर कि वह प्रलय के बाद क्षीरसागर में 'अनत' साप की कुण्डली में शयन करता है। यहा यह आक्षेप किया जा सकता है कि पुराण तो उन अधविश्वासी हिंदू पुरोहितो या कवियो द्वारा लिखे गये थे जो कि यह विश्वास रखते थे कि ग्रहणो का कारण यह

---

*तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेत सलिल सर्वमा इदम्।
(तुच्छयेनाभ्वपिहित यदासीत्) तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥३॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत प्रथम यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामध स्विदासीदुपरि स्विदासीत्। ... ... ॥५॥

है कि एक दैत्य सूर्य और चन्द्रमा को ग्रसता (खा जाता) है और वे आसानी से ही इसपर भी विश्वास कर सकते थे कि प्रलय के समय मे परमात्मा भौतिक शरीर में सचमुच् के दूध के भौतिक समुद्र में एक भौतिक साप के ऊपर सोने जाता है और इसलिये यह व्यर्थ का बुद्धिकौशल दिखाना है कि इन कहानियो का कोई आध्यात्मिक अभिप्राय खोजा जाय। मेरा उत्तर यह होगा कि वस्तुत ही उनमें ऐसे अभिप्राय खोजने की, ढूढ़ने की आवश्यकता नही है, क्योकि इन्ही 'अघविश्वासी' कवियो ने ही वहा स्पष्ट रूप से कहानियो के उपरिपृष्ठ पर ही उन अभिप्रायो को रख दिया है जिससे कि उन्हे प्रत्येक व्यक्ति, जो कि जानबूझकर अधा नही वनता, देख सकता है। क्योकि उन्होने विष्णु के साप का एक नाम भी रखा है, वह नाम है 'अनत', जिसका अर्थ है असीम, इसलिये उन्होने हमें पर्याप्त स्पष्ट रूप में कह दिया है कि यह कल्पना एक अलकार ही है और विष्णु, अर्थात् सर्वव्यापक देवता, प्रलयकाल में अनत की अर्थात् असीम की कुण्डलियो के अदर शयन करता है। बाकी क्षीरसमुद्र के विषय में यह कि वैदिक अलकार हमें यह दर्शाता है कि यह असीम सत्ता का समुद्र होना चाहिये और यह असीम सत्ता का समुद्र है नितान्त मधुरता का, दूसरे शब्दो में विशुद्ध सुख का एक समुद्र। क्योकि क्षीर या मधुर दूध (जो कि स्वय भी एक वैदिक प्रतीक है) स्पष्ट ही एक ऐसा अर्थ रखता है जो कि वामदेव के सूक्त के 'मधु' शहद या मधुरता मे सारत भिन्न नही है।

इस प्रकार हम पाते है कि वेद और पुराण दोनो एक ही प्रतीकात्मक अलकारो का प्रयोग करते है, समुद्र उनके लिये असीम और शाश्वत सत्ता का प्रतीक है। हम यह भी पाते है कि नदी या बहनेवाली धारा के रूपक को सचेतन सत्ता के प्रवाह का प्रतीकात्मक वर्णन करने के लिये प्रयुक्त किया गया है। हम देखते है कि सरस्वती, जो कि सात नदियो में से एक है, अन्त प्रेरणा की नदी है जो कि सत्य-चेतना से निकलकर बहती है। तो हमे यह कल्पना करने का अधिकार है कि अन्य छ नदिया भी आध्यात्मिक प्रतीक होनी चाहियें।

पर हमें सर्वथा कल्पना और अटकल पर ही निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है, वे चाहे कितनी ही दृढ और सर्वथा विश्वासजनक क्यो न हो। जैसे कि वामदेव के सूक्त में हम देख आये है कि नदिया, 'घृतस्य धारा' वहा घी की नदिया या

भौतिक पानी की नदिया नहीं है पर आध्यात्मिक प्रतीक है, वैसे ही हम अन्य सूक्तो में सात नदियो के प्रतीक होने के सबध में बडी जबर्दस्त साक्षी पाते है। इस प्रयोजन के लिये मै एक और सूक्त की परीक्षा करूगा, तृतीय मण्डल के प्रथम सूक्त की जो कि ऋषि विश्वामित्र के द्वारा अग्निदेवता के प्रति गाया गया है, क्योकि यहां वह सात नदियो का वर्णन वैसी ही अद्भुत और असदिग्ध भाषा मे करता है, जैसी कि घृत की नदियो के विषय मे वामदेव की भाषा है। हम देखेंगे कि इन दो पवित्र गायको की गीतियो मे ठीक एक से ही विचार बिलकुल भिन्न प्रकरणो में आते है।

बारहवां अध्याय

सात नदियां

वेद सतत रूप से जलो या नदियो का वर्णन करता है, विशेषकर दिव्य जलो का, 'आपो देवी' या 'आपो दिव्या' और कही-कही उन जलो का जो कि अपने अन्दर प्रकाशमय सौर लोक के प्रकाश को या सूर्य के प्रकाश को रखते है,'स्वर्वतीराप'। जलो का सचरण जो कि देवताओ के द्वारा या देवताओ की सहायता से मनुष्यो द्वारा किया जाता है, एक नियत प्रतीक है। जिनकी मनुष्य अभीप्सा करता है, जिन्हे कि मनुष्य को दिलाने के लिये देवता वृत्रो और पणियो के साथ निरन्तर युद्ध में सलग्न रहते है, वे तीन महान विजये है गौए, जल और सूर्य या सौर लोक "गा, अप, स्व"। प्रश्न यह है कि, क्या ये सकेत आकाश की वर्षाओ के लिये है, उत्तर भारत की नदियो के लिये है जिनपर कि द्रवीडियो ने अधिकार कर लिया था या आक्रमण किया था, जब कि वृत्र थे कभी द्रवीडी लोग और कभी उनके देवता, गौए थी वे पशु जिनको कि वहा के मूल निवासी "डाकुओ" ने आकर-बसनेवाले आर्यों से छीनकर हस्तगत कर लिया था या लूट लिया था—और पणि जो कि गौओ को छीनते या चुराते है, फिर वे ही थे, कभी द्रवीडी और कभी उनके देवता, अथवा इसका एक गम्भीरतर, एक आध्यात्मिक अर्थ है।

क्या 'स्व' को विजय कर लेने का अभिप्राय केवल यह है कि सूर्य जो कि उमडते हुए बादलो से ढक गया था या ग्रहण से अभिभूत था या रात्रि के अन्धकार से घिरा हुआ था, वह फिर से पा लिया गया? क्योकि यहा तो कम-से-कम यह नही हो सकता कि सूर्य को आर्यों के पास से "काली चमडी के" और "बिना नाकवाले" मनुष्य-शत्रुओ ने छीन लिया हो। अथवा 'स्व' की विजय का अभिप्राय केवल यज्ञ के द्वारा स्वर्ग को जीतने से है? और दोनो में से किसी भी अवस्था में गौ, जल, सूर्य के अथवा गौ, जल और आकाश के इस विचित्र से जोड का क्या अभिप्राय होता है? इसकी अपेक्षा क्या यह ठीक नही है कि यह प्रतीकात्मक अर्थों को देनेवाली

एक पद्धति है, जिसमें कि गौए जो कि 'गा' इस शब्द के द्वारा गायो और प्रकाश की किरणो दोनो अर्थों में निर्दिष्ट हुई है, उच्चतर चेतना मे आनेवाले प्रकाश हैं, जिनका कि मूल उद्गम प्रकाश का सूर्य, सत्य का सूर्य है ? क्या 'स्व' स्वय अमरता का लोक या स्तर नही है, जो कि उस सर्वप्रकाशमय सूर्य के प्रकाश या सत्य मे शासित है जिसे कि वेद में महान् सत्य, 'ऋतम् बृहत्' और सच्चा प्रकाश कहा गया है ? और क्या दिव्य जल, 'आपो देवी, दिव्या या स्ववंती', इस उच्चतर चेतना के प्रवाह नही है जो मर्त्य मन पर उस अमरता के लोक मे धारा के रूप में गिरते है ?

निस्सदेह यह आसान है कि ऐसे सन्दर्भ या सूक्त बताये जा सके कि जिनमे ऊपर से देखने पर इस प्रकार की किसी व्याख्या की आवश्यकता प्रतीत न होती हो और उस सूक्त को यह समझा जा सकना हो कि वह वर्षा को देने की प्रार्थना या स्तुति है अथवा पजाब की नदियो पर हुए युद्ध का एक लेखा है। परन्तु वेद की व्याख्या जुदा-जुदा सदर्भो या सूक्तो को लेकर नही की जा सकती। यदि इसका कोई सगत और सबद्ध अर्थ होना है, तो हमें इसकी व्याख्या समग्र रूप में करनी चाहिये। हो सकता है कि हम 'स्व' और 'गा' को भिन्न-भिन्न सदर्भों में बिल्कुल ही भिन्न-भिन्न अर्थ देकर अपनी कठिनाइयो से पीछा छुडा ले—ठीक जैसे कि सायण 'गा' में कभी गाय का अर्थ पाता है, कभी किरणो का और कभी एक कमाल के हृदय-लाघव के साथ, वह जबर्दस्ती ही इसका अर्थ जल कर लेता है।* परन्तु व्याख्या की यह पद्धति केवल इस कारण ही युक्तियुक्त नही हो जाती, क्योकि यह 'तर्कवाद-समत' और 'सामान्य बुद्धि के गोचर' परिणाम पर पहुचाती है। इसको अपेक्षा ठीक तो यह है कि यह तर्क और सामान्य बुद्धि दोनो ही की अवज्ञा करती है। अवश्य ही इसके द्वारा हम जिस भी परिणाम पर चाहे पहुच सकते है, परन्तु कोई भी न्यायानुकूल और निष्पक्षपात मन पूरे निश्चय के साथ यह अनुभव नही कर सकता कि वही परिणाम वैदिक सूक्तो का असली मौलिक अर्थ है।

---

*इसी प्रकार वह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वैदिक शब्द 'ऋतम्' की कभी यज्ञ, कभी सत्य, कभी जल व्याख्या करता है और आश्चर्य तो यह कि ये सब भिन्न-भिन्न अर्थ एक ही सूक्त में और वह भी कुल पाच या छ ऋचाओवाले।

परन्तु यदि हम एक अपेक्षाकृत अधिक सगत प्रणाली को लेकर चले, तो अनेको दुर्लंघ्य कठिनाइया विशुद्ध भौतिक अर्थ के विरोध में आ खडी होती है। उदाहरण के लिये हमारे सामने वसिष्ठ का एक सूक्त (७-४९) है, जो कि दिव्य जलो, 'आपो देवी, आपो दिव्या', के लिये है, जिसमें कि द्वितीय ऋचा इस प्रकार है, 'दिव्य जल जो कि या तो खोदे हुए नालो मे प्रवाहित होते है या स्वय उत्पन्न बहते है, वे जिनकी गति समुद्र की ओर है, जो पवित्र है, पावक है,—वे दिव्य जल मेरी पालना करें।' यहा तो यह कहा जायगा कि अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है, ये भौतिक जल है, पार्थिव नदियां या नहरे है—या यदि 'खनित्रिमा' शब्द का अर्थ केवल "खोदे हुए" यह हो, तो ये कुए है— जिनको कि वसिष्ठ अपने सूक्त मे सबोधित कर रहा है और 'दिव्या', दिव्य, यह स्तुति का केवल एक शोभापरक विशेषण है, अथवा यह भी सभव है कि हम इस ऋचा का दूसरा ही अर्थ कर ले और यह कल्पना करे कि यहा तीन प्रकार के जलो का वर्णन है,—आकाश के जल अर्थात् वर्षा, कुओ का जल, नदियो का जल। परतु जब हम इस सूक्त को समग्र रूप में अध्ययन करते है, तब यह अर्थ अधिक देर तक नही ठहर सकता। क्योकि सारा सूक्त इस प्रकार है—

"वे दिव्य जल मेरी पालना करे, जो समुद्र के सबसे ज्येष्ठ (या सबसे महान्) हैं, जो गतिमय प्रवाह के मध्य में से पवित्र करते हुए चलते है, जो कही टिक नही जाते, जिनको कि वज्रधारी, वृषभ इन्द्र ने काटकर बाहर निकाला है (१)। दिव्य जल जो कि या तो खोदी हुई नहरो मे बहते हैं या स्वय उत्पन्न बहते है, जिनकी गति समुद्र की ओर है, जो पवित्र है, पावक है, वे दिव्य जल मेरी पालना करे (२)। जिनके मध्य में राजा वरुण प्राणियो के सत्य और अनृत को देखता हुआ चलता है, वे जो कि मधु-स्रावी है और पवित्र तथा पावक हैं—वे दिव्य जल मेरी पालना करें (३)। जिनमें वरुण राजा, जिनमें सोम, जिनमें सब देवता शक्ति का मद पाते है, जिनमे [illegible] वानर—अग्नि प्रविष्ट हुआ है, वे दिव्य जल मेरी पालना [illegible] ४)।"*

। यन्त्यनिर्[illegible] [illegible]ा।

यह स्पष्ट है कि वसिष्ठ यहा उन्ही जलो, उन्ही धाराओ के विषय मे कह रहा है जिनका कि वामदेव ने वर्णन किया है—वे जल जो कि समुद्र से उठते है और वहकर समुद्र में चले जाते है, वह मधुमय लहर जो समुद्र से, उस प्रवाह से जो कि वस्तुओं का हृदय है, ऊपर को उठती है, वे जो निर्मलता की धाराए है, 'घृतस्य धारा'। वे अत्युच्च और सार्वत्रिक सचेतन सत्ता के प्रवाह है, जिनमें कि वरुण मर्त्यों के सत्य और अनृत का अवलोकन करता हुआ गति करता है (देखिये, यह एक ऐसा वाक्याश है जो कि न तो नीचे आती हुई वर्षाओ की ओर लग सकता है न ही भौतिक समुद्र की ओर)। वेद का 'वरुण' भारत का नैपचून (Neptune) नही है, नाही यह ठीक-ठीक, जैसी कि पहले-पहल योरोपियन विद्वानो ने कल्पना की थी, ग्रीक औरेनस (Ouranos), आकाश है। वह है आकाशीय विस्तार का, एक उपरले समुद्र का, सत्ता की विस्तीर्णता का, इसकी पवित्रता का अधिपति, उस विस्तीर्णता में, दूसरी जगह यह कहा गया है कि, उसने पथरहित असीम मे पथ बनाया है जिसके कि अनुसार सूर्य, सत्य और प्रकाश का अधिपति, गति कर सकता है। वहासे वह मर्त्य चेतना के मिश्रित सत्य और अनृत पर दृष्टि डालता है [1]। और आगे हमे इसपर ध्यान देना चाहिये कि ये दिव्य जल वे है जिनको कि इन्द्र ने काटकर बाहर निकाला है और पृथ्वी पर प्रवाहित किया है—यह एक ऐसा वर्णन है जो कि सारे वेद में सात नदियो के सबंध में किया गया है।

[1] यदि इस विषय में कोई सदेह हो भी कि वसिष्ठ की स्तुति के ये जल वे ही है

---

[1] इन्द्रो या वज्री वृषभो रराद ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥१॥
या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा या स्वयजा ।
समुद्रार्था याः शुचय पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥२॥
यासा राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम् ।
मधुश्चुत. शुचयो या पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥३॥
यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वे देवा यासूर्ज मदन्ति ।
वैश्वानरो यास्वग्नि प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥४॥ (ऋ०७-४९)

जो कि वामदेव के महत्त्वपूर्ण सूक्त के जल है, 'मधुमान् ऊर्मि , घृतस्य धारा.' तो यह सदेह ऋषि वसिष्ठ के एक दूसरे सूक्त ७ ४७ से पूर्णतया दूर हो जाता है। ४९ वे सूक्त में उसने सक्षेप से दिव्य जलो के विषय में यह सकेत किया है कि वे मधुस्रावी है, 'मधुश्चुत ', और यह वर्णन किया है कि देवता उनमें शक्ति के मद का आनद लेते है, 'ऊर्जं मदन्ति', इससे हम यह परिणाम निकाल सकते है कि मधु या मधुरता वह 'मधु' है जो कि 'सोम' है, आनद की मदिरा है, जिसका कि देवताओ को मद चढा करता है। परतु ४७ वे सूक्त में वह अपने अभिप्राय को असदिग्ध रूप से स्पष्ट कर देता है।

"हे जलो ! उस तुम्हारी प्रधान लहर का जो कि इन्द्र का पेय है, जिसे कि देवत्व के अन्वेषको ने अपने लिये रचा है, उस पवित्र, अदूषित, निर्मलता की प्रवाहक (घृतप्रुषम्), मधुमय (मधुमन्तम्), तुम्हारी लहर का आज हम आनद ले सके (१)। हे जलो ! जलो का पुत्र (अग्नि), वह जो कि आशुकारी है, तुम्हारी उस अति मधुमय लहर की पालना करे, उस तुम्हारी लहर का जिसमे इन्द्र वसुओ-सहित मद-मस्त हो जाता है, आज हम जो कि देवत्व के अन्वेषण में लगे है, आस्वादन कर पायें (२)। सौ शोधक चालनियो मे से छानकर पवित्र की हुई, अपनी स्व-प्रकृति से ही मदकारक, वे दिव्य है और देवताओ की गति के लक्ष्यस्थान (उच्च समुद्र) को जाती है, वे इन्द्र के कर्मों को सीमित नही करती, नदियो के लिये हवि दो जो कि निर्मलता से भरपूर हो, (घृतवत्) (३)। वे नदिया जिन्हें कि सूर्य ने अपनी किरणो से रचा है, जिनमें से इन्द्र ने एक गतिमय लहर को काटकर निकाला है, हमारे लिये उच्च हित (वरिव) को स्थापित करे। और तुम, हे देवो, सुख की अवस्थाओ के द्वारा सदा हमारी रक्षा करते रहो।(४)"*

---

*आपो य व प्रथम देवयन्त इन्द्रपानमूर्मिमकृण्वतेळ' ।
त वो वय शुचिमरिप्रमद्य घृतप्रुष मधुमन्त वनेम ॥१॥
तमूर्मिमापो मधुमत्तम वोऽपा नपादवत्वाशुहेमा ।
यस्मिन्निन्द्रो वसुभिर्मादयाते तमश्याम देवयन्तो वो अद्य ॥२॥
शतपवित्राः स्वधया मदन्तीर्देवीर्देवानामपि यन्ति पाथ ।

यहा हमें वामदेव की 'मधुमान् ऊर्मि.', मधुमय मदजनक लहर मिलती है और यह साफ-साफ कहा गया है कि यह मधु, यह मधुरता, सोम है, इन्द्र का पेय है। आगे चलकर 'शतपवित्रा' इस विशेषण के द्वारा यह और भी स्पष्ट हो गया है, क्योंकि यह विशेषण वैदिक भाषा में केवल 'सोम' को ही सूचित कर सकता है, और हमें यह भी ध्यान में लाना चाहिये कि यह विशेषण स्वय नदियो ही के लिये है और यह कि मधुमय लहर इन्द्र द्वारा उन नदियो में से वहाकर लायी गयी है, जब कि इसका मार्ग पर्वतो पर वज्र द्वारा वृत्र का वध करके काटकर निकाला गया है। फिर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ये जल सात नदिया है, जो कि इन्द्र द्वारा 'वृत्र' के, अवरोधक के, आच्छादक के, पजे से छुडाकर लायी गयी है और नीचे को वहा-कर पृथ्वी पर भेजी गयी हैं।

ये नदिया क्या हो सकती है जिनकी कि लहर 'सोम' की मदिरा से भरपूर है, 'घृत' से भरपूर है, 'ऊर्ज्' से, शक्ति से, भरपूर है ? ये जल क्या है जो कि देवो की गति के लक्ष्य की ओर प्रवाहित होते है, जो कि मनुष्य के लिये उच्च हित को स्था-पित करते है ? पजाव की नदिया नही, वैदिक ऋषियो की मनोवृत्ति में जगलियों जैसी असवद्धता और विक्षिप्त चित्तो की सी असगति रहती थी, इस प्रकार की कोई जगली से जगली कल्पना भी हमे इसके लिये प्रेरित नही कर सकती कि हम उनके इस प्रकार के वचनो पर अपना इस प्रकार का अभिप्राय वना सके। स्पष्ट ही ये सत्य और सुख के जल है जो कि उच्च, परम समुद्र से प्रवाहित होते है। ये नदियां पृथ्वी पर नही, वल्कि द्युलोक में वहती है, 'वृत्र', वह जो कि अवरोधक है, आच्छा-दक है, उस पार्थिव-चेतना पर जिसमें कि हम मर्त्य रहते है, इनके वहकर आने को रोके रखता है, जब तक कि 'इन्द्र', देवरूप मन, अपने चमकते हुए विद्युद्वज्रो से इस आच्छादक का वध नही कर देता और उस पार्थिव चेतना के शिखरो पर काट-काट-कर वह मार्ग नही वना देता जिसपर कि नदियो को वहकर आना होता है। वैदिक

ता इन्द्रस्य न मिनन्ति व्रतानि सिन्धुभ्यो हव्य घृतवज्जुहोत ॥३॥
या सूर्यो रश्मिभिराततान याभ्य इन्द्रो अरदद् गातुमूर्मिम्।
ते सिन्धवो वरिवो धातना नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा न. ॥४॥ (ऋ. ७-४७)

ऋषियों के विचार और भाषा की केवल एकमात्र इसी प्रकार की व्याख्या युक्ति-युक्त, सगत और बुद्धिगम्य हो सकती है। बाकी जो रहा उसे वसिष्ठ हमारे लिये पर्याप्त स्पष्ट कर देता है, क्योकि वह कहता है कि ये वे जल है जिन्हें कि सूर्य ने अपनी किरणो द्वारा रचा है और जो कि पार्थिव गतियो के विसदृश, 'इन्द्र' के, परम मन के, व्यापारो को सीमित या क्षीण नही करते। दूसरे शब्दो मे ये महान् सत्य, 'ऋतम् बृहत्' के जल है और जैसा कि हमने सर्वत्र देखा है कि यह सत्य सुख को रचता है, वैसा ही यहा हम पाते है कि ये सत्य के जल, 'ऋतस्य धारा', जैसा कि दूसरे सूक्तो मे उन्हें स्पष्ट ही कहा गया है, (उदाहरणार्थ ५ १२ २ मे कहा है, 'ओ सत्य के द्रष्टा, केवल सत्य का ही दर्शन कर, सत्य की अनेक धाराओ को—ऋतस्य धारा—तोडकर निकाल')[1]—मनुष्य के लिये उच्च हित (वरिव) को स्थापित करते है और उच्च हित है सुख,[2] दिव्य सत्ता का आनद।

तो भी न इन सूक्तो में, न ही वामदेव के सूक्त में सात नदियो का कोई सीधा उल्लेख आया है। इसलिये हम विश्वामित्र के प्रथम सूक्त (३ १) पर आते है जो कि अग्नि के प्रति कहा गया है, और इसकी दूसरी से लेकर चौदहवी ऋचा तक को देखते है। यह एक लबा सदर्भ है, परतु यह पर्याप्त आवश्यक है कि इसे उद्धृत किया जाय और इस सारे का ही अनुवाद किया जाय।

प्राञ्च यज्ञ चकृम वर्धता गी। समिद्भिरग्नि नमसा दुवस्यन्।
दिव. शशासुर्विदथा कवीना। गृत्साय चित् तवसे गातुमीषु ॥२॥
मयो दधे मेधिर. पूतदक्ष.। दिव सुबन्धुर्जनुषा पृथिव्या।
अविन्दन्नु दर्शतमप्स्वन्त.। देवासो अग्निमपसि स्वसृणाम् ॥३॥
अवर्धयन् त्सुभग सप्त यह्वी। श्वेत जज्ञानमरुष महित्वा।
शिशु न जातमभ्यारुरश्वा। देवासो अग्नि जनिमन् वपुष्यन् ॥४॥
शुक्रेभिरङ्गै रज आततन्वान्। क्रतु पुनान कविभि पवित्रै.।
शोचिर्वसान पर्यायुरपा। श्रियो मिमीते बृहतीरनूनाः ॥५॥

---

[1] ऋत चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्धि ऋतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वीः।

[2] नि सदेह, 'वरिव' शब्द का प्राय• अभिप्राय 'सुख' होता भी है।

ववाजा सीमनदतीरदव्धा दिवो यह्वीरवसाना अनग्ना ।
सना अत्र युवतय. सयोनीरेक गर्भं दधिरे सप्त वाणीः ॥६॥
स्तीर्णा अस्य सहतो विश्वरूपा घृतस्य योनौ स्रवये मधूनाम् ।
अस्युरत्र धेनव पिन्वमाना मही दस्मस्य मातरा समीची ॥७॥
वभ्राण सूनो सहसो व्यद्यौद् दधान शुक्रा रभसा वपूषि ।
श्चोतन्ति धारा मधुनो घृतस्य वृपा यत्र वावृधे काव्येन ॥८॥
पितुश्चिदूधर्जनुषा विवेद व्यस्य धारा असृजद् वि धेना ।
गुहा चरन्तं सखिभिः शिवेभि दिवो यह्वीभिर्न गुहा वभूव ॥९॥
पितुश्च गर्भं जनितुश्च वभ्रे पूर्वीरेको अधयत् पीप्याना ।
वृष्णे सपत्नी शुचये सवन्धू उभे अस्मै मनुष्ये३ नि पाहि ॥१०॥
उरौ महाँ अनिबाधे ववर्धाऽऽपो अग्नि यशस. स हि पूर्वी ।
ऋतस्य योनावशयद् दमूना जामीनामग्निरपसि स्वसॄणाम् ॥११॥
अक्रो न वभ्रि समिथे महीना दिदृक्षेय सूनवे भाऋजीकः ।
उदुस्रिया जनिता यो जजानाऽपा गर्भो नृतमो यह्वो अग्नि ॥१२॥
अपां गर्भं दर्शतमोषधीना वना जजान सुभगा विरूपम् ।
देवासश्चिन्मनसा स हि जग्मु' पनिष्ठ जात तवस दुवस्यन् ॥१३॥
वृहन्त इद् भानवो भाऋजीकमग्नि सचन्त विद्युतो न शुक्रा. ।
गुहेव वृद्धं सदसि स्वे अन्तरपार ऊर्वे अमृत दुहानाः ॥१४॥

"हमने (प्राञ्च) प्रकृष्टतम की तरफ आरोहण करने के लिये (यज्ञ चक्रम) यज्ञ किया है, हम चाहते हैं कि (गी) वाणी (वर्धता) वृद्धि को प्राप्त हो । उन्होंने [दिवो नें] (अग्नि) 'अग्नि' को, (समिद्धि) उसकी ज्वालाओं की प्रदीप्ति के साथ, (नमसा) आत्मसमर्पण के नमस्कार के साथ, (दुवस्यन्) उसके व्यापारों में प्रवृत्त किया है, उन्होंने (कवीना) द्रष्टाओं के (विदथा) ज्ञानों को (दिवः) द्यौ से (शशालु) अभिव्यक्त किया है और वे उस [अग्नि] के लिये (गातु) एक मार्ग को (ईपु) चाहते है, (तवसे) इसलिये कि उसकी शक्ति प्रकाशित हो सके, (गृत्साय चित्), इसलिये कि उसकी शब्द को पाने की इच्छा पूरी हो सके ।(२)

"(मेधिर) मेधा से भरपूर (पूतदक्ष) शुद्ध विवेकवाला (जनुषा) अपने जन्म से (दिव) द्यौ का (पृथिव्या) और पृथिवी का (सुबन्धु) पूर्ण सखा या पूर्ण निर्माता वह [अग्नि] (मय) सुख को (दधे) स्थापित करता है, (देवास) देवो ने (अप्सु अन्त) 'जलो' के अदर (स्वसृणा अपसि) 'बहिनो' की क्रिया के अदर (दर्शत) सुदृश्य रूप मे (अग्नि) 'अग्नि' को (अविन्दन् उ) पा लिया। (३)

"(सप्त) सात (यह्वी) शक्तिशाली [नदियों] ने उसे [अग्नि को] (अवर्धयन्) प्रवृद्ध किया (सुभग) उसे जो कि पूर्ण रूप से सुख का उपभोग करता है, (श्वेत जज्ञान) जो कि अपने जन्म से सफेद है, (अरुष महित्वा) बडा होकर अरुण हो जाता है। वे [नदिया] (अभ्यारु) उसके चारो ओर गयी और उन्होने उसके लिये प्रयत्न किया, (शिशु न जात अश्वा) उन्होने जो कि नवजात शिशु के पास घोडियो के तुल्य थी, (देवास) देवो ने (अग्नि) अग्नि को (जनिमन्) उसके जन्मकाल में (वपुष्यन्) शरीर दिया। (४)

"(पवित्रै कविभि) पवित्र कवियो [ज्ञानाधिपतियों] की सहायता से (क्रतु) कर्मपरक सकल्प को (पुनान) पवित्र करते हुए उसने [अग्नि ने] (शुक्रै अगै) अपने साफ, चमकीले अगो से (रज) मध्यलोक को (आततन्वान्) ताना और रचा, (अपा आयु परि) जलो के समस्त जीवन के चारो ओर (शोचि वसान) चोगे की तरह प्रकाश को पहने हुए उसने (श्रिय) अपने अदर कान्तियो को (मिमीते) रचा जो कि (बृहती) विशाल तथा (अनूना) न्यूनतारहित थी। (५)

"अग्नि ने (दिव यह्वी) द्युलोक की शक्तिशाली [नदियों] के इधर-उधर (सी वव्राज) सर्वत्र गति की जो [नदिया] (अनदती) निगलती नही (अदब्धा), न ही वे आक्रान्त होती है, (अवसाना) वे वस्त्र पहने नही थी, (अनग्ना) न ही वे नगी थी। (अत्र) यहा (सना) उन शाश्वत (युवतय) और सदा युवती देवियो ने (सयोनी) जो कि समान गर्भ से उत्पन्न हुई है, (सप्त वाणी) जो कि सात वाणी-रूप थी (एक गर्भं दधिरे) एक शिशु को गर्भरूप से धारण किया है। (६)

"(अस्य) इसके (सहत) पुजीभूत समुदाय, (विश्वरूपा) जो कि विश्वरूप

थे, (घृतस्य योनौ) निर्मलता के गर्भ में (मधूना स्रवये) मधुरता के प्रवाह में (स्तीर्णा) फैले पडे थे, (अत्र) यहा (धेनव) प्रीणयित्री नदिया (पिन्वमाना) अपने-आपको पुष्ट करती हुई (अस्थु) स्थित हुई और (दस्मस्य) कार्य को पूरा करनेवाले देव [अग्नि] की (मातरा) दो माताए (मही) विशाल तथा (समीची) समस्वर हो गयी। (७)

"(बभ्राण) उनसे धारण किया हुआ (सहस सूनो) ओ शक्ति के पुत्र! (शुक्रा रभसा वपूषि दधान) चमकीले और हर्षोन्मादी शरीरो को धारण किये हुए तू (व्यद्यौत्) विद्योतमान हुआ। (मधुन) मधुरता की (घृतस्य) निर्मलता की (धारा) धाराए (श्चोतन्ति) निकलकर प्रवाहित हो रही है, (यत्र) जहा कि (वृषा) समृद्धि का 'बैल' (काव्येन) ज्ञान के द्वारा (वावृधे) बढकर बडा हुआ है। (८)

"(जनुषा) जन्म लेते ही उसने (पितु चित्) पिता के (ऊध) समृद्धि के स्रोत को (विवेद) ढूढ निकाला और उसने (अस्य) उस [पिता] की (धारा) धाराओ को (वि असृजत्) खुला कर दिया, उस [पिता] की (धेना) नदियो को (वि [असृजत्]) खुला कर दिया। (शिवेभि सखिभि) अपने हित-कारी सखाओ के द्वारा और (दिव यह्वीभि) आकाश की महान् [नदियों] के द्वारा उसने (गुहा चरन्त) सत्ता के रहस्यमय स्थानो में विचरते हुए उसे [पिता को] पा लिया (न गुहा बभूव) तो भी स्वय वह उसकी रहस्यमयता के अदर नही खो गया। (९)

"उसने (पितु च) पिता के और (जनितु च) जनिता, उत्पन्न करनेवाले के (गर्भ) गर्भस्थ शिशु को (बभ्रे) धारण किया, (एक) उस एक ने (पूर्वी) अपनी अनेक माताओ का (पीप्याना) जो कि वृद्धि को प्राप्त हो रही थी, (अधयत्) दुग्धपान किया, सुखोपभोग प्राप्त किया। (अस्मै शुनये वृष्णे) इस पवित्र 'पुरुष' में [के लिये] (मनुष्ये उभे) मनुष्य के अदर रहनेवाली ये जो दो शक्तिया [द्यौ और पृथिवी] (सपत्नी सबधू) एकसमान पतिवाली, एक समान प्रेमीवाली होती है, ([उभे] निपाहि) उन दोनो की तू रक्षा कर। (१०)

"(अनिबाधे उरौ) निर्बाध विस्तीर्णता मे (महान्) महान् वह (ववर्ध) वृद्धि

को प्राप्त हुआ (हि) निश्चय से (पूर्वी आप.) अनेक जलो ने (यशस) यशस्विता के साथ (अग्नि) अग्नि को (स) सम्यक्तया प्रवृद्ध किया। (ऋतस्य योनौ) सत्य के स्रोत में वह (अशयत्) स्थित हुआ, (दमूना) वहा उसने अपना घर बना लिया, (अग्नि) अग्नि ने (जामीना स्वसृणा अपसि) अविभक्त हुई वहिनो के व्यापार में। (११)

"(अक्र) वस्तुओ में गति करनेवाला (न) और (वभ्रि) उन्हें थामनेवाला वह (महीनाम्) महान् [नदियो] के (समिथे) सगम में (दिदृक्षेय) दर्शन की इच्छावाला (सूनवे) सोम-रस के अभिषोता के लिये (भाऋजीक) अपनी दीप्तियो में ऋजु (य जनिता) वह जो कि किरणो का पिता था, उसने अब (उस्रिया) उन किरणों को (उत् जजान) उच्चतर जन्म दे दिया,--(अग्नि) उस अग्नि ने (अपा गर्भ) जो कि जलो का गर्भजात था, (यह्व) शक्तिशाली और (नृतम) सबसे अधिक वलवान् था। (१२)

"(अपा) जलों के और (ओषधीना) ओषधियो के, पृथ्वी के उपचयो के (दर्शत) सुदृश्य (गर्भ) गर्भजात को (वना) आनद की देवी ने अब (विरूप जजान) अनेक रूपो में पैदा कर दिया, (सुभगा) उसने जो कि साकल्यरूप से सुखवाली है। (देवास चिन्) देवता भी (मनसा) मन के द्वारा (स जग्मु' हि) उसके चारो ओर एकत्रित हुए और (दुवस्यन्) उन्होने उसे उसके कार्य में लगाया (पनिष्ठ तवस जातम्) जो कि प्रयत्न करने के लिये बडा वलवान् और बडा शक्तिशाली होकर पैदा हुआ था। (१३)

"(बृहन्त इत् भानव) वे विशाल दीप्तिया (अग्निम्) अग्नि के साथ (सचन्त) ससक्त हो गयी, जो अग्नि कि (भाऋजीक) अपने प्रकाशो में ऋजु था और वे (विद्युत न शुक्रा) चमकीली विद्युतों के समान थी, (अपारे ऊर्वे) अपार विस्तार में (स्वे सदसि अन्त) अपने स्वकीय स्थान में, अदर (गुहेव) सत्ता के गुह्य स्थानो में, मानो गुहा में (वृद्ध) बढते हुए उस [अग्नि] से उन्होने (अमृत दुहाना) अमरता को दुहकर निकाला। (१४)"

इस सदर्भ का कुछ भी अर्थ क्यो न हो,--और यह पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि इसका कोई रहस्यमय अभिप्राय है और यह केवल कर्मकाण्डी जगलियो की याज्ञिक स्तुति-

मात्र नही हैं,—सात नदिया, जल, सात वहिनें यहा पजाव की सात नदिया नही हो सकती। वे जल जिनमें कि देवो ने सुदृश्य अग्नि को खोजकर पाया है, पार्थिव और भौतिक धाराए नही हो सकती, यह अग्नि जो कि ज्ञान द्वारा प्रवृद्ध होता है और सत्य के स्रोत में अपना घर तथा विश्रामस्थान वनाता है, जिसकी कि आकाश और पृथ्वी दो स्त्रिया तथा प्रेमिकाए है, जो कि दिव्य जलो द्वारा अपने निजी घर, निर्वाध विस्तीर्णता के अदर प्रवृद्ध हुआ है और उस अपार असीमता में निवास करता हुआ जो प्रकाशयुक्त देवो को परम अमरता प्रदान करता है, भौतिक आग का देवता नही हो सकता। अन्य वहुत से सदर्भों की भाति ही इस सदर्भ में वेद के मुख्य प्रतिपाद्य विषय का रहस्यमय, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक स्वरूप अपने-आपको प्रकट कर देता है, यह नही कि ऊपरी सतह के नीचे रहकर, यह नही कि निरे कर्मकाण्ड के आवरण के पीछे छिपकर, किंतु खुले तौर पर, वलपूर्वक—वेशक एक प्रच्छन्न रूप में, पर वह प्रच्छन्नता ऐसी जो कि पारदर्शक है, जिससे कि वेद का गुह्य सत्य यहा, विश्वामित्र के सूक्त की नदियो के समान, "न आवृत, न ही नग्न" दिखायी देता है।

हम देखते है कि ये जल वे ही है जो कि वामदेव के सूक्त के और वसिष्ठ के सूक्त के है, 'घृत' और 'मधु' से इनका निकट सम्वन्ध है,—"घृतस्य योनौ स्रवथे मधूनाम्, श्चोतन्ति धारा मधुनो घृतस्य", वे सत्य पर ले जाते है, वे स्वय सत्य का स्रोत है, वे निर्वाध और अपार विस्तीर्णता के लोक में तथा यहा पृथ्वी पर प्रवाहित होते है। उन्हें अलकाररूप में प्रीणयित्री गौए (धेनव), घोडिया (अश्वा) कहा गया है, उन्हे 'सप्त वाणी', रचनाशक्ति रखनेवाली 'वाग्' देवी के सात शब्द कहा गया है,—यह 'वाक्' देवी है 'अदिति' की, परम प्रकृति की, अभिव्यजक शक्ति जिसका कि 'गाय' रूप मे वर्णन किया गया है, ठीक जैसे कि देव या पुरुष को वेद में 'वृषभ' या 'वृष्ण' अर्थात् 'वैल' कहा गया है। वे इसलिये सम्पूर्ण सत्ता के सात तार है, एक सचेतन सद्वस्तु के व्यापार की सात नदिया, धाराएं या रूप है।

हम देखेंगे कि उन विचारो के प्रकाश में जिन्हे कि हमने वेद के प्रारभ में ही मधुच्छन्दस् के सूक्त में पाया है और उन प्रतीकात्मक व्याख्याओ के प्रकाश में

जो कि अब हमें स्पष्ट होने लगी है, यह सदर्भ जो कि इतना अधिक अलकारमय, रहस्यमय, पहेली सा प्रतीत होता है, बिल्कुल ही सरल और सगत लगने लगता है, जैसे कि वस्तुत ही वेद के सभी सदर्भ जो कि पहिले लगभग अबुद्धिगम्य से प्रतीत होते है तब सरल और सगत लगने लगते है जब कि उनका ठीक मूलसूत्र मिल जाता है। हमें बस केवल अग्नि के आध्यात्मिक व्यापारभर को नियत करना है, उस अग्नि के जो अग्नि कि पुरोहित है, युद्ध करनेवाला है, कर्मकर्त्ता है, सत्य को पानेवाला है, मनुष्य के लिये आनन्द को अधिगत करानेवाला है, और अग्नि का वह आध्यात्मिक व्यापार हमारे लिये ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में अग्निविषयक मधुच्छन्दस् के वर्णन द्वारा पहले से ही नियत हुआ-हुआ है,-"वह जो कर्मों में द्रष्टा का सकल्प है, जो सत्य है और नानाविध अन्त प्रेरणा का जो महाधनी है।*" अग्नि है देव, सर्व-द्रष्टा, जो कि सचेतन शक्ति के रूप में व्यक्त हुआ है अथवा, आधुनिक भाषा मे कहें तो, जो 'दिव्य-संकल्प' या 'विश्व-सकल्प' है, जो पहले गुहा में छिपा होता है और शाश्वत लोको का निर्माण कर रहा होता है, फिर व्यक्त होता है, 'उत्पन्न' होता है और मनुष्य के अन्दर सत्य तथा अमरत्व का निर्माण करता है।

इसलिये विश्वामित्र इस सूक्त मे जो कहता है वह यह है कि देवता और मनुष्य आन्तरिक यज्ञ की अग्नियो को जलाकर इस दिव्य शक्ति (अग्निदेव) को प्रदीप्त कर लेते है, वे इसके प्रति अपने पूजन और आत्म-समर्पण के द्वारा इसे कार्य करने योग्य बना लेते हैं, वे आकाश में अर्थात् विशुद्ध मनोवृत्ति में, जिसका कि प्रतीक 'द्यौ' है, द्रष्टाओ के ज्ञानो को, दूसरे शब्दो में जो मन से अतीत है उस सत्य-चेतना के प्रकाशो को, अभिव्यक्त करते है और यह वे इसलिये करते है ताकि वे इस दिव्य शक्ति के लिये मार्ग बना सके, जो कि अपने पूरे बल के साथ, सच्ची आत्माभिव्यक्ति के शब्द को निरन्तर पाना चाहती हुई, मन से परे पहुचने की अभीप्सा रखती है। यह दिव्य सकल्प अपनी सब क्रियाओ में दिव्य ज्ञान के रहस्य को रखता हुआ, 'कविक्रतु', मनुष्य के अन्दर मानसिक और भौतिक

---

*कविक्रतु सत्यश्चित्रश्रवस्तम ।

चेतना का, 'दिव पृथिव्या', मित्रवत् सहायक होता है या उसका निर्माण करता है, वुद्धि को पूर्ण करता है, विवेक को शुद्ध करता है, जिससे कि वे विकसित हो-कर "द्रष्टाओ के ज्ञानो" को ग्रहण करने योग्य हो जाते है और उस अतिचेतन सत्य के द्वारा जो कि इस प्रकार हमारे लिये चेतनागम्य कर दिया जाता है, वह दृढ रूप से हममें आनन्द को स्थापित कर देता है, (ऋचा २,३)।

इस सदर्भ के अवशिष्ट भाग मे इस दिव्य सचेतन-शक्ति, 'अग्नि', के मर्त्य और भौतिक चेतना से उठकर सत्य तथा आनन्द की अमरता की ओर आरोहण करने का वर्णन है, जो अग्नि कि मर्त्यों में अमर है, जो कि यज्ञ में मनुष्य के सामान्य सकल्प और ज्ञान का स्थान लेता है। वेद के ऋषि मनुष्य के लिये पाच जन्मो का वर्णन करते है, प्राणियो के पात्र लोको का जहा कि कर्म किये जाते है, "पचजना, पचकृष्टी, या पचक्षिती।" द्यौ और पृथिवी विशुद्ध मानसिक और भौतिक चेतना के द्योतक है, उनके वीच में है अन्तरिक्ष, प्राण-मय या वातमय चेतना का मध्यवर्ती या सयोजक लोक। द्यौ और पृथिवी है 'रोदसी', हमारे दो लोक, पर इनको हमने पार कर जाना है, क्योकि तभी हम उस अन्य लोक में प्रवेश पा सकते है जो कि विशुद्ध मन से अतिरिक्त एक और ऊपर का लोक है—बृहत्, विशाल लोक है जो कि असीम चेतना, 'अदिति', का आधार, वुनियाद (वुध्न) है। यह विशालता है वह सत्य जो कि सर्वोच्च त्रिविध लोक को, 'अग्नि' के, 'विष्णु' के उन उच्चतम पदो या स्थानो (पदानि, सदासि) को, माता के, गौ के, 'अदिति' के उन परम 'नामो' को थामता है। यह विशालता या सत्य 'अग्नि' का निजी या वास्तविक स्थान अथवा घर कहा गया है, 'स्व दमम् स्व सद'। 'अग्नि' को इस सूक्त में पृथिवी से अपने स्व-कीय स्थान की ओर आरोहण करता हुआ वर्णन किया गया है।

इस दिव्य शक्ति को देवो ने जलों में, वहिनों की क्रिया में, सुदृश्य हुआ पाया है। ये जल सत्य के सप्तरूप जल है, दिव्य जल है, जो कि हमारी सत्ता के उच्च शिखरो से इन्द्र द्वारा नीचे लाये गये है। पहले यह दिव्य शक्ति पार्थिव उपचयो, 'ओपधी' के अन्दर, उन वस्तुओ के अन्दर जो कि पृथ्वी की गर्मी (ओप) को धारे रखती हैं, छिपी होती है और एक प्रकार की शक्ति के द्वारा,

दो 'अरणियो'—पृथिवी और आकाश—के घर्षण द्वारा इसे प्रकट करना होता है। इसलिये इसे पार्थिव उपचयो (ओपधियो) का पुत्र और पृथिवी तथा द्यौ का पुत्र कहा गया है, इस अमर शक्ति को मनुष्य वडे परिश्रम और वडी कठिनाई से भौतिक सत्ता पर पवित्र मन की क्रियाओ से पैदा करता है। परन्तु दिव्य जलो के अन्दर 'अग्नि' सुदृश्य रूप में पाया गया है (ऋचा ३ का उत्तरार्ध) और अपने सारे वलसहित तथा अपने सारे ज्ञानसहित और अपने सारे सुखोपभोग-सहित आसानी से पैदा हो गया है, वह पूर्णतया सफेद और शुद्ध है, अपनी क्रिया से वह अरुण हो जाता है जव कि वह प्रवृद्ध होता है। उसके जन्म से ही देवता उसे शक्ति, तेज और शरीर दे देते हैं, सात शक्तिशाली नदिया उसके सुख में उसे प्रवृद्ध करती हैं, वे इस महिमाशाली नवजात शिशु के चारो ओर गति करती है और उसपर प्रयत्न करती हैं, जैसे कि घोडिया, 'अश्वा' (ऋचा ४)।

नदिया जिनको कि वहुधा 'धेनव' अर्थात् 'प्रीणयित्री गौएं' यह नाम दिया गया है, यहा 'अश्वा' अर्थात् 'घोडिया' इस नाम से वर्णित हुई है, क्योकि जहा **'गौ'** ज्ञानरूपिणी चेतना का एक प्रतीक है, वहा **'अश्व'**, घोडा, प्रतीक है शक्तिरूपिणी चेतना का। **'अश्व'**, घोडा, **जीवन** की क्रियाशील शक्ति है, और नदिया जो कि पृथिवी पर अग्नि के चारो ओर प्रयत्न करती है, **जीवन** के जल हो जाती है, उस जीवन के, प्राणमय क्रिया या गति के, उस **'प्राण'** के जो (प्राण) कि गति करता है और क्रिया करता है और इच्छा करता है तथा भोगता है। अग्नि स्वय भौतिक ताप या शक्ति के रूप से प्रारभ होता है, फिर अपने-आपको घोडे के रूप में प्रकट करता है और तभी वह फिर द्यौ की अग्नि बन पाता है। उसका पहला कार्य है कि जलो के शिशु के रूप में वह मध्यलोक को, प्राणमय या क्रियाशील लोक को (रज आततन्वान्), अपने पूर्ण रूप और विस्तार और पवित्रता को देवे। अपने विशुद्ध, चमकीले अगो से मनुष्य के अदर व्याप्त होता हुआ, इसकी अन्त -प्रवृत्तियो को और इच्छाओ को, कर्मों में इसके पवित्र हुए सकल्प को (क्रतुम्), अतिचेतन सत्य और ज्ञान की पवित्र शक्तिओ के द्वारा, 'कविभि पवित्रै', ऊपर उठाता हुआ वह मनुष्य के वातमय जीवन को पवित्र करता है। इस प्रकार वह जलों के समस्त जीवन के चारो ओर अपनी विशाल कातियो को ओढता है, धारण

अतिचेतन के अदर छिपा हुआ है, 'अग्नि' अपने साथी देवो के साथ और सप्त-विध 'जलो' के साथ अतिचेतन के अदर प्रवेश करता है, पर इसके कारण हमारी सचेतन सत्ता से विना अदृश्य हुए ही वह वस्तुओ के 'पिता' के मधुमय ऐश्वर्य के स्रोत को पा लेता है और उन्हें पाकर हमारे जीवन पर प्रवाहित कर देता है। वह गर्भ धारण करता है और वह स्वय ही पुत्र--पवित्र 'कुमार', पविम्न पुरुष, वह एक, अपने विश्वमय रूप में आविर्भूत मनुष्य का अन्त स्थ आत्मा--वन जाता है, मनुष्य के अदर रहनेवाली मानसिक और भौतिक चेतनाए उसे अपने स्वामी और प्रेमी के रूप में स्वीकार करती है, परतु यद्यपि वह एक है, तो भी वह नदियो की, वहुरूप विराट् शक्तियो की अनेकविध गति का आनद लेता है, (ऋचा ९,१०)।

उसके वाद हमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि यह असीम जिसके अदर कि वह प्रविष्ट हुआ है और जिसके अदर वह वढता है, जिसमें कि अनेक 'जल' विजय-शालिनी यशस्विता के साथ अपने लक्ष्य पर पहुचते हुए (यशस) उसे प्रवृद्ध करते है, वह निर्बाध विशालता है, जहा कि 'सत्य' पैदा हुआ है, जो कि अपार नि सीमता है, उसका निजी स्वाभाविक स्थान है जिसमें कि अव वह अपना घर वनाता है। वहा 'सात नदिया', 'वहिनें', यद्यपि उनका उद्‌गम वही एक है जो कि पृथिवी पर और मर्त्य जीवन में था, पृथक्-पृथक् होकर अब कार्य नही करती, वल्कि इसके विपरीत वे अविच्छेद्य सहेलिया वन जाती है (जामीनाम् अपसि स्वसॄणाम्)। इन शक्तिशाली नदियो के उस पूर्ण सगम पर 'अग्नि' सब वस्तुओ मे गति करता है और सब वस्तुओं को थामता है, उसके दर्शन (दृष्टि) की किरणें पूर्णतया ऋजु, सरल होती हैं, अब वे निम्नतर कुटिलता से प्रभावित नही होती, वह जिस-मेंसे कि ज्ञान की किरणें, जगमगाती हुई गौए, पैदा हुई थी, अब उन्हे (किरणो या गौओ को) यह नया, उच्च और सर्वश्रेष्ठ जन्म दे देता है, अर्थात् वह उन्हे दिव्य ज्ञान में, अमर चेतना में परिणत कर देता है, (ऋचा ११, १२)।

यह भी उसका अपना ही नवीन और अतिम जन्म है। वह जो कि पृथिवी के उपचयो से शक्ति के पुत्र के रूप में पैदा हुआ था, वह जो कि जलों के शिशु के रूप में पैदा हुआ था अब अपार, असीम मे, 'सुख की देवी' के द्वारा, उसके द्वारा जो कि समग्र रूप से सुख ही सुख है अर्थात् दिव्य सचेतन आनन्द

के द्वारा, अनेक रूपो मे जन्म लेता है। देवता या मनुष्य के अदर की दिव्य शक्तिया मन का एक उपकरण के तौर पर प्रयोग करके वहा उसके पास पहुचती है, उसके चारो ओर एकत्र हो जाती है, तथा इस नवीन, शक्तिशाली और सफलतादायक जन्म में उसको जगत् के महान् कार्य में लगाती है। वे, उस विशाल चेतना की दीप्तिया, इस दिव्य शक्ति के साथ ससक्त होती है जो कि इसकी चमकीली बिजलियो के समान लगती है और उसमेंसे जो कि अतिचेतन में, अपार विशालता में, अपने निजी घर में रहता है, वे मनुष्य के लिये अमरता को दुहती है, ले आती है। (१३, १४)

तो यह है अलकारो के पर्दे के पीछे छिपा हुआ गभीर, सगत, प्रकाशमय अर्थ जो कि सात नदियो के, जलो के, पाच लोको के, 'अग्नि' के जन्म तथा आरोहण के वैदिक प्रतीक का वास्तविक आशय है, जिसको कि इस रूप में भी प्रकट किया गया है कि यह मनुष्य की तथा देवताओ की–जिनकी कि प्रतिकृति मनुष्य अपने अन्दर बनाता है–ऊर्ध्वमुख यात्रा है जिसमें वह सत्ता की विशाल पहाडी के सानु से सानु तक (सानो सानुम्) पहुचता है। एक बार यदि हम इस अर्थ को प्रयुक्त कर ले और 'गौ' के प्रतीक तथा 'सोम' के प्रतीक के वास्तविक अभिप्राय को हृदयगम कर ले और देवताओ के आध्यात्मिक व्यापारो के विषय में ठीक-ठीक विचार बना ले, तो इन प्राचीन वेदमत्रो मे जो ऊपर से दीखनेवाली असगतिया, अस्पष्टताए तथा क्लिष्ट क्रमहीन अस्तव्यस्तता प्रतीत होती है वे सब क्षण भर में लुप्त हो जाती है। वहा स्पष्ट रूप में, बडी आसानी के साथ, बिना खीचातानी के प्राचीन रहस्यवादियो का गभीर और उज्ज्वलवाद, वेद का रहस्य, अपने स्वरूप को खोल देता है।

तेरहवा अध्याय

उषा की गौएं

वेद की सात नदियो को, जलो को, 'आप' को वेद की आलकारिक भाषा मे अधिकतर सात माताए या सात पोषक गौए, 'सप्त धेनव', कहकर प्रगट किया गया है। स्वय 'अप' शब्द में ही दो अर्थ गूढ रूप से रहते है, क्योकि 'अप्' धातु के मूल में केवल वहना अर्थ ही नही है जिससे कि वहुत सम्भव है जलो का भाव लिया गया है किंतु इसका एक और अर्थ 'जन्म होना' 'जन्म देना' भी है, जैसे कि हम सन्तानवाचक 'अपत्य' शब्द मे और दक्षिण भारत के पिता अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले 'अप्प' शब्द मे पाते है। सात जल सत्ता के जल है, ये वे माताए है जिनसे सत्ता के सब रूप पैदा होते है। परन्तु और प्रयोग भी हमे मिलते है—'सप्त गाव', सात गौए या सात ज्योतिया और 'सप्तगु' यह विशेषण अर्थात् वह जिसमें सात किरणे रहती है। गु (गव) और गौ (गाव) ये दोनो आदि से अन्त तक सारे वैदिक मन्त्रो मे दो अर्थों में आये है, गाय और किरणे। प्राचीन भारतीय विचार-धारा के अनुसार सत्ता और चेतना दोनो एक दूसरे के रूप थे। और अदिति को, जो वह अनन्त सत्ता है जिससे कि देवता उत्पन्न हुए हैं और जो अपने सात नामो और स्थानो (धामानि) के साथ माता के रूप में वर्णन की गयी है,—यह भी माना गया है कि वह अनन्त चेतना है, गौ है या वह आद्या ज्योति है जो सात किरणो, 'सप्त गाव', मे व्यक्त होती है। इसलिये सत्ता के सप्त रूप होने के विचार को एक दृष्टिकोण से तो समुद्र से निकलनेवाली नदियो, 'सप्त धेनव', के अलकार मे चित्रित कर दिया गया है और दूसरी दृष्टि के अनुसार इसे सबको रचनेवाले पिता, सूर्यसवितृ, की सात किरणो, 'सप्त गाव', के अलकार का रूप दे दिया है।

गौ का अलकार वेद मे आनेवाले सब प्रतीको मे सबसे अधिक महत्त्व का है। कर्मकाण्डी के लिये 'गौ' का अर्थ भौतिक गाय मात्र है, इससे अधिक कुछ नही,

वैसे ही जैसे उसके लिये इसके साथ आनेवाले 'अश्व' शब्द का अर्थ केवल भौतिक घोडा ही है, इससे अधिक इसमें कुछ अभिप्राय नही है, अथवा जैसे 'घृत' का अर्थ केवल पानी या घी है और 'वीर' का अर्थ केवल पुत्र या अनुचर या सेवक है। जब ऋषि उषा की स्तुति करता है-"गोमद् वीरवद् धेहि रत्नम् उषो अश्वावत्" उस समय कर्मकाण्डपरक व्याख्याकार को इस प्रार्थना में केवल उस सुखमय धन-दौलत की ही याचना दीखती है जो गौओ, वीर मनुष्यो (या पुत्रो) और घोडों से युक्त हो। दूसरी तरफ यदि ये शब्द प्रतीकरूप हो, तो इसका अभिप्राय होगा-"हमारे अन्दर आनन्द की उस अवस्था को स्थिर करो जो ज्योति से, विजयशील शक्ति से और प्राणबल से भरपूर हो।" इसलिये यह आवश्यक है कि एक बार सभी स्थलो के लिये वेद-मन्त्रो में आनेवाले 'गौ' शब्द का अर्थ क्या है, इसका निर्णय कर लिया जाय। यदि यह सिद्ध हो जाय कि यह प्रतीकरूप है, तो निरन्तर इसके साथ आनेवाले-अश्व (घोडा), वीर (मनुष्य या शूरवीर), अपत्य या प्रजा (औलाद), हिरण्य (सोना), वाज (समृद्धि, या सायण के अनुसार, अन्न),-इन दूसरे शब्दो का अर्थ भी अवश्य प्रतीकरूप और इसका सजातीय ही होगा।

'गौ' का अलकार वेद में निरन्तर **उषा** और **सूर्य** के साथ सबद्ध मिलता है। इसे हम उस कथानक में भी पाते है जिसमें **इन्द्र** और **बृहस्पति** ने **सरमा** कुतिया (देवशुनी) और अगिरस ऋषियो की मदद से पणियो की गुफा में से खोयी हुई गौओ को फिर से प्राप्त किया है। **उषा** का विचार और **अङ्गिरसों** का कथानक ये मानो वैदिक सप्रदाय के हृदयस्थानीय है और इन्हें करीब-करीब वेद के अर्थों के रहस्य की कुजी समझा जा सकता है। इसलिये ये ही दोनो है जिनकी हमें अवश्य परीक्षा कर लेनी चाहिये, जिससे आगे अपने अनुसधान के लिये हमें एक दृढ आधार मिल सके।

अब उषासबधी वेद के सूक्तों को बिलकुल ऊपर-ऊपर से जाचने पर भी इतना बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि उषा की गौए या सूर्य की गौए 'ज्योति' का प्रतीक हैं, इसके सिवाय और कुछ नही हो सकती। सायण खुद इन मत्रो का भाष्य करते हुए विवश होकर कही इस शब्द का अर्थ 'गाय' करता है और कही

'किरणें', हमेशा की अपनी आदत के अनुसार परस्पर सगति बैठाने की भी कुछ पर्वाह नही रखता, कही वह यह भी कह जाता है कि 'गौ' का अर्थ सत्यवाची 'ऋत' शब्द की तरह पानी होता है। असल में देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि इस शब्द से दो अर्थ लिये जाने अभिप्रेत हैं–(१) 'प्रकाश' इसका असली अर्थ है और (२) 'गाय' उसका स्थूल रूपक-रूप और शाब्दिक अलकारमय अर्थ है।

ऐसे स्थलो में गौओ का अर्थ 'किरणें' है इसमे कोई मतभेद नही हो सकता, जैसे कि इन्द्र के विषय में मधुच्छन्दस् ऋषि के सूक्त (१ ७) का तीसरा मत्र, जिसमें कहा है–'इन्द्र ने दीर्घ दर्शन के लिये सूर्य को द्युलोक में चढाया, उसने उसे उसकी किरणो (गौओ) के द्वारा सारे पहाड पर पहुचा दिया–वि गोभि अद्रिम् ऐरयत्*।' परतु इसके साथ ही सूर्य की किरणें 'सूर्य' देवता की गौए हैं, हीलियस (Helios) की वे गौए हैं जिन्हे ओडिसी (Odyssey) में ओडिसस (Odysseus) के साथियो ने वध किया है, जिन्हें हर्मिज (Hermes) के लिये कहे गये होमर के गीतो में हर्मिज ने अपने भाई अपोलो (Apollo) के पास से चुराया है। ये वे गौए हैं जिन्हें 'वल' नामक शत्रु ने या पणियो ने छिपा लिया था। जब मधुच्छन्दस् इन्द्र को कहता है–'तूने वल की उस गुफा को खोल दिया, जिसमे गौए बद पडी थीं'–तब उसका यही अभिप्राय होता है कि वल गौओ को कैद करनेवाला है, प्रकाश को रोकनेवाला है और वह रोका हुआ प्रकाश ही है जिसे इन्द्र यज्ञ करनेवालो के लिये फिर से ला देता है। खोयी हुई या चुरायी हुई गौओ को फिर से पा लेने का वर्णन वेद के मत्रो में लगातार आया है और इसका अभिप्राय पर्याप्त स्पष्ट हो जायगा, जब कि हम पणियो और अगिरसो के कथानक की परीक्षा करना शुरू करेंगे।

एक बार यदि यह अभिप्राय, यह अर्थ सिद्ध हो जाता है, स्थापित हो जाता है

---

*इसका अनुवाद हम यह भी कर सकते हैं कि "उसने अपने वज्र (अद्रि) को उससे निकलती हुई चमको के साथ चारो ओर भेजा" पर यह अर्थ उतना अच्छा और सगत नही लगता। पर यदि हम इसे ही मानें, तो भी 'गोभि' का अर्थ 'किरणें' ही होता है, गाय पशु नही।

तो 'गौओं' के लिये की गयी वैदिक प्रार्थनाओ की जो भौतिक व्याख्या की जाती है वह एकदम हिल जाती है। क्योकि खोयी हुई गौए जिन्हे फिर से पा लेने के लिये ऋषि इन्द्र का आह्वान करते है, वे यदि द्राविड लोगो द्वारा चुरायी गयी भौतिक गौए नही हैं किंतु सूर्य की या ज्योति की चमकती हुई गौए हैं, तो हमारा यह विचार वनाना न्यायसगत ठहरता है कि जहा केवल गौओ के लिये ही प्रार्थना है और साथ में कोई विरोधी निर्देश नही है वहा भी यह अलकार लगता है, वहाँ भी गौ भौतिक गाय नही है। उदाहरण के लिये ऋ० १ ४ १,२* में इन्द्र के विषय में कहा गया है कि वह पूर्ण रूपो को वनानेवाला है जैसे कि दोहनेवाले के लिये अच्छी तरह दूव देनेवाली गौ, कि उसका सोम-रस से चढनेवाला मद सचमुच गौओ को देनेवाला है, 'गोदा इद् रेवतो मद ।' निरर्थकता और असगतता की हद हो जायगी, यदि इस कथन का यह अर्थ समझा जाय कि इन्द्र कोई वडा समृद्धिशाली देवता है और जव वह पिये हुए होता है उस समय गौओ के दान करने में वडा उदार हो जाता है। यह स्पष्ट है कि जैसे पहली ऋचा में गौओ का दोहना एक अलकार है, वैसे ही दूसरी में गौओ का देना भी अलकार ही है। और यदि हम वेद के दूसरे सदर्भों से यह जान ले कि 'गौ' प्रकाश का प्रतीक है तो यहा भी हमें अवश्य यही समझना चाहिये कि इन्द्र जव सोम-जनित आनद में भरा होता है तव वह निश्चित ही हमें ज्योतिरूप गौए देता है।

उषा के सूक्तो मे भी गौए ज्योति का प्रतीक है यह भाव वैसा ही स्पष्ट है। उषा को सव जगह 'गोमती' कहा गया है, जिसका स्पष्ट ही अवश्य यही अभिप्राय होना चाहिये कि वह ज्योतिर्मय या किरणोवाली है, क्योकि यह तो विलकुल मूर्खतापूर्ण होगा कि उषा के साथ एक नियत विशेपण के तौर पर 'गौओ से पूर्ण' यह विशेपण उसके शाब्दिक अर्थ में ही प्रयुक्त किया जाय। पर गौओ का प्रतीक वहा पर विशेपण में है, क्योकि उषा केवल 'गोमती' ही नही है वह 'गोमती अश्वा-

---

*सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि।
उप न· सवना गहि सोमस्य सोमपा पिव।
गोदा इद्रेवतो मदः॥ १.४.१,२

वती' है, वह हमेशा अपने साथ अपनी गौए और अपने घोडे रखती है। 'वह सारे ससार के लिये ज्योति को रचकर देती है और अधकार को, जैसे गौओ के बाडे को, खोल देती है, १ ९२ ४'[1]। यहा हम देखते है कि विना किसी भूलचूक की सभावना के गौए ज्योति का प्रतीक ही है। हम इसपर भी ध्यान दे सकते है कि इस सूक्त (मत्र १६) मे अश्विनो को कहा गया है कि वे अपने रथ को उस पथ पर हाककर नीचे ले जायें जो ज्योतिर्मय और सुनहरा है—[2] 'गोमद् हिरण्यवद्'। इसके अतिरिक्त उषा के सबध मे कहा गया है कि उसके रथ को अरुण गौए खीचती है और कही यह भी कहा है कि अरुण घोडे खीचते है। 'वह अरुण गौओ के समूह को अपने रथ मे जोतती है—युङ्क्ते गवामरुणानामनीकम् १-१२४-११'। यहा 'अरुण किरणो के समूह को' यह दूसरा अर्थ भी स्थूल अलकार के पीछे स्पष्ट ही रखा हुआ है। उषा का वर्णन इस रूप मे हुआ है कि वह गौओ या किरणो की माता है, 'गवा जनित्री अकृत प्र केतुम् १ १२४ ५—गौओ (किरणो) की माता ने दर्शन (Vision) को रचा है।' और दूसरे स्थान पर उसके कार्य के विषय में कहा है 'अव दर्शन या वोध उदित हो गया है, जहा पहले कुछ नही (असत्) था'।[3] इससे पुन यह स्पष्ट है कि 'गौए' प्रकाश की ही चमकती हुई किरणे है। उसकी इस रूप में भी स्तुति की गयी है कि वह 'चमकती हुई गौओ का नेतृत्व करनेवाली है (नेत्री गवाम् ७-७६-६)', और एक दूसरी ऋचा इस पर पूरा ही प्रकाश डाल देती है जिसमे ये दोनो ही विचार इकट्ठे आ गये है, "गौओ की माता, दिनो की नेत्री" (गवा माता नेत्री अह्नाम् ७-७७-२)। अन्त मे, मानो इस अलकार पर से आवरण को कतई हटा देने के लिये ही वेद स्वय हमें कहता है कि गौए प्रकाश की किरणो के लिये एक अलकार है, "उसकी सुखमय किरणें दिखाई दी, जैसे छोडी हुई

---

[1] 'ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रज व्युषा आवर्तम' ॥१.९२.४

[2] अश्विना वर्तिरस्मदा गोमद् दस्रा हिरण्यवत्।
अर्वाग्रथ समनसा नि यच्छतम्।(१.९२.१६)

[3] वि नूनमुच्छाद् असति प्र केतु.। (१.१२४.११)

गौएं"—प्रति भद्रा अदृक्षत गवां सर्गा न रश्मयः ४-५२-५। और हमारे सामने इससे भी अधिक निर्णयात्मक एक दूसरी ऋचा (७-७९-२) है—"तेरी गौएं (किरणें) अन्धकार को हटा देती हैं और ज्योति को फैलाती हैं"; स ते गावस्तम आवर्तयन्ति ज्योतिर्यच्छन्ति[1]।

लेकिन उषा इन प्रकाशमय गौओं द्वारा केवल खींची ही नहीं जाती, वह इन गौओं को यज्ञ करनेवालों के लिये उपहाररूप में देती है। वह इन्द्र की ही भांति, जब सोम के आनन्द में होती है, तो ज्योति को देती है। वसिष्ठ के एक सूक्त (७-७५) में उसका वर्णन इस रूप में है कि वह देवों के कार्य में हिस्सा लेती है और उससे वे दृढ़ स्थान जहां गौएं बन्द पड़ी है, टूटकर खुल जाते हैं और गौएं मनुष्यों को दे दी जाती हैं। "वह[2] सच्चे देवों के साथ सच्ची है, महान् देवों के साथ महान् है, वह दृढ स्थानों को तोड़कर खोलती है और प्रकाशमय गौओं को दे देती है, गौएं उषा के प्रति रँभाती हैं"—रुजद् दृळ्हानि ददद् उस्रियाणाम्, प्रति गाव उषसं वावशन्त ७-७५-७। और ठीक अगली ही ऋचा में उससे प्रार्थना की गयी है कि वह यज्ञकर्त्ता के लिये आनन्द की उस अवस्था को स्थिर करे या धारण करावे, जो प्रकाश से (गौओं) से, अश्वों से (प्राण-शक्ति से) और बहुत-से सुख-भोगों से परिपूर्ण हो—"गोमद् रत्नम् अश्वावत् पुरुभोज।" इसलिये जिन गौओं को उषा देती है वे गौएं ज्योति की ही चमकती हुई सेनायें हैं, जिन्हें देवता और अंगिरस ऋषि वल और पणियों के दृढ़ स्थानों से उद्धार करके लाये हैं। साथ ही गौओं (और अश्वों) की सम्पत्ति

---

[1] निस्सदेह इसमें तो मतभेद हो ही नहीं सकता कि वेद में गौ का अर्थ प्रकाश है, उदाहरण के लिये जब यह कहा जाता है कि 'गवा' 'गौ' से, प्रकाश से, वृत्र को मारा गया तो यहां गाय पशु का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। यदि प्रश्न है तो यह कि 'गौ' का द्व्यर्थक प्रयोग है और गौ प्रतीकरूप है कि नहीं।

[2] सत्या सत्येभिर्महती महद्भिर्देवी देवेभिर्यजता यजत्रैः।
रुजद् दृळ्हानि दददुस्रियाणां प्रति गाव उषसं वावशन्त॥ (७।७५।७)
नू नो गोमद् वीरवद् धेहि रत्नमुषो अश्वावत् पुरुभोजो अस्मे। (७।७५।८)

जिसके लिये ऋषि लगातार प्रार्थना करते है उसी ज्योति की सम्पत्ति के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकती, क्योकि यह कल्पना असभवसी है कि जिन गौओ को देने के लिये इस सूक्त की सातवी ऋचा मे उषा को कहा गया है वे उन गौओ से भिन्न हो जो ८वी मे मागी गयी है, कि पहले मन्त्र मे 'गौ' शब्द का अर्थ है 'प्रकाश' और अगले मे 'गाय', और यह कि ऋषि मुख से निकालते ही उसी क्षण यह भूल गया कि किस अर्थ में वह शब्द का प्रयोग कर रहा था।

कही-कही ऐसा है कि प्रार्थना ज्योतिर्मय आनन्द या ज्योतिर्मय समृद्धि के लिये नही है, बल्कि प्रकाशमय प्रेरणा या बल के लिये है, 'हे द्यु की पुत्री उष ! तू हमारे अन्दर सूर्य की रश्मियो के साथ प्रकाशमय प्रेरणा को ला'–'गोमतीरिष आवह दुहितर्दिव, साक सूर्यस्य रश्मिभि' ५-७९-८। सायण ने 'गोमती इष' का अर्थ किया है 'चमकता हुआ अन्न'[1]। परन्तु यह स्पष्ट ही एक निरर्थक सी बात लगती है कि उषा से कहा जाय कि वह सूर्य की किरणो के साथ, किरणो से (गौओ से) युक्त अन्नो को लाये। यदि 'इष्' का अर्थ अन्न है, तो हमें इस प्रयोग का अभिप्राय लेना होगा 'गोमासरूपी अन्न', परन्तु यद्यपि प्राचीन काल में, जैसा कि ब्राह्मण-ग्रथो से स्पष्ट है, गोमास का खाना निषिद्ध नही था, फिर भी उत्तरकालीन हिंदुओ की भावना को चोट पहुचानेवाला होने से जिस अर्थ को सायण न नही लिया है, वह अभिप्रेत ही नही है और यह भी वैसा ही भद्दा है जैसा कि पहला अर्थ है। यह बात ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र से सिद्ध हो जाती है जिसमे अश्विनो का आह्वान किया गया है कि वे उस प्रकाशमय प्रेरणा को दे जो हमे अधकार मे से पार कराकर उसके दूसरे किनारे पर पहुचा देती है–'या न पीपरद् अश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिर, ताम् अस्मे रासाथाम् इषम् १-४६-६'।

इन नमूने के उदाहरणो से हम समझ सकते है कि प्रकाश की गौओ का यह अलकार कैसा व्यापक है और कैसे अनिवार्य रूप से यह वेद के लिये एक अध्यात्मपरक अर्थ की ओर निर्देश कर रहा है। एक सन्देह फिर भी बीच में आ उप-

---

[1] 'गोमतीर्गोभिरुपेतानि इषोऽन्नानि आवह आनय'–सायण

स्थित होता है। हमने माना कि यह एक अनिवार्य परिणाम है कि 'गौ' प्रकाश के लिये प्रयुक्त हुआ है, पर इससे हम क्यो न समझें कि इसका सीधा-सादा मतलब दिन के प्रकाश से है, जैसा कि वेद की भाषा से निकलता प्रतीत होता है ? वहा किसी प्रतीक की कल्पना क्यो करें, जहा केवल एक अलकार ही है ? हम उस दुहरे अलकार की कठिनाई को निमत्रण क्यो दे जिसमे 'गौ' का अर्थ तो हो 'उषा का प्रकाश' और उषा के प्रकाश को 'आन्तरिक ज्योति' का प्रतीक समझा जाय ? यह क्यो न मान ले कि ऋषि आत्मिक ज्योति के लिये नही, वल्कि दिन के प्रकाश के लिये प्रार्थना कर रहे थे ?

ऐसा मानने पर अनेक प्रकार के आक्षेप आते है और उनमें कुछ तो वहुत प्रबल हैं। यदि हम यह मानें कि वैदिक सूक्तो की रचना भारत में हुई थी और यह उषा भारत की उषा है और यह रात्रि वही यहा की दस या वारह घण्टे की छोटीसी रात है, तो हमें यह स्वीकार करके चलना होगा कि वैदिक ऋषि जगली थे, अन्धकार के भय से वडे भयभीत रहते थे और समझते थे कि इसमें भूत-प्रेत रहते हैं, वे दिन-रात की परम्परा के प्राकृतिक नियम से—जिसका अवतक वहुत से सूक्तो मे वडा सुन्दर चित्र खिचा मिलता है—भी अनभिज्ञ थे और उनका ऐसा विश्वास था कि आकाश में जो सूर्य निकलता था और उषा अपनी वहिन रात्रि के आलिगन से छूटकर प्रकट होती थी, वह सव केवल उनकी प्रार्थनाओ के कारण से ही होता था। पर फिर भी वे देवो के कार्य में अटल नियमों का वर्णन करते है और कहते हैं कि उषा हमेशा शाश्वत सत्य व दिव्य नियम के मार्ग का अनुसरण करती है। हमें यह कल्पना करनी होगी कि ऋषि जव उल्लास में भरकर पुकार उठता है 'हम अन्धकार को पार करके दूसरे किनारे पहुच गये है।' तो यह केवल दैनिक सूर्योदय पर होनेवाला सामान्य जागना ही है। हमें यह कल्पना करनी होगी कि वैदिक लोग उषा निकलने पर यज्ञ के लिये वैठ जाते थे और प्रकाश के लिये प्रार्थना करते थे, जव कि वह पहले से ही निकल चुका होता था। और यदि हम इन सव असभव कल्पनाओ को मान भी ले, तो आगे हमें यह एक स्पष्ट कथन मिलता है कि नौ या दस महीने वैठ चुकने के उपरान्त ही यह हो सका कि अगिरस ऋषियो को खोया हुआ प्रकाश और

खोया हुआ सूर्य फिर से मिल पाया। और जो पितरो के द्वारा 'ज्योति' के खोजे जाने का कथन लगातार मिलता है, उसका हम क्या अर्थ लगायेगे। जैसे –

"हमारे पितरो ने छिपी हुई ज्योति को ढूढकर पा लिया, उनके विचारो में जो सत्य था, उसके द्वारा उन्होने उषा को जन्म दिया—गूळ्ह ज्योति पितरो अन्वविन्दन्, सत्यमन्त्रा अजनयन् उपासम् ७-७६-४"। यदि हम किसी भी साहित्य के किसी कविता-सग्रह में इस प्रकार का कोई पद्य पावे, तो तुरन्त हम उसे एक मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक रूप दे देंगे, तो फिर वेद के साथ हम दूसरा ही वर्ताव करे इसमें कोई युक्तियुक्त कारण नही दीखता।

फिर भी यदि हमें वेद के सूक्तो की प्रकृतिवादी ही व्याख्या करनी है और कोई नही, तो भी यह विलकुल साफ है कि वैदिक उषा और रात्रि कम-से-कम भारत की रात्रि और उषा तो नही हो सकती। यह केवल उत्तरीय ध्रुव के प्रदेशो में ही हो सकता है कि इन प्रकृति की घटनाओ के सवध में ऋषियो की जो मनोवृत्ति है और अगिरसो के विषय में जो वाने कही गयी है वे कुछ समझ-में आने लायक वन सके। प्राचीन वैदिक आर्य उत्तरीय ध्रुव से आये, इस कल्पना (वाद) को क्षणभर के लिये मान लेने पर भी यद्यपि यह वहुत अधिक सभव हो सकता है कि उत्तरीय ध्रुव की स्मृतिया वेद के वाह्य अर्थ में आ गयी हो फिर भी इस कल्पना से प्रकृति से लिये गये इन प्राचीन अलकारो के पीछे जो एक आन्तरिक अर्थ है, उसका निराकरण नही हो सकता, न ही इसके मान लेने से यह सिद्ध हो जाता है कि उषासबधी ऋचाओ की इसकी अपेक्षा और अधिक सुसबद्ध और सीधी स्पष्ट किसी दूसरी व्याख्या की आवश्यकता नही है।

उदाहरण के लिये हमारे सामने अश्विनो को कहा गया प्रस्कण्व काण्व का सूक्त (१ ४६) है जिसमें उस ज्योतिर्मय अन्त प्रेरणा का सकेत है जो हमें अन्ध-कार में से पार कराके परले किनारे पर पहुचा देती है। इस सूक्त का उषा और रात्रि के वैदिक विचार के साथ घनिष्ठ सबध है। इसमें वेद में नियत रूप से आनेवाले बहुत से अलकारो का सकेत मिलता है, जैसे ऋत के मार्ग का, नदियो को पार करने का, सूर्य के उदय होने का, उषा और अश्विनो में परस्पर सवध का, सोम-रस के रहस्यमय प्रभाव का और उसके सामुद्रिक रस का।

"देखो, आकाश में उषा खिल रही है, जिससे अधिक उच्च और कोई वस्तु नही है, जो आनन्द से भरी हुई है। हे अश्विनो! तुम्हारी मैं महान् स्तुति करता हू (१)।* तुम जिनकी सिंधु माता है, जो कार्य को पूर्ण करनेवाले हो, जो मन में से होते हुए उस पार पहुचकर ऐश्वर्यों (रयि) को पा लेते हो, जो दिव्य हो और उस ऐश्वर्य (वसु) को विचार के द्वारा पाते हो (२)। हे समुद्र-यात्रा के देवो जो शब्द को मनोमय करनेवाले हो! यह तुम्हारे विचारो को भग करनेवाला है—तुम प्रचड रूप से सोम का पान करो (५)। हे अश्विनो! हमें वह ज्योतिष्मती अन्त प्रेरणा दो, जो हमें तमस् से निकालकर पार पहुचा दे (६)। हमारे लिये तुम अपनी नाव पर बैठकर चलो, जिससे हम मन के विचारो से परे परले पार पहुच सके। हे अश्विनो! तुम अपने रथ को जोतो (७)। अपने उस रथ को जो द्युलोक में इसकी नदियो को पार करने के लिये एक बडे पतवारवाले जहाज का काम देता है। विचार के द्वारा आनन्द की शक्तिया जोती गयी है (८)। जलो के स्थान (पद) पर द्युलोक में आनन्दरूपी सोम-

---

*एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिव। स्तुषे वामश्विना बृहत् ॥(१।४६।१)
या दस्रा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम्। धिया देवा वसुविदा ॥२॥
आदारो वा मतीना नासत्या मतवचसा। पात सोमस्य धृष्णुया ॥५॥
या न पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिर। तामस्मे रासायामिषम् ॥६॥
आ नो नावा मतीना यात पाराय गन्तवे। युञ्जाथामश्विना रथम् ॥७॥
अरित्र वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूना रथ। धिया युयुज्र इन्दव ॥८॥
दिवस्कण्वास इन्दवो वसु सिन्धूना पदे। स्व वव्रि कुह धित्सथ ॥९॥
अभूदु भा उ अशवे हिरण्य प्रति सूर्य। व्यख्यज्जिह्वयासित ॥१०॥
अभूदु पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया। अदर्शि वि स्रुतिर्दिव ॥११॥
तत्तदिदश्विनोरवो जरिता प्रति भूषति। मदे सोमस्य पिप्रतो ॥१२॥
वावसाना विवस्वति सोमस्य पीत्या गिरा। मनुष्वच्छभू आ गतम् ॥१३॥
युवोरुषा अनु श्रियं परिज्मनोरुपाचरत्। ऋता वनथो अक्तुभि ॥१४॥
उभा पिबतमश्विनोभा न शर्म यच्छतम्। अविद्रियाभिरूतिभि. ॥१५॥

शक्तिया ही वह ऐश्वर्य (वसु) है। पर अपने उस आवरण को तुम कहा रख दोगे, जो तुमने अपने-आपको छिपाने के लिये बनाया है (९)। नही, सोम का 'आनन्द लेने के लिये प्रकाश उत्पन्न हो गया है,—सूर्य ने, जो कि अन्धकारमय था, अपनी जिह्वा को हिरण्य की ओर लपलपाया है (१०)। ऋत का मार्ग प्रकट हो गया है, जिमसे हम उस पार पहुचेगे, द्यु के बीच का सारा खुला मार्ग दिखलायी पड गया है (११)। खोजनेवाला अपने जीवन में अश्विनो के निरन्तर एक के बाद दूसरे आविर्भाव की ओर प्रगति किये जा रहा है ज्यो-ज्यो वे सोम के आनद में तृप्ति-लाभ करते है (१२)। उस सूर्य में जिसमे सब ज्योति ही ज्योति है, तुम निवास करते हुए (या चमकते हुए), सोम-पान के द्वारा, वाणी के द्वारा हमारी मानवीयता में सुख का सर्जन करनेवाले के तौर पर आओ (१३)। तुम्हारी कीर्त्ति और विजय के अनुरूप उषा हमारे पास आती है जब तुम हमारे सब लोको में व्याप्त हो जाते हो और तुम रात्रि में से सत्यो को विजय कर लाते हो (१४)। दोनो मिलकर हे अश्विनो, सोम-पान करो, दोनो मिलकर हमारे अदर शान्ति को प्राप्त कराओ उन विस्तारो के द्वारा जिनकी पूर्णता सदा अविच्छिन्न रहती है (१५)।"

यह इस सूक्त का सीधा और स्वाभाविक अर्थ है और हमें इसका भाव समझने में कठिनाई नही होगी, यदि हम वेद के मूलभूत विचारो और अलकारो को स्मरण रखेंगे। 'रात्रि' स्पष्ट ही आन्तरिक अधकार के लिये आलकारिक रूप से कहा गया है, उषा के आगमन के द्वारा रात्रि में से 'सत्यो' को जीतकर हस्तगत किया जाता है। यही उस सूर्य का, **सत्य** के सूर्य का, उदय होना है जो अधकार के बीच मे खो गया था—वही खोये हुए सूर्य का हमारा परिचित अलकार जिसमें उसे देवो और ऋषियो ने फिर से पाया है और अब यह अपनी अग्नि की जिह्वा को स्वर्णीय **ज्योति** के प्रति—'हिरण्य' के प्रति—लपलपाता है।

सुवर्ण उच्चतर ज्योति का स्थूल प्रतीक है, यह सत्य का सोना है और यही वह निधि है, न कि कोई सोने का सिक्का, जिसके लिये वैदिक ऋषि देवो से प्रार्थना करते है। आन्तरिक अधकार में से निकालकर ज्योति में लाने के इस महान् परिवर्तन को अश्वी करते है, जो मन की और प्राण-शक्तियो की प्रसन्नतायुक्त

ऊर्ध्वगति के देवता है, और इसे वे इस प्रकार करते हैं कि आनन्द का अमृतरस मन और शरीर में उंडेला जाता है और वहा वे इसका पान करते हैं। वे व्यजक शब्द को मनोमय रूप देते है, वे हमे विशुद्ध मन के उस स्वर्ग में ले जाते है जो इस अधकार से परे है और वहा वे विचार के द्वारा आनन्द की शक्तियो को काम में लाते है।

पर वे द्यु के जलो को भी पार करके उससे भी ऊपर चले जाते हैं, क्योकि सोम की शक्ति उन्हे सब मानसिक रचनाओ को तोड डालने में सहायता देती है और वे इस आवरण को भी उतार फेंकते हैं। वे मन से परे चले जाते है और सबसे अन्तिम चीज जो वे प्राप्त करते है वह 'नदियो का पार करना' कही गयी है, जो कि विशुद्ध मन के द्युलोक मे से गुजरने की यात्रा है, वह यात्रा है जिससे सत्य के मार्ग पर चलकर परले किनारे पर पहुचा जाता है और जबतक अन्त में हम उच्च-तम पद, परमा परावत्, पर नही पहुच जाते तबतक हम इस महान् मानवीय यात्रा से विश्राम नही लेते।

हम देखेंगे कि न केवल इस सूक्त में बल्कि सब जगह उषा सत्य को लानेवाली के रूप में आती है, स्वय वह सत्य की ज्योति से जगमगानेवाली है। वह दिव्य उषा है और यह भौतिक उषा (प्रभात होना) उसकी केवल छायामात्र है और प्राकृतिक जगत् में उसका प्रतीक है।

चौदहवा अध्याय

उषा और सत्य

उषा का बार-बार इस रूप में वर्णन किया गया है कि वह गौओ की माता है। तो यदि 'गौ' वेद में भौतिक प्रकाश का या आध्यात्मिक ज्योति का प्रतीक हो, तब इस वाक्य का या तो यह अभिप्राय होगा कि वह, दिन के प्रकाश की जो भौतिक किरणें हैं उनकी माता या स्रोत है, अथवा इसका यह अर्थ होगा कि वह **दिव्य दिन** के ज्योति प्रसार को अर्थात् आन्तरिक प्रकाश की प्रभा तथा निर्मलता को रचती है। परतु वेद में हम देखते हैं कि देवो की माता अदिति का दोनो रूपो में वर्णन हुआ है, गौरूप में और सबकी सामान्य माता के रूप में, वह **परा ज्योति** है और अन्य सब ज्योतिया उसीसे निकलती है। आध्यात्मिक रूप में, अदिति परा या असीम चेतना है, देवो की माता है, उस 'दनु' या 'दिति'* के प्रतिकूल जो कि विभक्त चेतना है और वृत्र तथा उन दूसरे दानवो की माता है जो देवताओ के एव प्रगति करते हुए मनुष्य के शत्रु होते हैं। और अधिक सामान्य रूप में कहे, तो वह 'अदिति' भौतिक से प्रारभ करके जगत्स्तर-सबधिनी जितनी चेतनाए है उन सबकी आदिस्रोत है, सात गौए, 'सप्त गाव', उसीके रूप है और हमें बताया गया है कि उस माता के सात नाम या स्थान है। तो उषा जो गौओं की माता है, वह केवल इसी **परा ज्योति** का, इसी **परा चेतना** का, अदिति का कोई रूप या शक्ति हो सकती है और सचमुच हम उसे १ ११३ १९ मे इस रूप में वर्णित हुई-हुई पाते हैं—**माता देवानामदितेरनीकम्**। 'देवो की माता, अदिति का रूप (या शक्ति)।'

---

*यह न समझ लिया जाय कि 'अदिति' व्युत्पत्तिशास्त्रानुसार 'दिति' का अभावात्मक है, ये दोनो शब्द बिलकुल ही भिन्न-भिन्न दो धातुओ—'अद्' और 'दि' से बने हैं।

पर उस उच्चतर या अविभक्त चेतना की ज्योतिर्मयी उषा का उदय सर्वदा सत्यरूपी उपा का उदय होता है और यदि वेद की उषादेवता यही ज्योतिर्मयी उषा है, तो ऋग्वेद के मत्रो मे हमें अवश्यमेव इसका उदय या आविर्भाव बहुधा सत्य के--ऋत के--विचार के साथ सवद्ध मिलना चाहिये। और इस प्रकार का सवध हमें स्थान-स्थान पर मिलता है। क्योकि सबमे पहले तो हम यही देखते है कि उषा को कहा गया है कि वह 'ठीक प्रकार से ऋत के पथ का अनुसरण करती है', (**ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु १ १२४ ३**)। यहा 'ऋत' के जो कर्मकाण्ड-परक वा प्रकृतिवादी अर्थ किये जाते है उनमेंसे कोई भी ठीक नही घट सकता, यह बार-बार कहे चले जाने मे कुछ अर्थ नही बनता कि उषा यज्ञ के मार्ग का अनुसरण करती है, या पानी के मार्ग का अनुसरण करती है। तो इसके स्पष्ट मतलब को हम केवल इस प्रकार टाल सकते है कि 'पन्था ऋतस्य' का अर्थ हम सत्य का मार्ग नही, बल्कि सूर्य का मार्ग समझें। लेकिन वेद तो इसके विपरीत यह वर्णन करता है कि सूर्य उषा के मार्ग का अनुसरण करता है (न कि उषा सूर्य के) और भौतिक उषा के अवलोकन करनेवाले के लिये यही वर्णन स्वाभाविक भी है। इसके अतिरिक्त, यदि यह स्पष्ट न भी होता कि इस प्रयोग का अर्थ दूसरे सदर्भो में सत्य का मार्ग ही है, फिर भी आध्यात्मिक अर्थ बीच में आ ही जाता है, क्योकि फिर भी 'उषा सूर्य के मार्ग का अनुसरण करती है' इसका अभिप्राय यही होता है कि उषा उस मार्ग का अनुसरण करती है जो सत्यमय का या सत्य के देव का, सूर्य-सविता का मार्ग है।

हम देखते है कि उपर्युक्त १,१२४ ३ में इतना ही नही कहा है, बल्कि वहा अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और अधिक पूर्ण आध्यात्मिक निर्देश विद्यमान है--क्योकि **'ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु'**, के आगे साथ ही कहा है **'प्रजानतीव न दिशो मिनाति ।'** "उषा सत्य के मार्ग के अनुसार चलती है और जानती हुई के समान वह प्रदेशों को सीमित नही करती है।" 'दिश.' शब्द दोहरा अर्थ देता है, यह हम ध्यान में रखें, यद्यपि यहा इस बात पर बल देने की विशेष आवश्यकता नही है। उषा सत्य के पथ की दृढ अनुगामिनी है और चूकि इस बात का उसे ज्ञान या बोध रहता है, इसलिये वह असीमता को, बृहत् को, जिसकी कि वह ज्योति है, सीमित

नही करती। यही इस मत्र का असली अभिप्राय है, यह बात ५म मण्डल की एक ऋचा (५।८०।१) से निर्विवाद स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती है और इसमें भूलचूक की कोई सभावना नही रह जाती। इसमें उषा के लिये कहा है—**द्युतद्यामान बृहतीम् ऋतेन ऋतावरीं, स्वरावहन्तीम्।** "वह प्रकाशमय गतिवाली है, ऋत से महान् है, ऋत मे सर्वोच्च (या ऋत से युक्त) है, अपने साथ स्व को लाती है।" यहा हम बृहत् का विचार, सत्य का विचार, स्वर्लोक के सौर प्रकाश का विचार पाते है, और निश्चय ही ये सब विचार इस प्रकार घनिष्ठता और दृढता मे एकमात्र भौतिक उषा के साथ सबद्ध नही रह सकते। इसके साथ हम ७।७५।१ के वर्णन की भी तुलना कर सकते है—**व्युषा आवो दिविजा ऋतेन, आविष्कृण्वाना महिमानमागात्।** "द्यौ में प्रकट हुई उषा सत्य के द्वारा वस्तुओ को खोल देती है, वह महिमा को व्यक्त करती हुई आती है।" यहा पुन हम देखते है कि उषा सत्य की शक्ति के द्वारा सब वस्तुओ को प्रकट करती है और इसका परिणाम यह बताया गया है कि एक प्रकार की महत्ता का आविर्भाव हो जाता है।

अन्त में इसी विचार को हम आगे भी वर्णित किया गया पाते है, बल्कि यहा सत्य के लिये 'ऋतं' के बजाय सीधा 'सत्य' शब्द ही है, जो कि 'ऋतम्' की तरह दूसरा अर्थ किये जा सकने की सभावना में डालनेवाला भी नही है—**सत्या सत्येभिर्महती महद्भिर्देवी देवेभि**। (७।७५।७) "उषा अपनी सत्ता में सच्चे देवो के साथ सच्ची है, महान् देवो के साथ महान् है।" वामदेव ने अपने एक सूक्त ४-५१ मे उषा के इस "सत्य" पर बहुत बल दिया है, क्योकि वहा वह उषाओ के बारे में केवल इतना ही नही कहता कि "तुम सत्य के द्वारा जोते हुए अश्वो के साथ जल्दी से लोको को चारो ओर से घेर लेती हो[1]", **ऋतयुग्भि अश्वै** (तुलना करो ६ ६५ २[2]), परतु वह उनके लिये कहता है—**भद्रा ऋतजातसत्याः** (४ ५१ ७) "वे सुखमय हैं और सत्य से उत्पन्न हुई सच्ची हैं।" और एक दूसरी

---

[1] यूय हि देवीर्ऋतयुग्भिरश्वैं परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः। (४.५१.५)

[2] वि तद्ययुररुणयुग्भिरश्वैश्चित्रं भान्त्युषसश्चन्द्ररथाः (६.६५.२)

ऋचा में वह उनका वर्णन इस रूप में करता है कि वे देवी हैं जो कि ऋत के स्थान से प्रवुद्ध होती है।*"

'भद्र' और 'ऋत' का यह निकट सबध अग्नि को कहे गये मधुच्छन्दस् के सूक्त में इसी प्रकार का जो विचारो का परस्पर सबध है, उसका हमें स्मरण करा देता है। वेद की अपनी आध्यात्मिक व्याख्या में हम प्रत्येक मोड पर इस प्राचीन विचार को पाते हैं कि 'सत्य' आनन्द को प्राप्त करने का मार्ग है। तो उषा को, सत्य की ज्योति मे जगमगाती उषा को, भी अवश्य सुख और कल्याण को लानेवाला होना चाहिये। उषा आनन्द को लानेवाली है, यह विचार वेद में हम लगातार पाते हैं और वसिष्ठ ने ७ ८१ ३ में इसे बिलकुल स्पष्ट रूप में कह दिया है—**या वहसि पुरु स्पार्हं रत्नं न दाशुषे मय**। "तू जो देनेवाले को कल्याण-सुख प्राप्त कराती है, जो कि अनेकरूप है और स्पृहणीय आनदरूप है।"

वेद का एक सामान्य शब्द 'सूनृता' है जिसका अर्थ सायण ने "मधुर और सत्य वाणी" किया है, परतु प्रतीत होता है कि इसका प्राय और भी अधिक व्यापक अभिप्राय "सुखमय सत्य" है। उषा को कही-कही यह कहा गया है कि वह **"ऋतावरी"** है, सत्य से परिपूर्ण है और कही उसे **"सूनृतावती"** कहा गया है। वह आती है सच्चे और सुखमय शब्दो को उच्चारित करती हुई, **"सूनृता ईरयन्ती।"** जैसे उसका यह वर्णन किया गया है कि वह जगमगाती हुई गौओ की नेत्री है और दिनो की नेत्री है, वैसे ही उसे सुखमय सत्यो की प्रकाशवती नेत्री कहा गया है, **भास्वती नेत्री सूनृतानाम्** (१.९२ ७) और वैदिक ऋषियो के मन में ज्योति, किरणो या गौओ के विचार और सत्य के विचार में जो परस्पर गहरा सबध है, वह एक दूसरी ऋचा १.९२ १४ में और भी अधिक स्पष्ट तथा असदिग्ध रूप से पाया जाता है—**गोमति अश्वावति विभावरि, सूनृतावति**। "हे उष, जो तू अपनी जगमगाती हुई गौओ के साथ है, अपने अश्वो के साथ है, अत्यधिक प्रकाशमान है और सुखमय सत्यो से परिपूर्ण है।" इसी जैसा पर तो भी इससे अधिक स्पष्ट वाक्याश १ ४८ २ मे है, जो इन विशेषणो के इस प्रकार रखे जाने के अभिप्राय को

---

*ऋतस्य देवी सदसो बुधाना (४.५१.८)

सूचित कर देता है—"गोमतीरश्वावतीर्विश्वसुविद ।" "उषाए जो अपनी ज्योतियो (गौओ) के साथ है, अपनी त्वरित गतियो (अश्वो) के साथ है और जो सब वस्तुओ को ठीक प्रकार से जानती है।"

वैदिक उषा के आध्यात्मिक स्वरूप का निर्देश करनेवाले जो उदाहरण ऋग्वेद में पाये जाते है, वे किसी भी प्रकार वही तक परिमित नही है। उषा को निरन्तर इस रूप में प्रदर्शित किया गया है कि वह दर्शन, बोध, ठीक दिशा में गति को जागृत करती है। गोतम राहूगण कहता है, "वह देवी सब भुवनो को सामने होकर देखती है, वह दर्शनरूपी आख अपनी पूर्ण विस्तीर्णता में चमकती है, ठीक दिशा में चलने के लिये सपूर्ण जीवन को जगाती हुई वह सब विचारशील लोगो के लिये वाणी को प्रकट करती है।"* विश्वस्य वाचमविदन् मनायो (१ ९२ ९)।

यहा हम उषा को इस रूप में पाते है कि वह जीवन और मन को बधनमुक्त करके अधिक-से-अधिक पूर्ण विस्तार मे पहुचा देती है और यदि हम इस उपर्युक्त निर्देश को वही तक सीमित रखें कि यह केवल भौतिक उषा के उदय होने पर पार्थिव जीवन के पुन जाग उठने का ही वर्णन है तो हम ऋषि के चुने हुए शब्दो और वाक्याशो में जो बल है उस सारे की उपेक्षा ही कर रहे होंगे और यदि यह हो कि उषा से लाये जानेवाले दर्शन के लिये यहा जो शब्द प्रयुक्त किया गया है, 'चक्षु', उसे केवल भौतिक दर्शनशक्ति को ही सूचित कर सकने योग्य माना जाय, तो दूसरे सदर्भों में हम इसके स्थान पर 'केतु' शब्द पाते हैं, जिसका अर्थ है बोध, मानसिक चेतना मे होनेवाला बोधयुक्त दर्शन, ज्ञान की एक शक्ति। उषा है 'प्रचेता' इस बोधयुक्त ज्ञान से पूर्ण। उषा ने, जो कि ज्योतियो की माता है, मन के इस बोधयुक्त ज्ञान को रचा है, गवा जनित्री अकृत प्र केतुम् (१ १२४ ५)। वह स्वय ही दर्शनरूप है—"अब बोधमय दर्शन की उषा खिल उठी है, जहा कि पहले कुछ नही (असत्) था", वि नूनमुच्छादसति प्र केतु (१ १२४ ११)। वह अपनी बोधयुक्त शक्ति के द्वारा सुखमय सत्योंवाली है, चिकित्वित् सूनृतावरि (४ ५२ ४)।

---

*विश्वानि देवी भुवनाभिचक्ष्या प्रतीची चक्षुरुर्विया वि भाति।
विश्व जीव चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचमविदन्मनायो ॥ (ऋ १।९२।९)

यह बोध, यह दर्शन, हमें बताया गया है, अमरत्व का है—अमृतस्य केतु (३.६१ ३)। दूसरे शब्दो में यह उस सत्य और सुख की ज्योति है जिनसे उच्चतर या अमर चेतना का निर्माण होता है। रात्रि वेद में हमारी उस अधकारमय चेतना का प्रतीक है जिसके ज्ञान में अज्ञान भरा पडा है और जिसके सकल्प तथा क्रिया में स्खलन पर स्खलन होते रहते है और इसलिये जिसमें सब प्रकार की बुराई, पाप तथा कष्ट रहते है। प्रकाश है ज्योतिर्मयी उच्चतर चेतना का आगमन जो कि सत्य और सुख को प्राप्त कराता है। हम निरन्तर 'दुरितम्' और 'सुवितम्' इन दो शब्दो का विरोध पाते है। 'दुरितम्' का शाब्दिक अर्थ है स्खलन, गलत रास्ते पर जाना और औपचारिक रूप से वह सब प्रकार की गलती और बुराई, सब पाप, भूल और विपत्तियो का सूचक है। 'सुवितम्' का शाब्दिक अर्थ है, ठीक और भले रास्ते पर जाना और यह सब प्रकार की अच्छाई तथा सुख को प्रकट करता है और विशेषकर इसका अर्थ वह सुख-समृद्धि है जो कि सही मार्ग पर चलने मे मिलती है। सो वसिष्ठ इस देवी उषा के विषय में (७ ७८ २) मे इस प्रकार कहता है—"दिव्य उषा अपनी ज्योति मे सब अधकारो और बुराइयो को हटाती हुई आ रही है"* (विश्वा तमांसि दुरिता) और बहुत से मत्रो में इस देवी का वर्णन इस रूप मे किया गया है कि वह मनुष्यो को जगा रही है, प्रेरित कर रही है, ठीक मार्ग की ओर, सुख की ओर (सुविताय)।

इसलिये वह केवल सुखमय सत्यो की ही नही, किंतु हमारी आध्यात्मिक समृद्धि और उल्लास की भी नेत्री है, उस आनद को लानेवाली है जिसतक मनुष्य सत्य के द्वारा पहुचता है या जो सत्य के द्वारा मनुष्य के पास लाया जाता है, (एषा नेत्री राधस सूनृतानाम्) (७ ७६ ७)। यह समृद्धि जिसके लिये ऋषि प्रार्थना करते है भौतिक दौलतो के अलकार मे वर्णन की गयी है, यह 'गोमद् अश्वावद् वीरवद्' है, या यह 'गोमद् अश्वावद् रथवच्च राध' है। गौ (गाय), अश्व (घोडा), प्रजा या अपत्य (सतान), नृ या वीर (मनुष्य या शूरवीर), हिरण्य (सोना), रथ (सवारीवाला रथ), श्रव (भोजन या कीर्त्ति)—याज्ञिक सप्रदायवालो की

*उषा याति ज्योतिषा बाधमाना विश्वा तमांसि दुरिताप देवी। (७-७८-२)

व्याख्या के अनुसार ये ही उस सपत्ति के अग है जिनकी वैदिक ऋषि कामना करते थे। यह लगेगा कि इससे अधिक ठोस दुनियावी पार्थिव और भौतिक दौलत कोई और नही हो सकती थी, नि सदेह ये ही वे ऐश्वर्य है जिनके लिये कोई वेहद भूखी, पार्थिव वस्तुओ की लोभी, कामुक, जगली लोगो की जाति अपने आदि देवो से याचना करती। परतु हम देख चुके है कि 'हिरण्य' वेद में भौतिक सोने की अपेक्षा दूसरे ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। हम देख आये है कि 'गौएं' निरन्तर उषा के साथ सवद्ध होकर वार-वार आती हैं, कि यह प्रकाश के उदय होने का आलकारिक वर्णन होता है और हम यह भी देख चुके है कि इस प्रकाश का सबध मानसिक दर्शन के साथ है और उस सत्य के साथ है जो कि सुख लाता है। और अश्व, घोडा, आध्यात्मिक भावो के निर्देशक इन मूर्त्त अलकारो में सर्वत्र गौ के प्रतीकात्मक अलकार के साथ जुडा हुआ आता है, उषा, **'गोमती अश्वावती'** है। वसिष्ठ ऋषि की एक ऋचा (७ ७७ ३) है जिसमें वैदिक अश्व का प्रतीकात्मक अभिप्राय वडी स्पष्टता और वडे वल के साथ प्रकट होता है–

देवाना चक्षु सुभगा वहन्ती, श्वेत नयन्ती सुदृशीकमश्वम्।
उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता, चित्रामघा विश्वमनु प्रभूता॥

'देवो की दर्शनरूपी आख को लाती हुई, पूर्ण दृष्टिवाले, सफेद घोडे का नेतृत्व करती हुई सुखमय उषा रश्मियो द्वारा व्यक्त होकर दिखायी दे रही है, यह अपने चित्रविचित्र ऐश्वर्यों से परिपूर्ण है, अपने जन्म को सब वस्तुओ में अभिव्यक्त कर रही है।' यह पर्याप्त स्पष्ट है कि 'सफेद घोडा' पूर्णतया प्रतीकरूप ही है[1] (सफेद घोडा यह मुहावरा अग्निदेवता के लिये प्रयुक्त किया गया है जो कि अग्नि 'द्रष्टा का सकल्प' है, कविक्रतु है, दिव्य सकल्प की अपने कार्यों को करने की पूर्ण

---

[1] घोडा प्रतीकरूप ही है, यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है दीर्घतमस् के सूक्तो में जो कि यज्ञ के घोडे के सबध में हैं, अश्व दधिक्रावन्-विषयक भिन्न-भिन्न ऋषियो के सूक्तो में और फिर बृहदारण्यक उपनिषद् के आरभ में जहा वह जटिल आलकारिक वर्णन है जिसका आरभ "उषा घोडे का सिर है", (उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर) इस वाक्य से होता है।

दृष्टि-शक्ति है। ५ १ ४)* और ये 'चित्र-विचित्र ऐश्वर्य' भी आलकारिक ही हैं जिन्हें कि वह अपने साथ लाती है, निश्चय ही उनका अभिप्राय भौतिक धन-दौलत से नही है।

उषा का वर्णन किया गया है कि वह 'गोमती अश्वावती वीरवती' है और क्योंकि उसके साथ लगाये गये 'गोमती' और 'अश्वावती' ये दो विशेषण प्रतीकरूप हैं और इनका अर्थ यह नही है कि वह 'भौतिक गौओ और भौतिक घोडोवाली' है बल्कि यह अर्थ है कि वह ज्ञान की ज्योति से जगमगानेवाली और शक्ति की तीव्रता से युक्त है, तो 'वीरवती' का अर्थ भी यह नही हो सकता कि वह 'मनुष्योवाली है या शूरवीरों, नौकर-चाकरो वा पुत्रो से युक्त' है, वल्कि इसकी अपेक्षा इसका अर्थ यह होगा कि वह विजयशील शक्तियो से सयुक्त है अथवा यह शब्द बिल्कुल इसी अर्थ में नही तो कम-से-कम किसी ऐसे ही और प्रतीकरूप अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। यह वात १ ११३ १८ में विलकुल स्पष्ट हो जाती है। **'या गोमतीरुषस. सर्ववीरा . .ता अश्वदा अश्नवत् सोमसुत्वा।'** इसका यह अर्थ नही है कि 'वे उषाए जिनमें कि भौतिक गायें है और सब मनुष्य या सब नौकर-चाकर हैं, सोम अर्पित करके मनुष्य उनका भौतिक घोडो को देनेवाली के रूप में उपभोग करता है।' उषा देवी यहा आन्तरिक उषा है जो कि मनुष्य के लिये उसकी बृहत्तम सत्ता की विविध पूर्णताओ को, शक्ति को, चेतना को और प्रसन्नता को लाती है; यह अपनी ज्योतियो से जगमग है, सब सभव शक्तियो और वलो से युक्त है, वह मनुष्य को जीवन-शक्ति का पूर्ण वल प्रदान करती है, जिससे कि वह उस बृहत्तर सत्ता के असीम आनद का स्वाद ले सके।

अव हम अधिक देर तक **'गोमद् अश्वावद् वीरवद् राध'** को भौतिक अर्थों में नही ले सकते, वेद की भाषा ही हमें इससे विलकुल भिन्न तथ्य का निर्देश कर रही है। इस कारण देवो द्वारा दी गयी इस सपत्ति के अन्य अगो को भी हमें इसीकी तरह अवश्यमेव आध्यात्मिक अर्थों में ही लेना चाहिये, सतान, सुवर्ण,

---

* **अग्निमच्छा देवयतां मनांसि चक्षूंषीव सूर्ये सं चरन्ति।**
यदीं सुवाते उषसा विरूपे श्वेतो वाजी जायते अग्रे अह्नाम्॥ (५।१।४)

रथ ये प्रतीकरूप ही है, 'श्रव' कीर्त्ति या भोजन नही है, वल्कि इसमें आध्यात्मिक अर्थ अन्तर्निहित है और इसका अभिप्राय है, वह उच्चतर दिव्य ज्ञान जो कि इन्द्रियो या वुद्धि का विषय नही है वल्कि जो सत्य की दिव्य श्रुति है और सत्य के दिव्य दर्शन से प्राप्त होता है, 'राध दीर्घश्रुत्तमम्' (७ ८१ ५) 'रयिं श्रवस्युम्' (७ ७५ २), सत्ता की वह सपन्न अवस्था है, वह आध्यात्मिक समृद्धि से युक्त वैभव है जो कि दिव्य ज्ञान की ओर प्रवृत्त होता है (श्रवस्यु) और जिसमें उस दिव्य शब्द के कम्पनो को सुनने के लिये सुदीर्घ, दूर तक फैली श्रवणशक्ति है, जो दिव्य शब्द हमारे पास असीम के प्रदेशो (दिश) से आता है। इस प्रकार उपा का यह उज्ज्वल अलकार हमें वेदसवधी उन सव भौतिक, कर्मकाण्डिक, अज्ञानमूलक भ्रातियो से मुक्त कर देता है जिनमें कि यदि हम फसे रहते तो वे हमें असगति और अस्पष्टता की रात्रि में ठोकरो-पर-ठोकरें खिलाती हुई एक से दूसरे अधकूप मे ही गिराती रहती, यह हमारे लिये वद द्वारो को खोल देती है और वैदिक ज्ञान के हृदय के अदर हमारा प्रवेश करा देती है।

पंद्रहवा अध्याय

आंगिरस उपाख्यान और गौओं का रूपक

अव हमें गौ के इस रूपक को, जिसे कि हम वेद के आशय की कुजी के रूप में प्रयुक्त कर रहे है, अगिरस ऋषियो के उस अद्भुत उपाख्यान या कथानक में देखना है जो सामान्य रूप मे कहे तो सारी की सारी वैदिक गाथाओ में सबसे अधिक महत्त्व का है।

वेद के सूक्त, वे और जो कुछ भी हो सो हो, वे सारे-के-सारे मनुष्य के सखा और सहायकभूत कुछ "आर्यन" देवताओ के प्रति प्रार्थनारूप है, प्रार्थना उन वातो के लिये है जो मत्रो के गायको को—या द्रष्टाओ को, जैसा कि वे अपने-आपको कहते है (कवि, ऋषि, विप्र)—विशेष रूप से वरणीय (वर, वार), अभीष्ट होती थी। उनकी ये अभीष्ट वाते, देवताओ के ये वर सक्षेप से 'रयि', 'राधस्' इन दो शब्दो में सगृहीत हो जाते है, जिनका अर्थ भौतिक रूप से तो धन-दौलत या समृद्धि हो सकता है और आध्यात्मिक रूप से एक आनन्द या सुख-लाभ जो कि आत्मिक सपत्ति के किन्ही रूपो का आधिक्य होने से होता है। मनुष्य यज्ञ के कार्य में, स्तोत्र में, सोमरस में, घृत या घी मे, सम्मिलित प्रयत्न के अपने हिस्से के तौर पर, योग-दान करता है। देवता यज्ञ मे जन्म लेते है, वे स्तोत्र के द्वारा, सोम-रस के द्वारा तथा घृत के द्वारा वढते है और उस शक्ति में तथा सोम के उस आनद और मद में भरकर वे यज्ञकर्ता के उद्देश्यो की पूर्ण करते है। इस प्रकार जो ऐश्वर्य प्राप्त होता है उसके मुख्य अग 'गौ' और 'अश्व' हैं, पर इनके अतिरिक्त और भी है, हिरण्य (सोना), वीर (मनुष्य या शूरवीर), रथ (सवारी करने का रथ), प्रजा या अपत्य (सतान)। यज्ञ के साधनो को भी—अग्नि को, सोम को, घृत को—देवता देते है और वे यज्ञ में इसके पुरोहित, पवित्रता-कारक, सहायक वनकर उपस्थित होते हैं, तथा यज्ञ मे होनेवाले सग्राम में वीरो का काम करते है,—क्योंकि कुछ शक्तिया ऐसी होती है जो यज्ञ तथा मत्र से घृणा करती है, यज्ञकर्ता पर

आक्रमण करती है और उसके अभीप्सित ऐश्वर्यो को उससे जवर्दस्ती छीन लेती या उसके पास पहुचने से रोके रखती है। ऐसी उत्कण्ठा से जिस ऐश्वर्य की कामना की जाती है उसकी मुख्य शर्ते है उषा तथा सूर्य का उदय होना और द्युलोक की वर्षा का और सात नदियो–भौतिक या रहस्यमय–(जिन्हें कि वेद मे द्युलोक की शक्तिशालिनी वस्तुए 'दिवो यह्वी' कहा गया है) का नीचे आना। पर यह ऐश्वर्य भी, गौओ की, घोडो की, सोने की, मनुष्यो की, रथो की, सतान की यह परिपूर्णता भी अपने-आपमे अतिम उद्देश्य नही है, यह सब एक साधन है दूसरे लोको को खोल देने का, 'स्व' को अधिगत कर लेने का, सौर लोको मे आरोहण करने का, सत्य के मार्ग द्वारा उस ज्योति को और उस स्वर्गीय सुख को पा लेने का जहा मर्त्य अमरता मे पहुच जाता है।

यह है वेद का असदिग्ध सारभूत तत्त्व। कर्मकाण्डपरक और गाथापरक अभिप्राय, जो इसके साथ बहुत प्राचीन काल से जोडा जा चुका है, बहुत प्रसिद्ध है और उसे विशेष रूप से यहा वर्णन करने की आवश्यकता नही है। सक्षेप में, यह यज्ञिय पूजा का अनुष्ठान है जिसे मनुष्य का मुख्य कर्तव्य माना गया है और इसमें दृष्टि यह है कि इससे इहलोक मे धन-दौलत का उपभोग प्राप्त होगा और यहा के बाद परलोक में स्वर्ग मिलेगा। इस सबध मे हम आधुनिक दृष्टि-कोण को भी जानते हैं, जिसके अनुसार सूर्य, चन्द्रमा, तारे, उषा, वायु, वर्षा, अग्नि, आकाश, नदियो तथा प्रकृति की अन्य शक्तियो को सजीव देवता मानकर उनकी पूजा करना, यज्ञ के द्वारा इन देवताओ को प्रसन्न करना, इस जीवन मे मानव और द्राविड शत्रुओ से और प्रतिपक्षी दैत्यो तथा मर्त्य लुटेरो का मुकाबला करके धन-दौलत को जीतना और अपने अधिकार में रखना और मरने के बाद मनुष्य का देवो के स्वर्ग को प्राप्त कर लेना, बस यही वेद है। अब हम पाते है कि अतिसामान्य लोगो के लिये ये विचार चाहे कितने ही युक्तियुक्त क्यो न रहे हो, वैदिक युग के द्रष्टाओ के लिये, ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित मनो (कवि, विप्र) के लिये वे वेद का आन्तरिक अभिप्राय नही थे। उनके लिये तो ये भौतिक पदार्थ किन्ही अभौतिक वस्तुओ के प्रतीक थे, 'गौए' दिव्य उषा की किरणें या प्रभाए थी, 'घोडे' और 'रथ' शक्ति तथा गति के प्रतीक थे, 'सुवर्ण' था प्रकाश, एक दिव्य

सूर्य की प्रकाशमय सपत्ति—सच्चा प्रकाश, "ऋत ज्योति", यज्ञ से प्राप्त होनेवाली धन-सपत्ति और स्वय यज्ञ ये दोनो अपने सब अग-उपागो के साथ, एक उच्चतर उद्देश्य—अमरता की प्राप्ति—के लिये मनुष्य का जो प्रयत्न है और उसके जो साधन है, उनके प्रतीक थे। वैदिक द्रष्टा की अभीप्सा थी मनुष्य के जीवन को समृद्ध बनाना और उसका विस्तार करना, उसके जीवन-यज्ञ में विविध दिव्यत्व को जन्म देना और उसका निर्माण करना, उन दिव्यत्वो की शक्तिभूत जो बल, सत्य, प्रकाश, आनन्द आदि है उनकी वृद्धि करना जबतक कि मनुष्य का आत्मा अपनी सत्ता के परिवर्धित और उत्तरोत्तर खुलते जानेवाले लोको में से होता हुआ ऊपर न चढ जाय, जबतक वह यह न देख ले कि दिव्य द्वार (देवीर्द्वार) उसकी पुकार पर खुलकर झूलने लगते है और जबतक वह उस दिव्य सत्ता के सर्वोच्च आनद के अदर प्रविष्ट न हो जाय जो द्यौ और पृथिवी से परे का है। यह ऊर्ध्व-आरोहण ही अगिरस ऋषियो की रूपककथा है।

वैसे तो सभी देवता विजय करनेवाले और गौ, अश्व तथा दिव्य ऐश्वर्यो को देनेवाले हैं, पर मुख्य रूप से यह महान् देवता इन्द्र है जो इस सग्राम का वीर और योद्धा है और जो मनुष्य के लिये प्रकाश तथा शक्ति को जीतकर देता है। इस कारण इन्द्र को निरन्तर गौओ का स्वामी 'गोपति' कहकर सबोधित किया गया है, उसका ऐसा भी आलकारिक वर्णन आता है कि वह स्वय गौ और घोडा है, वह अच्छा दोग्धा है जिसकी कि ऋषि दुहने के लिये कामना करते है और जो कुछ वह दुहकर देता है वे है पूर्ण रूप और अतिम विचार, वह 'वृषभ' है, गौओ का साड है, गौओ और घोडो की वह सपत्ति जिसके लिये मनुष्य इच्छा करता है, उसीकी है। ६ २८ ५ में यह कहा भी है—हे मनुष्यो! ये जो गौए है, वे इन्द्र है, इन्द्र को ही मै अपने हृदय से और मन से चाहता हू।'* गौओ और इन्द्र की यह एकात्मता महत्त्व की है और हमें इसपर फिर लौटकर आना होगा जब हम इन्द्र को कहे मधुच्छन्दस् के सूक्तो पर विचार करेगे।

पर साधारणतया ऋषि इस ऐश्वर्य की प्राप्ति का इस तरह अलकार खीचते

---

*इमा या गाव स जनास इन्द्र, इच्छामि-इद्-हृदा मनसा चिदिन्द्रम्।

है कि यह एक विजय है, जो कि कुछ शक्तियो के मुकाबले मे की गयी है, वे शक्तिया 'दस्यु' हैं, जिन्हें कही इस रूप में प्रकट किया गया है कि वे अभीप्सित ऐश्वर्यो को अपने कब्जे में किये होते हैं जिन ऐश्वर्यों को फिर उनसे छीनना होता है और कही इस रूप में वर्णन है कि वे उन ऐश्वर्यों को आर्यों के पास से चुराते है और तब आर्यो को देवो की सहायता से उन्हें खोजना और फिर से प्राप्त करना होता है। इन दस्युओ को जो कि गौओ को अपने कब्जे मे किये होते हैं या चुराकर लाते हैं 'पणि' कहा गया है। इस 'पणि' शब्द का मूल अर्थ कर्ता, व्यौहारी या व्यापारी रहा प्रतीत होता है, पर इस अर्थ को कभी-कभी इससे जो और दूर का 'कृपण' का भाव प्रकट होता है उसकी रगत दे दी जाती है। उन पणियो का मुखिया है 'वल' एक दैत्य जिसके नाम से सभवत 'चारो ओर से घेर लेनेवाला' या 'अदर बन्द कर लेनेवाला' यह अर्थ निकलता है, जैसे 'वृत्र' का अर्थ होता है विरोधी, विघ्न डालनेवाला या सब ओर से बन्द करके ढकनेवाला।

यह सलाह देना बडा आसान है कि पणि तो द्रवीडी-लोग हैं और 'वल' उनका सरदार या देवता है, जैसा कि वे विद्वान् जो वेद में प्रारभिक से प्रारभिक इतिहास को पढने की कोशिश करते हैं, कहते भी हैं। पर यह आशय जुदा करके देखे गये सदर्भो में ही ठीक ठहराया जा सकता है, अधिकतर सूक्तो में तो ऋषियो के वास्तविक शब्दो के साथ इसकी सगति ही नही बैठती और इससे उनके प्रतीक तथा अलकार नुमायशी निरर्थक बातो के एक गडबड मिश्रण से दीखने लगते हैं। इस असगति में की कुछ बातो को हम पहले ही देख चुके हैं, यह हमारे सामने अधिकाधिक स्पष्ट होती चलेगी, ज्यो-ज्यो हम खोयी हुई गौओ के कथानक की और अधिक नजदीक से परीक्षा करेगे।

'वल' एक गुफा में, पहाडो की कदरा (बिल) में रहता है, इन्द्र और अगिरस ऋषियो को उसका पीछा करके वहा पहुचना है और उसे अपनी दौलत को छोड देने के लिये बाध्य करना है, क्योकि वह गौओ का 'वल' है—'वलस्य गोमत' (१-११-५)। पणियो को भी इसी रूप में निरूपित किया गया है कि वे चुरायी हुई गौओ को पहाड की एक गफा में छिपा देते है, जो उनका छिपाने का कारागार 'वव्र', या गौओ का बाडा 'व्रज', कहलाता है या कभी-कभी सार्थक मुहावरे

मे उसे 'गव्यम् ऊर्वम्' (१-७२-८) कह दिया जाता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'गौओ का विस्तार' या यदि 'गो' का दूसरा भाव ले, तो "ज्योतिर्मय विस्तार", जगमगाती गौओ की विस्तृत सपत्ति। इस खोयी हुई सपत्ति को फिर से पा लेने के लिये 'यज्ञ' करना पडता है, अगिरस या बृहस्पति और अगिरस सच्चे शब्द का, मन्त्र का, गान करते है, सरमा, स्वर्ग की कुतिया, ढूढकर पता लगाती है कि गौए पणियो की गुफा में हैं, सोम-रस से बली हुआ इन्द्र और उसके साथी द्रष्टा अगिरस पदचिह्नो का अनुसरण करते हुए गुफा में जा घुसते है, या बलात् पहाड के मजबूत स्थानो को तोडकर खोल देते है, पणियो को हराते है और गौओ को छुडाकर ऊपर हाक ले जाते है।

पहले हम इससे सबध रखनेवाली कुछ उन बातो को ध्यान में ले आवे जिनकी कि उपेक्षा नही की जानी चाहिये, जब कि हम इस रूपक या कथानक का असली अभिप्राय निश्चित करना चाहते है। सबसे पहली बात यह कि यह कथानक अपने रूपवर्णनो मे चाहे कितना यथार्थ क्यो न हो तो भी वेद में यह एक निरी गाथात्मक परपरा मात्र नही है, बल्कि वेद में इसका प्रयोग एक स्वाधीनता और तरलता के साथ हुआ है जिससे कि पवित्र परपरा के पीछे छिपा हुआ इसका सार्थक आलकारिक रूप दिखायी देने लगता है। बहुधा वेद में इसपर से इसका गाथात्मक रूप उतार डाला गया है और इसे मत्र-गायक की वैयक्तिक आवश्यकता या अभीप्सा के अनुसार प्रयुक्त किया गया है। क्योकि यह एक क्रिया है जिसे इन्द्र सदैव कर सकने में समर्थ है, यद्यपि वह इसे एक बार हमेशा के लिये नमूने के रूप में अगिरसो के द्वारा कर चुका है फिर भी वह वर्तमान में भी इस नमूने को लगातार दोहराता है, वह निरन्तर गौओ को खोजने—गवेषणा—वाला है और इस चुरायी हुई सपत्ति को फिर से पा लेनेवाला है।

कही-कही हम केवल इतना ही पाते हैं कि गौए चुरायी गयी और इन्द्र ने उन्हें फिर से पा लिया, सरमा, अगिरस या पणियो का कोई उल्लेख नहीं होता। पर सर्वदा यह इन्द्र भी नही होता जो कि गौओ को फिर से छुडाकर लाता है। उदाहरण के लिये, हमारे पास अग्निदेवता का एक सूक्त है, पचम मण्डल का दूसरा सूक्त, जो अत्रियो का है। इसमें गायक चुरायी हुई गौओ के अलकार को खुद

अपनी ओर लगाता है, ऐसी भापा मे जो इसके प्रतीकात्मक होने के रहस्य को स्पष्ट तौर से खोल देती है।

'अग्नि' को वहुत काल तक माता पृथ्वी भीचकर अपने गर्भ मे छिपाये रहती है, वह उसे उसके पिता द्यौ को नही देना चाहती, वहा वह तवतक छिपा पडा रहता है, जवतक कि वह माता सीमित रूप मे सकुचित रहती है (पेपी), अत में जव वह वडी और विस्तीर्ण (महिषी) हो जाती है तव उस अग्नि का जन्म होता है।[1] अग्नि के इस जन्म का सवध चमकती हुई गौओ के प्रकट होने या दर्शन होने के साथ दिखाया गया है। "मैने दूर पर एक खेत मे एक को देखा, जो अपने शस्त्रो को तैयार कर रहा था, जिसके दात सोने के थे, रग साफ चमकीला था, मैने उसे पृथक्-पृथक् हिस्सो मे अमृत (अमर रस, सोम) दिया, वे मेरा क्या कर लेगे जिनके पास इन्द्र नही है और जिनके पास स्तोत्र नही है ? मैने उसे खेत में देखा, जैसे कि यह एक निरन्तर विचरता हुआ, वहुरूप, चमकता हुआ सुखी गौओ का झुड हो, उन्होने उसे पकडा नहीं, क्योकि 'वह' पैदा हो गया था, वे (गौए) भी जो वूढी थी, फिर से जवान हो जाती है[2]।" परन्तु यदि इस समय ये दस्यु जिनके पास न इन्द्र है और न स्तोत्र है, इन चमकती हुई गौओ को पकडने में अशक्त है, तो इससे पहले वे सशक्त थे जव कि यह चमकीला और जवर्दस्त देवत्व उत्पन्न नही हुआ था। "वे कौन थे जिन्होने मेरे वल को (मर्यकम्, मेरे मनुष्यो के समुदाय को, मेरे वीरो को) गौओ से अलग किया ? क्योंकि उन (मेरे मनुष्यो) के पास कोई योद्धा और गौओ का रक्षक नही था। जिन्होने मुझसे उनको लिया है, वे उन्हे छोड दे, वह जानता है और पशुओ को

---

[1]कुमार माता युवति समुब्ध गुहा विभर्ति न ददाति पित्रे.. ५.२ १
कमेत त्व युवते कुमारं पेषी विभर्षि महिषी जजान। . ५.२.२

[2]हिरण्यदन्त शुचिवर्णमारात् क्षेत्रादपश्यमायुधा मिमानम्।
ददानो अस्मा अमृत विपृक्वत् किं मामनिन्द्रा कृणवन्ननुक्था ॥
क्षेत्रादपश्य सनुतश्चरन्तं सुमद्यूथ न पुरु शोभमानम्।
न ता अगृभ्रन्नजनिष्ट हि ष पलिक्नीरिद्युवतयो भवन्ति॥ ५ २.३,४

हमारे पास हांकता हुआ आ रहा है'।"

हम उचित रूप से प्रश्न कर सकते है कि ये चमकनेवाले पशु क्या हैं, ये गौए कौन हैं जो पहले बूढी थी और फिर से जवान हो जाती है? निश्चित ही वे भौतिक गौए नही है, न ही यह खेत कोई यमुना या जेहलम के पास का पार्थिव खेत है, जिसमें कि ऋषि को सोने के दातोवाले योद्धा देव का और चमकनेवाले पशुओं का भव्य दर्शन हुआ है। वे है या तो भौतिक उषा की या दिव्य उषा की गौए, पर इनमेंसे पहला अर्थ ले तो भाषा ठीक नही जचती है, सो यह रहस्यमय दर्शन निश्चित रूप से दिव्य प्रकाश का दर्शन है, जिसे कि यहा आलकारिक रूप से वर्णित किया गया है। वे (गौए) है ज्योतिया जिन्हे कि अन्धकार की शक्तियो ने चुरा लिया था और जो अब फिर से दिव्य रूप में प्राप्त कर ली गयी है, भौतिक अग्नि के देवता द्वारा नही, बल्कि जाज्वल्यमान शक्ति (अग्नि देव) के द्वारा जो कि पहले भौतिक सत्ता की क्षुद्रता मे छिपी पडी थी और अब उससे मुक्त होकर प्रकाशमय मानसिक क्रिया की निर्मलताओ में प्रकट होती है।

तो केवल इन्द्र ही ऐसा देवता नही है जो इस अन्धकारमयी गुफा को तोड़ सकता है और खोयी हुई ज्योतियो को फिर से ला सकता है। और भी कई देवता हैं जिनके साथ भिन्न-भिन्न सूक्तो में इस महान् विजय का सबध जोडा गया है। उषा उनमेंसे एक है, वह दिव्य उषा जो इन गौओ की माता है। "सच्चे देवो के साथ जो सच्ची है, महान् देवो के साथ महान् है, यज्ञिय देवो के साथ यज्ञिय देवत्ववाली है, वह दृढ़ स्थानो को तोडकर खोल देती है, वह चमकीली गौओ को दे देती है, गौए उषा के प्रति रंभाती है[२]"। अग्नि एक दूसरा है, कभी वह स्वयं अकेला युद्ध करता है, जैसे कि हम पहले देख चुके है, और कभी इन्द्र के साथ मिलकर जैसे—"हे इन्द्र, हे अग्नि, तुम दोनोने गौओ के लिये

---

[१] के मे मर्यक वि यवन्त गोभिर्न येषां गोपा अरणश्चिदास।
य ईं जगृभुरव ते सृजन्त्वाजाति पश्व उप नश्चिकित्वान्॥ ५ २ ५

[२] सत्या सत्येभिर्महती महद्भिर्देवी देवेभिर्यजता यजत्रैः।
रुजद् दृळ्हानि दददुस्रियाणां प्रति गाव उषस वावशन्त॥ ७ ७५ ७

युद्ध किया है (६-६०-२)[1] या फिर सोम के साथ मिलकर जैसे–'हे अग्नि और सोम ! वह तुम्हारी वीरता ज्ञात हो गयी थी, जब कि तुमने पणियो से गौओ को लूटा था। (१-९३-४)।'[2] सोम का सबध एक दूसरे सदर्भ में इस विजय के लिये इन्द्र के साथ जोडा गया है, 'इस देव (सोम) ने शक्ति से उत्पन्न हो-कर, अपने साथी इन्द्र के साथ `पणियो को ठहराया"[3] और दस्युओ के विरुद्ध लडते हुए देवो के सब वीरतापूर्ण कार्यों को किया (६-४४-२२, २३, २४)। ६-६२-११ मे अश्विनो को भी इस कार्यसिद्धि को करने का गौरव दिया गया है–'तुम दोनो गौओ से परिपूर्ण मजबूत बाडे के दरवाजो को खोल देते हो[4]।' और फिर १-११२-१८ में फिर कहा है, 'हे अगिर ! (युगल अश्विनो को कभी-कभी इस एकत्ववाची नाम मे सगृहीत कर दिया जाता है) तुम दोनो मन के द्वारा आनन्द लेते हो और तुम सब से पहले गौओ की धारा–गोअर्णस–के विवर में प्रवेश करते हो',[5] 'गोअर्णस' का अभिप्राय स्पष्ट है कि प्रकाश की उन्मुक्त हुई, उमडती हुई धारा या समुद्र।

बृहस्पति और भी अधिकतर इस विजय का महारथी है। "बृहस्पति ने, जो सर्वप्रथम परम व्योम में महान् ज्योति मे से पैदा हुआ, जो सात मुखोवाला है, बहुजात है, सात किरणोवाला है, अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर दिया, उस-ने स्तुभ् और ऋक् को धारण करनेवाले अपने गण के साथ, अपनी गर्जना द्वारा

---

[1]ता योधिष्टमभि गा ।

[2]अग्नीषोमा चेति तद्वीर्यं वा यदमुष्णीतमवस पणि गा ।

[3]अय देव सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तभायत्। ६.४४.२२

[4]दृळ्हस्य चिद् गोमतो वि व्रजस्य दुरो वर्तम्।

[5]याभिरङ्गिरो मनसा निरण्ययोऽग्र गच्छथो विवरे गो-अर्णसः।

[6]बृहस्पति प्रथम जायमानो महो ज्योतिष परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमासि॥
स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वल रुरोज फलिग रवेण।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूद. कनिक्रदद् वावशतीरुदाजत्॥

'वल' के टुकडे-टुकडे कर दिये। 'गर्जता हुआ वृहस्पति हव्य को प्रेरित करनेवाली चमकीली गौओ को ऊपर हाक ले गया और वे गौए प्रत्युत्तर मे रभायी (४-५०-४, ५)' और ६-७३-१ और ३ में फिर कहा है, 'वृहस्पति जो पहाडी (अद्रि) को तोडनेवाला है, सवसे पहले उत्पन्न हुआ है, आगिरस है उस वृहस्पति ने खजानो को (वसूनि) जीत लिया, इस देव ने गौओ से भरे हुए वडे-वडे वाडो को जीत लिया[1]।' मरुत् भी जो कि वृहस्पति की तरह ऋक् के गायक हैं, इस दिव्य क्रिया में सवध रखते है, यद्यपि अपेक्षाकृत कम साक्षात् रूप से। 'वह, जिसका हे मरुतो! तुम पालन करते हो, वाडे को तोडकर खोल देगा[2] (६-६६-८)'। और एक दूसरे स्थान पर मरुतो की गौए सुनने मे आती है (१-३८-२)[3]।

पूषा का भी, जो कि पुष्टि करनेवाला है, सूर्य देवता का एक रूप है, आवाहन किया गया है कि वह चुरायी हुई गौओ का पीछा करे और उन्हें फिर से ढूढकर लाये, (६ ५४)—'पूषा हमारी गौओ के पीछे-पीछे जाये, पूषा हमारे युद्ध के घोडो की रक्षा करे (५) हे पूषन्, तू गौओ के पीछे जा (६) जो खो गया था उसे फिर से हमारे पास हाककर ला दे (१०)[4]।' सरस्वती भी पणियो का वध करनेवाली के रूप मे आती है। और मधुच्छन्दस् के सूक्त (१-११५) मे हमे अद्भुत अलकार मिलता है, 'ओ वज्र के देवता, तूने गौओवाले वल की गुफा को खोल दिया, देवता निर्भय होकर शीघ्रता से गति करते हुए (या अपनी शक्ति को व्यक्त करते हुए) तेरे अदर प्रविष्ट हो गये[5]।'

---

[1]यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा वृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।.....
वृहस्पति समजयद् वसूनि महो व्रजान् गोमतो देव एष.। ६.७३.१,३

[2]मरुतो यमवय...स व्रज दर्ता। [3]क्व वो गावो न रण्यन्ति।

[4]पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः (५) ...पूषन्ननु प्र गा इहि (६) पुनर्नो नष्टमाजतु (१०)

[5]त्व वलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो विलम्।
त्वा देवा अविभ्युषस्तुज्यमानास आविषु ॥

क्या इन सब विभिन्न वर्णनो मे कुछ एक निश्चित अभिप्राय निहित है, जो इन्हे परस्पर इकट्ठा करके एक सगतिमय विचार के रूप में परिणत कर देगा, अथवा यह बिना किसी नियम के यू ही हो गया है कि ऋषि अपने खोये हुए पशुओ को ढूढने के लिये और युद्ध करके उन्हे फिर से पाने के लिये कभी इस देवता का आवाहन करने लगते है और कभी उस देवता का ? बजाय इसके कि हम वेद के अशो को पृथक्-पृथक् लेकर उनके विस्तार मे अपने-आपको भटकावे, यदि हम वेद के विचारो को एक सपूर्ण अवयवी के रूप में लेना स्वीकार करे तो हमें इसका बडा सीधा और सतोषप्रद उत्तर मिल जायगा। खोयी हुई गौओ का यह वर्णन परस्परसबद्ध प्रतीको और अलकारो के पूर्ण सस्थान का अगमात्र है। वे गौए यज्ञ के द्वारा फिर से प्राप्त होती है और आग का देवता अग्नि इस यज्ञ की ज्वाला है, शक्ति है और पुरोहित है,—मत्र (स्तोत्र) के द्वारा ये प्राप्त होती है और बृहस्पति इस मत्र का पिता है, मरुत् इसके गायक या ब्रह्मा है, (ब्रह्माणो मरुत), सरस्वती इसकी अन्त प्रेरणा है,—रस द्वारा ये प्राप्त होती है और सोम इस रस का देवता है, तथा अश्विन इस रस के खोजनेवाले, पा लेनेवाले, देनेवाले और पीनेवाले है। गौए है प्रकाश की गौए, और प्रकाश उषा द्वारा आता है, या सूर्य द्वारा आता है, जिस सूर्य का कि पूषा एक रूप है और अन्तिम यह कि इन्द्र इन सब देवताओ का मुखिया है, प्रकाश का स्वामी है, 'स्व' कहानेवाले ज्योतिर्मय लोक का अधिपति है,—हमारे कथनानुसार वह प्रकाशमय या दिव्य मन है, उसके अदर सब देवता प्रविष्ट होते है और छिपे हुए प्रकाश को खोल देने के उसके कार्य में हिस्सा लेते है।

इसलिये हम समझ सकते है कि इसमें पूर्ण औचित्य है कि एक ही विजय के साथ इन भिन्न-भिन्न देवताओ का सबध बताया गया है और मधुच्छन्दस् के आलकारिक वर्णन मे इन देवताओ के लिये यह कहा गया है कि ये 'वल' पर प्रहार करने के लिये इन्द्र के अदर प्रविष्ट हो जाते हैं। कोई भी बात बिना किसी निश्चित विचार के यू ही अटकलपच्चू से या विचारो की एक गडबड अस्थिरता के वशीभूत होकर नही कही गयी है। वेद अपने वर्णनो की सगति में और अपनी एकवाक्यता में पूर्ण तथा सुरम्य है।

इसके अतिरिक्त, यह जो प्रकाश को विजय करके लाना है वह वैदिक यज्ञ की महान् क्रिया का केवल एक अग है। देवताओ को इस यज्ञ के द्वारा उन सब वरो को (विश्वा वारा) जीतना होता है जो कि अमरता की विजय के लिये आवश्यक है और छिपे हुए प्रकाशों का आविर्भाव करना केवल इनमें से एक वर है। शक्ति, 'अश्व' भी वैसी ही आवश्यक है जैसा कि प्रकाश, 'गौ', केवल इतना ही आवश्यक नही है कि 'वल' के पास पहुचा जाय और उसके जबर्दस्त पजे से प्रकाश को जीता जाय, वृत्र का वध करना और जलो को मुक्त करना भी आवश्यक है; चमकती हुई गौओ के आविर्भाव का अभिप्राय है उषा का और सूर्य का उदय होना, यह फिर अधूरा रहता है, बिना यज्ञ, अग्नि और सोम-रस के। ये सब वस्तुए एक ही क्रिया के विभिन्न अग है, कही इनका वर्णन जुदा-जुदा हुआ है, कही वर्गों में, कहीं सब को इकट्ठा मिलाकर इस रूप में कि मानो यह एक ही क्रिया है, एक महान् पूर्ण विजय है। और उन्हे अधिगत कर लेने का परिणाम यह होता है कि बृहत् सत्य का आविर्भाव हो जाता है और 'स्व.' की प्राप्ति हो जाती है, जो कि ज्योतिर्मय लोक है और जिसे जगह-जगह 'विस्तृत दूसरा लोक', उरुम् उ लोकम् या केवल 'दूसरा लोक', उ लोकम् कहा है। पहले हमें इस एकता को अच्छी तरह हृदयगम कर लेना चाहिये यदि हम ऋग्वेद के विविध सदर्भों में आनेवाले इन प्रतीको का पृथक्-पृथक् परिचय समझना चाहते है।

इस प्रकार ६ ७३ में जिसका हम पहले भी उल्लेख कर चुके है, हम तीन मत्रो का एक छोटा सा सूक्त पाते है जिसमें ये प्रतीक-शब्द सक्षेप में अपनी एकता के साथ इकट्ठे रखे हुए है, इसके लिये यह भी कहा जा सकता है कि यह वेद के उन स्मारक सूक्तो में से एक है जो वेद के अभिप्राय की और इसके प्रतीकवाद की एकता को स्मरण कराते रहने का काम करते है।

"वह जो पहाडी को तोडनेवाला है, सबसे पहले उत्पन्न हुआ, सत्य से युक्त, बृहस्पति जो आगिरस है, हवि को देनेवाला है, दो लोको में व्याप्त होनेवाला, (सूर्य के) ताप और प्रकाश में रहनेवाला, हमारा पिता है, वह वृषभ की तरह दो लोको (द्यावापृथिवी) में जोर से गर्जता है (१)। बृहस्पति, जिसने कि

उसे जो नीद में पडा है, कर्म नही कर रहा है और देवो को नही ढूढ रहा है, अपनी ही चालो से मरने दे, उसके पश्चात् (हमारे अदर) निरन्तर ऐश्वर्य को रख जो अधिकाधिक पुष्ट होते जानेवाला हो, (८ ९७ २-३)* ।"

एक दूसरे मत्र में पणियो के लिये कहा गया है कि वे गौ और घोडो की सपत्ति को रोक रखते है, अवरुद्ध रखते है । हमेशा ये वे शक्तिया होती है जो अभीप्सित सपत्ति को पा तो लेती है, पर इसे काम में नही लाती, नीद में पडे रहना पसद करती है, दिव्य कर्म (व्रत) की उपेक्षा करती है और ये ऐसी शक्तिया है जिन्हे अवश्य नष्ट हो जाना या जीत लिया जाना चाहिये इससे पहले कि सपत्ति सुरक्षित रूप से यज्ञकर्त्ता के हाथ में आ सके और हमेशा ये 'गौ' और 'घोडे' उस सपत्ति को सूचित करते है जो छिपी पडी है और कारागार में वन्द है और जो किसी दिव्य पराक्रम के द्वारा खोले जाने तथा कारागार से छुडाये जाने की अपेक्षा रखती है।

चमकनेवाली गौओ की इस विजय के साथ उषा और सूर्य की विजय का या उनके जन्म होने का अथवा प्रकाशित होने का भी सवध जुडा हुआ है, पर यह एक ऐसा विषय चल पडता है जिसके अभिप्राय पर हमें एक दूसरे अध्याय में विचार करना होगा । और गौओं, उषा तथा सूर्य के साथ सवध जुडा हुआ है जलो का, क्योकि जलो के बधनमुक्त होने के साथ वृत्र का वध होना और गौओ के बधन-मुक्त होने के साथ 'वल' का पराजित होना ये दोनो परस्पर सहचरी गाथाए हैं। ऐसी बात नही कि ये दोनो कथानक बिलकुल एक दूसरेसे स्वतत्र हो और आपस-में इनका कोई सबध न हो । कुछ स्थलो में, जैसे १ ३२ ४ मे, हम यहातक देखते है कि वृत्र के वध को सूर्य, उषा और द्युलोक के जन्म का पूर्ववर्ती कहा गया है और इसी प्रकार कुछ अन्य सदर्भों में पहाडी के खुलने को जलो के प्रवाहित होने का पूर्ववर्ती समझा गया है । दोनो के सामान्य सबध के लिये हम निम्नलिखित

---

*यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम् ।
यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन् त धेहि मा पणौ ।
य इन्द्र सस्त्यव्रतोऽनुष्वापमदेवयु ।
स्वैः ष एवैर्मुमुरत् पोष्यं रयिं सनुतर्धेहि त तत ॥

सदर्भो पर ध्यान दे सकते हैं–

(७ ९० ४) 'पूर्ण रूप से जगमगाती हुई और अहिंसित उषाए खिल उठीं; ध्यान करते हुए उन्होने (अगिरसो ने) विस्तृत ज्योति को पाया, उन्होंने जो इच्छुक थे, गौओ के विस्तार को खोल दिया और उनके लिये द्युलोक से जल प्रस्रवित हुए।[१]'

(१ ७२ ८) 'यथार्थ विचार के द्वारा द्युलोक की सात (नदियो) ने सत्य को जान लिया और सुख के द्वारो को जान लिया, सरमा ने गौओ के दृढ़ विस्तार को ढूढ लिया और उसके द्वारा मानवी प्रजा सुख भोगती है।[२]'

(१ १०० १८) इन्द्र तथा मरुतो के विषय में, 'उसने अपने चमकते हुए सखाओ के साथ क्षेत्र को अधिगत किया, सूर्य को अधिगत किया, जलों को अधिगत किया।[३]'

(५ १४ ४) अग्नि के विषय में, 'अग्नि उत्पन्न होकर, दस्युओं का हनन करता हुआ, ज्योति से अन्धकार का हनन करता हुआ, चमकने लगा, उसने गौओं को, जलो को और स्व को पा लिया।[४]'

(६ ६० २) इन्द्र और अग्नि के विषय में, 'तुम दोनोने युद्ध किया। गौओ के लिये, जलो के लिये, स्व के लिये, उषाओ के लिये जो छिन गयी थीं, हे इन्द्र! हे अग्ने! तू (हमारे लिये) प्रदेशो को, स्व को, जगमगाती उषाओ को, जलों को और गौओ को एकत्र करता है।[५]'

---

[१]उच्छन्नुषस सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्याना.।
गव्य चिदूर्वमुशिजो वि वव्रुस्तेषामनु प्रदिव सस्रुराप.॥

[२]स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन्।
विदद् गव्य सरमा दृळ्हमूर्वं येना नु क मानुषी भोजते विट्॥

[३]सनत् क्षेत्रं सखिभि श्वित्न्येभि सनत् सूर्यं सनदप. सुवज्र।

[४]अग्निर्जातो अरोचत घ्नन् दस्यूञ्ज्योतिषा तम.। अविन्दद् गा अप: स्व.॥

[५]ता योधिष्टमभि गा इन्द्र नूनमप स्वरुषसो अग्न ऊळ्हा:।
दिश. स्वरुषस इन्द्र चित्रा अपो गा अग्ने युवसे नियुत्वान्॥

(१ ३२ १२) इन्द्र के विषय में, 'ओ वीर! तूने गौ को जीता, तूने सोम को जीता, तूने सात नदियो को अपने स्रोत में बहने के लिये ढीला छोड दिया।[१]'

अन्तिम उद्धरण मे हम देखते है कि इन्द्र की विजित वस्तुओ के बीच में सोम भी गौओ के साथ जुडा हुआ है। प्रायश सोम का मद ही वह शक्ति होती है जिसमें भरकर इन्द्र गौओ को जीतता है, उदाहरण के लिये देखो--३ ४३ ७, सोम 'जिसके मद मे तूने गौओ के वाडो को खोल दिया,[२]' २ १५ ८, 'उसने अगिरसो से स्तुत होकर, 'वल' को छिन्न-भिन्न कर दिया और पर्वत के दृढ स्थानो को उछाल फेंका, उसने इनकी कृत्रिम वाधाओ को अलग हटा दिया, ये सब काम इन्द्र ने सोम के मद में किये।[३]' फिर भी, कही-कही यह क्रिया उलट गयी है और प्रकाश सोम-रस के आनद को लानेवाला हो गया है, अथवा ये दोनो एक साथ आते हैं, जैसे १ ६२ ५ में "ओ कार्यो को पूर्ण करनेवाले! अगिरसो से स्तुति किये गये तूने उषा के साथ (या उषा के द्वारा), सूर्य के साथ (या सूर्य के द्वारा) और गौओ के साथ (या गौओ के द्वारा) सोम को खोल दिया[४]।"

अग्नि भी, सोम की तरह, यज्ञ का एक अनिवार्य अग है और इसलिये हम अग्नि को भी परस्पर सबध प्रदर्शित करनेवाले इन सूत्रो मे सम्मिलित हुआ पाते है, जैसे ७.९९ ४ में, 'सूर्य, उषा और अग्नि को प्रादुर्भूत करते हुए तुम दोने विस्तृत दूसरे लोक को यज्ञ के लिये (यज्ञ के उद्देश्य के रूप में) रचा[५]।' और इसी सूत्र को हम ३ ३१ १५[६] मे पाते है, फर्क इतना है कि वहा इसके साथ

---

[१]अजयो गा अजय. शूर सोममवासृज· सर्तवे सप्त सिन्धून्।

[२]यस्य मदे अप गोत्रा ववर्थ।

[३]भिनद् वलमङ्गिरोभिर्गृणानो वि पर्वतस्य दृंहितान्यैरत्।
रिणग्रोधांसि कृत्रिमाण्येषां सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ॥

[४]गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म विवरुषसा सूर्येण गोभिरन्ध ।

[५]उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकं जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम्।

[६]इन्द्रो नृभिरजनद् दीद्यानः साकं सूर्यमुषसं गातुमग्निम्

'मार्ग' (गातु) और जुड गया है, और यही सूत्र ७ ४४ ३* में भी है, पर वहाँ इनके अतिरिक्त 'गौ' का नाम अधिक है।

इन उद्धरणो से यह प्रकट हो जायगा कि वेद के भिन्न-भिन्न प्रतीक और रूपक कैसी घनिष्ठता के साथ आपस में जुडे हुए है। और इसलिये हम वेद की व्याख्या के सच्चे रास्ते मे चूक जायगे यदि हम अगिरसो तथा पणियों के कथानक को इस रूप में लेगे कि यह एक औरो से अलग ही स्वतत्र कथानक है, जिसकी हम अपनी मर्जी से जैसी चाहे व्याख्या कर सकते है, विना ही इस वात की विशेष सावधानी रखे कि हमारी व्याख्या वेद के सामान्य विचार के साथ अनुकूल भी वैठती है, और विना ही उस प्रकाश का ध्यान रखे जो कि प्रकाश वेद के इस सामान्य विचार द्वारा कथानक की उस आलकारिक भाषा पर जिसमें कि यह वर्णित किया गया है पडता है।

---

*अग्निमुप ब्रुव उषस सूर्यं गाम्।

सोलहवां अध्याय

खोया हुआ सूर्य और खोयी हुई गौएं

सूर्य और उषा का विजय कर लेना या इनका फिर से प्रकट होना इस विषय का वर्णन ऋग्वेद के सूक्तो में बहुत पाया जाता है। कही तो यह इस रूप मे मिलता है कि 'सूर्य' को ढूढकर प्राप्त कर लिया गया और कही 'स्व' अर्थात् सूर्य के लोक को प्राप्त किया गया या इसे विजय किया गया, ऐसा वर्णन है। सायण ने यद्यपि 'स्व.' को 'सूर्य' का पर्याय मान लिया है, फिर भी कई स्थलो से यह बिलकुल स्पष्ट है कि 'स्व.' एक लोक का नाम है, उस उच्च लोक का जो कि सामान्य पृथ्वी और आकाश से ऊपर है। कही-कही अवश्य इस 'स्व' का प्रयोग 'सौर ज्योति' के लिये हुआ है, जो कि सूर्य की और इसके प्रकाश से निर्मित लोक की दोनोकी ज्योति के लिये है। हम देख चुके है कि वह जल जो कि स्वर्ग से नीचे उतरता है और जो इन्द्र और उसके मर्त्य साथियो द्वारा जीता जाकर उपभोग किया जाता है 'स्वर्वती आप' के रूप में वर्णित किया गया है। सायण इस 'आप' को भौतिक जल मानकर 'स्वर्वती' का कोई दूसरा अर्थ निकालने के लिये बाध्य था और इसलिये वह लिखता है कि इसका अर्थ है, 'सरणवती' अर्थात् बहनेवाले। परतु यह स्पष्ट ही एक खीचातानी का अर्थ है, जो कि मूल शब्द से निकलता हुआ प्रतीत नही होता और जो शायद किया भी नही जा सकता। इन्द्र के वज्र को स्वर्लोक का पत्थर, स्वर्यं अश्मा, कहा गया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इसका प्रकाश वही है जो सौर ज्योति से जगमगाते इस लोक से आता है। इन्द्र स्वय 'स्वर्पति' अर्थात् इस ज्योतिर्मय लोक 'स्व' का अधिपति है।

इसके अतिरिक्त, जैसे हम देखते है कि गौओ को खोजना और फिर से प्राप्त कर लेना यह सामान्यतया इन्द्र का कार्य वर्णन किया जाता है और वह बहुधा अंगिरस ऋषियो की सहायता से तथा अग्नि और सोम के मत्र व यज्ञ के द्वारा होता

ही सूर्य के खोजने और फिर से पा लेने का सवध भी इन्ही सावनो और
› साथ है। साथ ही इन दोनो क्रियाओ का एक दूसरेके साथ निरन्तर
ʼ। मुझे लगता है कि स्वय वेद मे ही इस वात की पर्याप्त साक्षी है कि
र्णन असल में एक ही महान् क्रिया के अगभूत है। गौए उषा या
, छिपी हुई किरणें है और अवकार से उनकी मुक्ति उस सूर्य के जो कि अव-
छिपा हुआ था उदय हो जाने का कारण होती है या चिह्न है। यही
योतिर्मय लोक 'स्व' की विजय है, जो कि हमेशा यज्ञ की, यज्ञिय अवस्था-
र यज्ञ के सहायक देवो की सहायता से होती है। मै समझता हू, इतने
परिणाम नि सदेह स्वय वेद की भाषा से निकलते है। परतु साथ ही वेद की
उस भाषा से इस वात का भी सकेत मिलता है कि यह 'सूर्य' दिव्य-ज्योति को देने-
वाली शक्ति का प्रतीक है और 'स्व' दिव्य सत्य का लोक है और इस दिव्य सत्य
की विजय ही वैदिक ऋषियो का वास्तविक लक्ष्य और उनके सूक्तो का
मुख्य विषय है। अव मैं यथासभव शीघ्रता के साथ उस साक्षी की परीक्षा करूगा
जिससे हम इन परिणामो पर पहुचते है।

सवसे पहले, हम देखते है कि वैदिक ऋषियो के विचार में 'स्व' और 'सूर्य' भिन्न-भिन्न वस्तुए हैं, पर साथ ही इन दोनोमें एक घनिष्ठ सवव भी है। उदाहरण के लिये भरद्वाज के सूक्त (६ ७२ १) में सोम और इन्द्र को कहा गया है—"तुमने सूर्य को प्राप्त किया, तुमने स्व को प्राप्त किया, तुमने सव अध-कार और सीमाओ को छिन्न-भिन्न कर दिया।"[1] इमी प्रकार वामदेव के सूक्त[2] ४ १६ ४ मे इन्द्र को कहा है—"जव प्रकाश के सूक्तो द्वारा (अर्कै) स्व सुदृश्य रूप में पा लिया गया और जव उन (अगिराओ ने) रात्रि मे से महान् ज्योति को चमकाया उस समय उस (इन्द्र) ने अवकार के सव ववनो को ढीला कर दिया

---

[1]युव सूर्यं विविदयुर्युव स्वर्विश्वा तमास्यहत निदश्च। (ऋग् ६.७२.१)

[2]स्वर्यद्वेदि सुदृशीकमर्कैर्महि ज्योती रुरुचुर्यद्ध वस्तो।
अन्धा तमासि दुधिता विचक्षे नृभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ॥
(ऋक् ४.१६.४)

जिससे कि मनुष्य अच्छी तरह देख सकें।" पहले वर्णन में हम यह देखते है कि 'स्व' और 'सूर्य' परस्पर भिन्न है न कि 'स्व' सूर्य का ही एक दूसरा नाम है। पर साथ ही 'स्व' का पाया जाना और 'सूर्य' का पाया जाना दोनो क्रियाओ मे वहुत निकट सबध है, वल्कि असल में ये दोनो मिलकर एक ही प्रक्रिया है और इनका परिणाम यह है कि सव अधकार और सीमाए नष्ट हो जाती है। वैसे ही, दूसरे स्थल में 'स्व' के सुदृश्य रूप में प्रकट होने को रात्रि में से महान् ज्योति के चमक निकलने के साथ जोडा गया है, जिसे हम अन्य स्थलो के इस वर्णन के साथ मिला सकते है कि अगिरसो ने अधकार से ढके हुए सूर्य को फिर से प्रकट किया। सूर्य को अगिरसो ने अपनी सूक्तो या सत्य मत्रो की शक्ति द्वारा प्राप्त किया और 'स्व' भी अगिरसो के सूक्तो के द्वारा (अर्कै) प्राप्त और प्रकट (सुदृश्य) किया गया। इसलिये यह स्पष्ट है कि 'स्व' मे रहनेवाला पदार्थ एक महान् ज्योति है और वह ज्योति सूर्य की ज्योति है।

यदि दूसरे वर्णनो से यह स्पष्ट न होता कि 'स्व' एक लोक का नाम है तो शायद हम यह भी कल्पना कर सकते थे कि यह 'स्व' शब्द सूर्य, प्रकाश या आकाश का ही वाचक एक दूसरा शब्द होगा। पर वार-वार 'स्व' के विषय में कहा गया है कि यह एक लोक है जो कि रोदसी अर्थात् द्यावापृथिवी से परे है या दूसरे शब्दो में इसे विस्तृत लोक 'उरु लोक' या विस्तृत दूसरा लोक 'उरु उ लोक' या केवल वह (दूसरा) लोक 'उ लोक' कहा है। इसका वर्णन यो किया गया है कि यह महान् ज्योति का लोक है, जहा भय से नितान्त मुक्ति है और जहा गौए अर्थात् सूर्य की किरणे स्वच्छन्द होकर क्रीडा करती है।

ऋग्* ६-४७-८ में कहा है—"हे इन्द्र! जानता हुआ तू हमे उस उरु लोक को, 'स्व' तक को प्राप्त कराता है, जो ज्योतिर्मय है, जहा भय नही है और जो सुखी जीवन (स्वस्ति) से युक्त है।" ऋग् ३-२-७ मे वैश्वानर अग्नि को द्यावापृथिवी और महान् 'स्व' में आपूरित होता हुआ वर्णन किया गया है—"आ रोदसी अपृणदा स्वर्महत्"। इसी प्रकार वसिष्ठ अपने सूक्त मे विष्णु

---

*उरुं नो लोकमनुनेषि विद्वान्त्स्वर्वज्ज्योतिरभयं स्वस्ति।

को कहता है—"ओ विष्णु! तुमने दृढता से इस द्यावापृथिवी को थामा हुआ है और (सूर्य की) किरणो द्वारा पृथिवी को धारण किया हुआ है और सूर्य, उषा और अग्नि को प्रादुर्भूत करते हुए तुम दोने, यज्ञ के लिये (अर्थात् यज्ञ के परिणामस्वरूप) इस दूसरे विस्तृत लोक (उरुम् उ लोकम्) को रचा है"[1] ऋग् ७-९९-३, ४। यहा भी हम सूर्य और उषा की उत्पत्ति या आविर्भाव के साथ विस्तृत लोक स्व का निकट मम्बन्ध देखते है।

इस 'स्व' के विषय में कहा है कि यह यज्ञ के द्वारा मिलता है, यहीं हमारी जीवनयात्रा का अन्त है, यह वह बृहत् निवासस्थान है जहा हम पहुचते है, वह महान् लोक है जिसे सुकर्मा लोग प्राप्त करते है (सुकृतामु लोकम्)। अग्नि द्यु और पृथिवी के बीच में दूत होकर विचरता है और इस बृहत् निवासस्थान 'स्व' को अपनी सत्ता द्वारा चारो ओर से घेरता है, "क्षय बृहन्त परि भूपति ३-३-२"। यह 'स्व' आनन्द का लोक है और उन सब ऐश्वर्यों से भरपूर है जिनकी वैदिक ऋषियो को अभीप्सा होती है। ऋग्[2] ५-४-११ में कहा है—

"हे जातवेद अग्नि! जिस पुरुष के लिये, उसके सुकर्मा होने के कारण, तू उस सुखमय लोक को प्रदान करता है वह पुरुष अश्व, पुत्र, वीर, गौ आदि से युक्त ऐश्वर्य को और स्वस्ति को प्राप्त करता है।"

यह आनन्द मिलता है, ज्योति के उदय होने से। अगिरस इसे इच्छुक मनुष्यजाति के लिये तब ला पाते है जब वे सूर्य, उषा और दिन को प्रकट कर लेते है। "स्व को प्राप्त करनेवाले इद्र ने दिनो को प्रकट करके इच्छुकों[3] (अगिरसो) के द्वारा—उशिग्भि—विरोधी मेनाओ को जीता है, उसने मनुष्य

---

[1] "व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखै"।
"उरु यज्ञाय चक्रथुरु लोक जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम्"॥ (ऋ० ७।९९।३,४)

[2] यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उ लोकमग्ने कृणव स्योनम्।
अश्विन स पुत्रिण वीरवन्त गोमन्त रयि नशते स्वस्ति॥(५।४।११)

[3] "उशिग्भि' शब्द 'नृ' की तरह मनुष्य और देवता के लिये प्रयुक्त होता है, परन्तु 'नृ' के समान ही कभी-कभी विशेषकर 'अगिराओ' का ही निर्देश करता है।

जसमे कि मनुष्य अच्छी तरह देख सकें।" पहले वर्णन में हम यह देखते हैं कि स्व' और 'सूर्य' परस्पर भिन्न है न कि 'स्व' सूर्य का ही एक दूसरा नाम है। पर ाथ ही 'स्व' का पाया जाना और 'सूर्य' का पाया जाना दोनो क्रियाओ में बहुत नकट सबध है, बल्कि असल में ये दोनो मिलकर एक ही प्रक्रिया है और इनका रिणाम यह है कि सब अधकार और सीमाए नष्ट हो जाती है। वैसे ही, दूसरे थल मे 'स्व' के सुदृश्य रूप में प्रकट होने को रात्रि में से महान् ज्योति के ामक निकलने के साथ जोडा गया है, जिसे हम अन्य स्थलो के इस वर्णन के साथ मला सकते है कि अगिरसो ने अधकार से ढके हुए सूर्य को फिर से प्रकट किया। र्य को अगिरसो ने अपनी सूक्तो या सत्य मन्त्रो की शक्ति द्वारा प्राप्त किया और स्व' भी अगिरसो के सूक्तो के द्वारा (अर्के) प्राप्त और प्रकट (सुदृश्य) कया गया। इसलिये यह स्पष्ट है कि 'स्व' में रहनेवाला पदार्थ एक महान् योति है और वह ज्योति सूर्य की ज्योति है।

यदि दूसरे वर्णनो से यह स्पष्ट न होता कि 'स्व' एक लोक का नाम है ो शायद हम यह भी कल्पना कर सकते थे कि यह 'स्व' शब्द सूर्य, प्रकाश या ाकाश का ही वाचक एक दूसरा शब्द होगा। पर बार-बार 'स्व' के विषय कहा गया है कि यह एक लोक है जो कि रोदसी अर्थात् द्यावापृथिवी से परे है या सरे शब्दो में इसे विस्तृत लोक 'उरु लोक' या विस्तृत दूसरा लोक 'उरु उ लोक' ा केवल वह (दूसरा) लोक 'उ लोक' कहा है। इसका वर्णन यो किया गया कि यह महान् ज्योति का लोक है, जहा भय से नितान्त मुक्ति है और जहा ाए अर्थात् सूर्य की किरणे स्वच्छन्द होकर क्रीडा करती है।

ऋग्* ६-४७-८ में कहा है—"हे इन्द्र! जानता हुआ तू हमे उस उरु लोक ो, 'स्व' तक को प्राप्त कराता है, जो ज्योतिर्मय है, जहा भय नही है और जो ुखी जीवन (स्वस्ति) से युक्त है।" ऋग् ३-२-७ में वैश्वानर अग्नि को ावापृथिवी और महान् 'स्व' मे आपूरित होता हुआ वर्णन किया गया है— आ रोदसी अपृणदा स्वर्महत्"। इसी प्रकार वसिष्ठ अपने सूक्त में विष्णु

*उरु नो लोकमनुनेषि विद्वान्त्स्वर्वज्ज्योतिरभय स्वस्ति।

को कहता है—"ओ विष्णु ! तुमने दृढ़ता से इस द्यावापृथिवी को थामा हुआ है और (सूर्य की) किरणों द्वारा पृथिवी को धारण किया हुआ है और सूर्य, उषा और अग्नि को प्रादुर्भूत करते हुए तुम दोनों, यज्ञ के लिये (अर्थात् यज्ञ के परिणामस्वरूप) इस दूसरे विस्तृत लोक (उरुम् उ लोकम्) को रचा है"[1] ऋग् ७-९९-३, ४। यहां भी हम सूर्य और उषा की उत्पत्ति या आविर्भाव के साथ विस्तृत लोक स्व का निकट सम्बन्ध देखते हैं।

इस 'स्व' के विषय में कहा है कि यह यज्ञ के द्वारा मिलता है, यही हमारी जीवनयात्रा का अन्त है, यह वह बृहत् निवासस्थान है जहां हम पहुंचते हैं, वह महान् लोक है जिसे सुकर्मा लोग प्राप्त करते हैं (सुकृतामु लोकम्)। अग्नि द्यु और पृथिवी के बीच में दूत होकर विचरता है और इस बृहत् निवासस्थान 'स्व' को अपनी सत्ता द्वारा चारों ओर से घेरता है, "क्षय बृहन्तं परि भूषति ३-३-२"। यह 'स्व' आनन्द का लोक है और उन सब ऐश्वर्यों से भरपूर है जिनकी वैदिक ऋषियों को अभीप्सा होती है। ऋग्[2] ५-४-११ में कहा है—

"हे जातवेद अग्नि ! जिस पुरुष के लिये, उसके सुकर्मा होने के कारण, तू उस सुखमय लोक को प्रदान करता है वह पुरुष अश्व, पुत्र, वीर, गौ आदि से युक्त ऐश्वर्य को और स्वस्ति को प्राप्त करता है।"

यह आनन्द मिलता है, ज्योति के उदय होने से। अंगिरस इसे इच्छुक मनुष्यजाति के लिये तब ला पाते हैं जब वे सूर्य, उषा और दिन को प्रकट कर लेते हैं। "स्व को प्राप्त करनेवाले इन्द्र ने दिनों को प्रकट करके इच्छुकों[3] (अंगिरसों) के द्वारा—उशिग्भि—विरोधी सेनाओं को जीता है, उसने मनुष्य

---

[1]"व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः"।
"उरु यज्ञाय चक्रथुरु लोकं जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम्"॥ (ऋ० ७।९९।३,४)

[2]यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उ लोकमग्ने कृणवः स्योनम्।
अश्विनं स पुत्रिणं वीरवन्तं गोमन्तं रयिं नशते स्वस्ति॥ (५।४।११)

[3]'उशिग्भि' शब्द 'नृ' की तरह मनुष्य और देवता के लिये प्रयुक्त होता है, परन्तु 'नृ' के समान ही कभी-कभी विशेषकर 'अंगिराओं' का ही निर्देश करता है।

के लिये दिनो के प्रकाश को (केतुम् अह्नाम्) उद्भासित किया है और बृहत् सुख के लिये ज्योति को अधिगत किया है"—अविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय ३-३४-४[1]।

यदि इन और इसी प्रकार के अन्य केवल खण्डश उद्धृत वैदिक वाक्यो को देखा जाय, तो अबतक हमने जो कुछ कहा है इस सबकी व्याख्या बेशक इस प्रकार भी की जा सकती है कि, रैड इण्डियन लोगो की एक धारणा के सदृश, आकाश और पृथ्वी से परे सूर्य की किरणो से रचा हुआ एक भौतिक लोक है, यह एक विस्तृत लोक है, वहा मनुष्य सब भय और बाधाओ से स्वतन्त्र होकर अपनी इच्छाओ को तृप्त करते है और उन्हे असख्य घोडे, गौ, पुत्र, सेवक आदि मिलते है। परन्तु जो कुछ हम सिद्ध करना चाहते है वह यह नही है। बल्कि इसके विपरीत, यह विस्तृत लोक 'बृहद् द्यौ' या 'स्व' जिसे हमने द्यु और पृथ्वी से परे पहुचकर पाना है,[2] यह अतिस्वर्गिक महान् विस्तार, यह असीम प्रकाश एक अति-मानस उच्चलोक है, मनोतीत दिव्य 'सत्य' और अमर आनन्द का अत्युच्च लोक है और इसमें रहनेवाली ज्योति, जो इसकी सारवस्तु और इसकी तात्त्विक वास्तविकता है, 'सत्य' की ज्योति है।

परन्तु इस समय तो इतने पर ही बल देना पर्याप्त है कि यह एक लोक है जो किसी अन्धकार के कारण हमारी दृष्टि से ओझल हुआ-हुआ है, इसे हमने पाना है तथा स्पष्ट रूप से देखना है और यह देखना व पाना इस बात पर आश्रित है कि उषा का जन्म हो, सूर्य का उदय हो और सूर्य की गौए अपनी गुप्त गुहा से निकलकर बाहर आवे। वे आत्माए जो यज्ञ मे सफल होती है 'स्वर्दृश्' हो जाती हैं, 'स्व' को देख लेती है और 'स्वर्विद्' हो जाती हैं अर्थात् 'स्व' को पा

---

[1] इन्द्र स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भि पृतना अभिष्टि।
प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय। (३।३४।४)

[2] क्योकि ऐसा परे पहुचने का वर्णन अनेक बार हुआ है। उदाहरण के लिये, "मनुष्यो ने वृत्र का हनन करके आकाश और पृथ्वी दोनोको पार करके अपने निवास के लिये बृहत् लोक को बनाया।" घ्नन्तो वृत्रमतरन् रोदसी अप उरु क्षयाय चक्रिरे। (ऋ० १-३६-८)

या जान लेती है। 'स्वर्विद्' में 'विद्' धातु है जिसके पाना और जानना
ो अर्थ है और एक दो स्थलो में तो इसके स्थान पर स्पष्ट ज्ञानार्थक 'ज्ञा'
ा ही प्रयोग हुआ है और वेद में ही यह भी कहा है कि अन्धकार में से
को जाना गया।

ब 'स्व' या इस वृहत् लोक का स्वरूप क्या है, यह प्रश्न है जो शेष रहता
र इसका निर्णय वेद की व्याख्या के लिये वहुत ही महत्त्व का है। क्योकि
ागलियो के गीत है' और 'वेद प्राचीन सत्य ज्ञान की पुस्तक है' इन दोनों
वेभिन्न कल्पनाओ मे से किसी एकका ठीक होना इस निर्णय पर इधर या
उधर हो सकता है। परन्तु इस प्रश्न का पूरा पूरा निर्णय तो इस वृहत् लोक
का वर्णन करनेवाले सैकडो वल्कि अधिक प्रकरणो के विवाद मे पडे विना नही
हो सकता है और यह इन अध्यायो के क्षेत्र से विल्कुल वाहर का विषय हो जाता
है। पर फिर भी आगिरस सूक्तो पर विचार करते हुए और उसके वाद हम
इस प्रश्न को फिर उठायगे।

तो यह सिद्ध हुआ कि 'स्व' को देखने या प्राप्त करने के लिये सूर्य और उषा
के जन्म को एक आवश्यक शर्त मानना चाहिये और इससे यह भी स्पष्ट हो जाता
है कि वेदो में इस सूर्य की कथा को या आलकारिक वर्णन को तथा 'सत्य मत्रो' के
द्वारा अधकार मे से ज्योति को चमकाने, पाने और जन्म देने के विचार को क्यों
इतना महत्त्व दिया गया है? इसको करनेवाले इन्द्र और अगिरस है और ऐसे
स्थल वहुत से है जिनमें इसका वर्णन हुआ है। यह कहा गया है कि इन्द्र
और अगिराओ ने 'स्व' या 'सूर्य' को पाया (अविदत्), इसे चमकाया या प्रका-
शित किया (अरोचयत्), इसे जन्म दिया* (अजनयत्) और इसे विजय करके
अधिगत किया (सनत्)। वास्तव मे अधिकतर अकेले इन्द्र का ही वर्णन आता
है। इन्द्र वह है जो रात्रि में से प्रकाश का उदय करता है और सूर्य को जन्म
देता है—"क्षपा वस्ता जनिता सूर्यस्य ३।४९।४।" उसने सूर्य और उषा को उत्पन्न

*हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि यज्ञ में देवताओ के प्रकट होने को वेद में
उनके जन्म के रूप में वर्णन किया गया है।

किया है[1] (२।१२।७)। या और विस्तृत रूप में कहे, तो उसने सूर्य, द्यौ और उषा तीनो को इकट्ठा जन्म दिया है[2] (६। ३०।५)। स्वय चमकता हुआ वह उषा को चमकाता है, स्वय चमकता हुआ वह सूर्य को प्रकाशमय करता है–"हर्यन्नुषसमर्चय सूर्यं हर्यन्नरोचय ३।४४।२"। ये सव उस इन्द्र के महान् कर्म हैं, 'जजान सूर्यं उषस सुदसा' (३।३२।८)[3]। वह सुवज्र इन्द्र अपने शुभ्रवर्ण (चमकते हुए) सखाओ के क्षेत्र[4] को जीतकर अपने अधिकार में कर लेता है, सूर्य को अधिकृत करता और जलो को अधिकृत करता है–**'सनत् क्षेत्र सखिभि श्वित्न्येभि· सनत् सूर्यं सनदप· सुवज्र** १।१००।१८'। वह इन्द्र दिनों को जन्म देने द्वारा 'स्व' को भी जीतनेवाला है, जैसा कि हम पहले देख चुके है (स्वर्षा)। इन सव पृथक्-पृथक् वेद के वाक्यो में सूर्य के जन्म का हम यह भी अर्थ ले सकते हैं कि यह सूर्य की प्रारभिक उत्पत्ति का वर्णन है, जो सूर्य पहले नही था उसे देवताओ ने रचा, परतु जव हम इन वाक्यो का दूसरे वाक्यो के साथ समन्वय करके देखेंगे तो हमारा यह भ्रम दूर हो जायगा। सूर्य का यह जन्म उषा के साथ उसका जन्म है, उदय है, रात्रि में से उसका जन्म है। यह जन्म यज्ञ के द्वारा होता है–"इन्द्रै सुयज्ञ उषस स्वर्जनत् (२।२१।४)। इन्द्र ने अच्छी प्रकार यज्ञ करके उषाओ और सूर्य को उत्पन्न किया।" और मनुष्य की सहायता से यह सपन्न होता है–"अस्माकेभिर्नृभि सूर्यं सनत्"–हमारे 'मनुष्यो' के द्वारा उसने सूर्य को जीता (१।१००।६)। और वहुत से मत्रो में इसे अगिरसो के कार्य का फल वर्णन किया गया है और इसका सबध गौओ के मुक्त होने और पहाडियो के तोडे जाने के साथ है।

यह सब अवस्था है जो कि हमे ऐसी कल्पना नही करने दे सकती–जो कि

---

[1] य सूर्यं य उषस जजान। (ऋ०२।१२।७)

[2] साक सूर्यं जनयन् द्यामुषासम्।

[3] इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि व्रतानि देवा न मिनन्ति विश्वे।
दाधार य· पृथिवीं द्यामुतेमा जजान सूर्यमुषस सुदंसा. ॥(ऋ० ३।३२।८)

[4] क्या यह वही क्षेत्र नही है जिसमें अत्रि ने चमकती हुई गौओ को देखा था ?

अन्यथा की जा सकती थी—कि सूर्य का जन्म या प्राप्ति केवल उस आकाश (इन्द्र) का वर्णन है जिसमें प्रतिदिन उष काल मे सूर्य का उदय होता है। जब इन्द्र के बारे में यह कहा जाता है कि वह घने अधकार मे भी ज्योति को पा लेता है (सो अघे चित्तमसि ज्योतिर्विदत्) तो यह स्पष्ट है कि यह उसी ज्योति की ओर सकेत है जिस एक ज्योति को अग्नि और सोम ने बहुतो के लिये पाया था—("अविन्दत ज्योतिरेकं बहुभ्य" १ ९३ ४)—जब कि उन्होने पणियो की गौओ को चुराया था।[1] यह "वह जागृत ज्योति है जिसे सत्य की वृद्धि करनेवालो ने उत्पन्न किया था, एक देव को देव (इन्द्र) के लिये उत्पन्न किया"(८ ८९ १)।[2] यह वह गुप्त ज्योति (गुह्य ज्योति) है जिसे पितरो ने, अगिरसो ने उस समय पाया था जब कि उन्होने अपने सत्य मत्रो के द्वारा उषा को जन्म दिया था। यह वही ज्योति है जिसका वर्णन मनु वैवस्वत या कश्यप ऋषि के 'विश्वेदेवा' देवताक रहस्यमय सूक्त में है, जिसमे कहा गया है—"उनमेंसे कुछने ऋक् का गायन करते हुए महत् साम को सोच निकाला और उससे उन्होने सूर्य को चमकाया ८ २९ १०"[3]। और यह ज्योति मनुष्य की सृष्टि से पहले हुई हो ऐसा नही है, क्योकि ऋ०[4] ७ ९१ १ में कहा है—"हमारे नमस्कार से वृद्धि को पानेवाले प्राचीन और निष्पाप देवो ने (अधकार की शक्तियो मे) आच्छादित मनुष्य के लिये सूर्य से उषा को चमकाया।" यह उस सूर्य की प्राप्ति है जो अधकार के अदर रह रहा था और यह प्राप्ति अगिराओ ने अपने दस महीनो के यज्ञ के द्वारा की। वेद की इस कहानी या अलकार-वर्णना का प्रारभ कहीसे भी क्यो न हुआ हो, यह बहुत प्राचीन है और बहुत जग

---

[1]अग्नीषोमा चेति तद्वीर्यं वा यदमुष्णीतमवस पणि गा।
अवातिरत बृसयस्य शेषोऽविन्दत ज्योतिरेक बहुभ्य ॥१.९३.४

[2]येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देव देवाय जागृवि। ऋ० ८ ८९ १

[3]अर्चन्त एके महि साम मन्वत तेन सूर्यमरोचयन्। ८.२९.१०

[4]कुविदङ्ग नमसा ये वृधास पुरा देवा अनवद्यास आसन्।
ते वायवे मनवे बाधितायावासयन्नुषस सूर्येण ॥ ऋ०७.९१ १

फैली हुई है और इसमें यह कल्पना की गयी है कि सूर्य एक लबे काल तक लुप्त (खोया हुआ) रहा और इस बीच में मनुष्य अधकार से आच्छादित रहा। यह कहानी भारतवर्ष के आर्यलोगो में ही नही, किंतु अमेरिका के उन 'मय' लोगो में भी पायी जाती है जिनकी सभ्यता अपेक्षया जगली और सभवत इजिप्शियन सस्कृति का पुराना रूप थी। वहा भी यही किस्सा है कि सूर्य कई महीनो तक अधेरे में छिपा रहा और बुद्धिमान् लोगो (अगिरस ऋषियो ?) की प्रार्थनाओ और पवित्र गीतो से वह फिर प्रकट हुआ। वेद के अनुसार ज्योति का यह पुनरुदय पहिले-पहल आगिरस नामक सप्तर्षियो से हुआ है, जो कि मनुष्यो के पूर्व पितर है और फिर इसे उनसे लेकर निरतर मनुष्य के अनुभव में दोहराया गया है।

इस विश्लेषण द्वारा हमें यह मालूम हो जायगा कि वेद में जो ये दो कहानिया आती हैं—पहिली यह कि सूर्य लुप्त था और यज्ञ द्वारा तथा मत्र द्वारा इन्द्र और आगिरसो ने उसे पुन प्राप्त किया और दूसरी यह कि गौए लुप्त थी और उन्हे भी मत्र द्वारा इन्द्र और आगिरसो ने ही पुन प्राप्त किया—वे दो अलग-अलग गाथाए नही, किंतु वे वास्तव में एक ही गाथा है। इस एकात्मता पर हम पहले ही बल दे चुके है, जब कि हमने गौओ और उषा के परस्पर सबध के विषय में विवाद चलाया था। गौए उषा की किरणें है, सूर्य की 'गौए' हैं, वे भौतिक शरीरधारी पशु नही है। लुप्त गौए सूर्य की लुप्त हुई-हुई किरणें है और उनका फिर से उदय होना लुप्त सूर्य के पुनरुदय की पहले से सूचना देता है। परतु अब यह आवश्यक है कि स्वय वेद की ही स्पष्ट स्थापनाओ के आधार पर इस एकात्मता को सिद्ध करके उन सब सदेहो को दूर कर दिया जाय जो यहा उठ सकते हैं।

वस्तुत वेद हमें स्पष्ट रूप से कहता है कि गौए ज्योति है और वह बाडा (व्रज) जिसमें वे छिपी हुई है अधकार है। ऋ० १ ९२ ४ में जिसे हम पहले भी उद्धृत कर चुके हैं, यह दिखा ही दिया गया है कि गौ और उनके बाडे का वर्णन विशुद्ध रूप से एक रूपक ही है—"उषा ने गौ के बाडे की तरह अधकार को खोल दिया"।*

*ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः॥

गौओ की पुन प्राप्ति की कहानी के साथ ज्योति के पुनरुदय का सबंध भी सतत पाया जाता है, जैसे कि ऋ० १ ९३ ४ मे कहा है–"तुम दोनोने पणियो के यहासे गौओ को चुराया तुमने बहुतो के लिये एक ज्योति को पाया।" अथवा जैसे कि ऋ०२ २४ ३[1] में वर्णन है –'देवो में सबसे श्रेष्ठ देव का यह कार्य है, उसने दृढ स्थानो को ढीला कर दिया, कठोर स्थानो को मृदु कर दिया। वह बृहस्पति गौओ (किरणो) को हाक लाया; उसने मंत्रो के द्वारा (ब्रह्मणा) बल का भेदन किया, उसने अंधकार को अदृश्य कर दिया और 'स्व' को प्रकाशित किया।" और ऋ० ५ ३१ ३[2] में हम देखते है कि–"उस (इन्द्र) ने दोग्ध्री गौओ को आवरण कर लेनेवाले बाडे के अंदर प्रेरित किया, उसने ज्योति के द्वारा अंधकार के आवरण को खोल दिया।" पर इतना ही नही, बल्कि यदि कोई कहे कि वेद में एक वाक्य का दूसरे वाक्य के साथ कोई सबंध नहीं है और वेद के ऋषि भाव और युक्ति के बंधनो से सर्वथा स्वतंत्र होकर अपनी मानसिक कल्पना से गौओ से सूर्य तक और अंधकार से द्राविड लोगो की गुफा तक मनमौजी उडानें ले रहे हैं, तो इसके उत्तर में हम निश्चयपूर्वक एकात्मता को सिद्ध करनेवाले वेद के दूसरे प्रमाण भी दे सकते है। ऋ० १ ३३ १०[3] में कहा है–"वृषभ इन्द्र ने वज्र को अपना साथी बनाया अथवा उसका प्रयोग किया (युजम्), उसने ज्योति के द्वारा अंधकार में से किरणो (गौओ) को दुहा।" हमे स्मरण रखना चाहिये कि वज्र 'स्वर्य अश्मा' है और इसके अंदर 'स्व' की ज्योति रहती है। फिर ४ ५१ २[4] में जहा कि पणियो का प्रश्न है, कहा है–"स्वय पवित्र रूप में उदित होती हुई, और दूसरोको भी पवित्र करनेवाली, उषाओ ने बाडे (व्रज) के दरवाजों को खोल दिया और अंधकार को भी खोल दिया"–(व्रजस्य तमसो द्वारा)।

---

[1]तद्देवाना देवतमाय कर्त्वमश्रथ्नन् दृळ्हाव्रदन्त वीळिता।
उद् गा आजदभिनद् ब्रह्मणा वलमगूहत्तमो व्यचक्षयत् स्वः॥२.२४.३

[2]प्राचोदयत् सुदुघा वव्रे अन्तर्वि ज्योतिषा संववृत्वत्तमोऽवः।५.३१.३

[3]युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत्।१.३३.१०

[4]व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीरव्रञ्छुचयः पावकाः।४ ५१.२

यदि इन सव स्थलो के उपस्थित होने पर भी हम इसपर आग्रह करे कि वेद में आयी गौओ और पणियो की कहानी एक ऐतिहासिक किस्सा है तो इसका कारण यही हो सकता है कि स्वय वेद की अन्त साक्षी के होते हुए भी हम वेदो से अपना वैसा ही अर्थ निकालने पर तुले हुए है। नही तो हमे अवश्य स्वीकार करना चाहिये कि पणियो की यह परम गुप्त निधि—"निधि पणीना परम गुहा हितम्"—पार्थिव पशुओ की सपत्ति नही है, किंतु जैसा कि परुच्छेप दैवोदासि ने ऋ० १ १३० ३ मे स्पष्ट किया है, "यह द्यु की निधि, पक्षी के बच्चे की तरह, गुप्त गुहा में छिपी पडी है, गौओ के वाडे की तरह, अनत चट्टान के वीच में, ढकी पडी है"—(अविन्दद् दिवो निहित गुहा निधि वेर्न गर्भं परिवीतमश्मन्यनन्ते अन्तरश्मनि। व्रज वज्री गवामिव सिपासन्)।

ऐसे स्थल वेद में बहुत से है जिनसे दोनो कहानियो में परस्पर सबध या एकात्मता प्रकट होती है। मै नमूने के लिये केवल दो-चार का ही उल्लेख करूगा। ऋ० १ ६२ मे,—जिनमे इस कहानी के विषय में कुछ विस्तार से कहा गया है उनमेंसे यह एक है—हम पाते है "हे शक्तिशाली इन्द्र! तूने दशग्वाओ (अगिरसो) के साथ मिलकर बडे शव्द के साथ वल का विदारण किया। अगिराओ से स्तुति किये जाते हुए तूने उषा, सूर्य और गौओ के द्वारा सोम को प्रकाशित किया[1]।" ऋ० ६ १७ ३[2] मे कहा है—"हे इन्द्र! तू स्तोत्रो को सुन और हमारी वाणियो के द्वारा बढ, सूर्य को प्रगट कर, शत्रुओ का हनन कर और गौओ को भेदन करके निकाल ला।" ऋ० ७ ९८ ६[3] में हम देखते है—"ओ इन्द्र! गौओ की यह सब सपत्ति जो तेरे चारो तरफ है और जिसे तू सूर्यरूपी आख से

---

[1]सरण्युभि फलिगमिन्द्र शक्र वल रवेण दरयो दशग्वै ॥
गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म विवरुषसा सूर्येण गोभिरन्ध ॥१.६२.४-५

[2]श्रुधि ब्रह्म वावृधस्वोत गीर्भि ।
आवि. सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभि गा इन्द्र तृन्धि ॥ ६-१७-३

[3]तवेद विश्वमभित पशव्य यत् पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य ।
गवामसि गोपतिरेक इन्द्र ॥ ७.९८ ६

देखता है, तेरी ही है। तू इन गौओं का अकेला स्वामी है (गवामसि गोपति-रेक इन्द्र)"। और किस प्रकार की गौओ का वह इन्द्र स्वामी है, यह हमे सरमा और गौओ के वर्णनवाले सूक्त ३-३१ से मालूम होता है-"विजेत्री (उषाए) उसके साथ सगत हुई और उन्होने अन्धकार मे से महान् ज्योति को जाना। उसे जानती हुई उषाए उसके पास गयी, इन्द्र गौओ का एकमात्र स्वामी हो गया-(पतिर्गवामभवदेक इन्द्र)"। इसी सूक्त मे आगे बताया गया है कि किस प्रकार मन के द्वारा और सत्य (ऋत) के सारे मार्ग को खोज लेने द्वारा सप्त ऋषि अगिरस गौओ को उनके दृढ कारागार से निकालकर बाहर लाये और किस प्रकार सरमा, जानती हुई, पर्वत की गुफा तक और उन अविनश्वर गौओ के शब्द तक पहुच पायी।[1] उषाओ और 'स्व' की बृहत् और ज्योति की प्राप्ति के साथ वही सबध हम ७-९०-४ में पाते है-'अपने पूर्ण प्रकाश में, बिना किसी दोष, छिद्र या त्रुटि के, उषाए निकल पडी, उन (अगि-राओ) ने ध्यान करके बृहत् ज्योति (उरु ज्योति) को पाया। कामना करने-वालो ने गौओ के विस्तार को खोल दिया, आकाश से उनके ऊपर जलो की वर्षा हुई।[2]'

इसी प्रकार २-१९-३ मे भी दिन, सूर्य और गौओ का वर्णन है-'उसने सूर्य को जन्म दिया, गौओ को पाया और रात्रि में से दिनो के प्रकाश को प्रकट किया'।[3]

---

[1] अभि जैत्रीरसचन्त स्पृधानं महि ज्योतिस्तमसो निरजानन्।
त जानती प्रत्युदायन्नुषास पतिर्गवामभवदेक इन्द्र ॥
वीळौ सतीरभि धीरा अतृन्दन् प्राचाहिन्वन् मनसा सप्त विप्रा ।
विश्वामविन्दन् पथ्यामृतस्य प्रजानन्नित्ता नमसा विवेश ॥
विदद् यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथ पूर्व्यं सध्र्यक् क ।
अग्र नयत् सुपद्यक्षराणामच्छा रव प्रथमा जानती गात् ॥ (ऋ० ३।३१।४-६)

[2] उच्छन्नुषस सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्याना ।
गव्यं चिदूर्वमुशिजो वि वव्रुस्तेषामनु प्रदिव सस्रुराप ॥ ७ ९०.४

[3] अजनयत् सूर्यं विदद् गा अक्तुनाह्ना वयुनानि साधत् ॥ २ १९ ३

४-१-१३ मे, यदि इसका दूसरा अर्थ न हो, तो उषाओ और गौओ को एक मान-कर कहा गया है–'चट्टान जिनका वाडा है, दोग्ध्री (दोहन देनेवाली), अपने ढकने-वाले कारागार में चमकती हुई, उनकी पुकार का उत्तर देती हुई उषाओ को उन्होने बाहर निकाला[४]।' परन्तु इस मन्त्र का यह अर्थ भी हो सकता है कि, हमारे पूर्वपितर अगिराओ द्वारा, जिनका इससे पहले मन्त्र में वर्णन हुआ है, पुकारी हुई उषाओ ने उनके लिये गौओ को बाहर निकाला। फिर ६-१७-५ मे हम देखते है कि उस बाडे का भेदन सूर्य के चमकने का साधन हुआ है–'तूने सूर्य और उषा को चमकाया, दृढ स्थानो को तोडते हुए, उस बडी और दृढ चट्टान को अपने स्थान से हिला दिया, जिसने गौओ को घेरा हुआ था[५]।' अन्त मे ३-३९ मे हमे कहानी के रूप मे दोनो अलकारो की बिल्कुल एकात्मता मिलती है–'मर्त्यों मे कोई भी इनकी निन्दा करनेवाला नही है (अथवा मै इसे इस प्रकार कहू, कोई मानवीय शक्ति इनको बद्ध या अवरुद्ध करनेवाली नही) जो हमारे पितर (पणियो की) गौओ के लिये लडे है। बडे-बडे कामो को करनेवाले और महिमाशाली इन्द्र ने उनके लिये गौओ के दृढ बाडो को खुला कर दिया। जहा अपने सखाओ नवग्वाओ के साथ एक सखा इन्द्र ने अपने घुटनो के बल गौओ को ढूढते हुए, जहा दस दशग्वाओ के साथ इन्द्र ने अन्धकार मे रहते हुए असली सूर्य को (अथवा मेरी व्याख्या में, 'सत्य' के सूर्य को) पा लिया। ३-३९-४, ५'[१]। यह स्थल पूर्ण रूप से निर्णयात्मक है। गौए पणियो की गौएं है, जिनका

---

[४]अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभिप्रसेदुर्ऋतमाशुषाणा ।
अश्मव्रजा सुदुघा वव्रे अन्तरुदुस्रा आजन्नुषसो हुवाना ॥ ४.१.१३

[५]येभि सूर्यमुषस मन्दसानोऽवासयोऽप दृळ्हानि दर्द्रत् ।
महामद्रि परि गा इन्द्र सन्त नुत्था अच्युत सदसस्परि स्वात् ॥ ६.१७.५

[१]नकिरेषा निन्दिता मर्त्येषु ये अस्माक पितरो गोषु योधा ।
इन्द्र एषा दृहिता माहिनावानुद् गोत्राणि ससृजे दसनावान् ॥
सखा ह यत्र सखिभिर्नवग्वैरभिज्ञ्वा सत्वभिर्गा अनुग्मन् ।
सत्य तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वै सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम् ॥ ३.३९.४-५

पीछा करते हुए अगिरस हाथो और घुटनो के बल गुफा में घुसते है। पता लगानेवाले इन्द्र और अगिरस है, जिन्हे दूसरे मन्त्रो में नवग्वा और दशग्वा कहा है। और वह वस्तु जो पर्वत की गुफा मे पणियो के बाडे में घुसने पर मिलती है, पणियो द्वारा चुराई गयी कोई आर्यों की धनदौलत या भौतिक गौ नही, बल्कि 'सूर्य है, जो अन्धकार में छिपा हुआ है' (सूर्य तमसि क्षियन्)।

इसलिये इस स्थापना मे अब कोई प्रश्न शेष नही रहता कि वेद की गौए, पणियो की गौए, वे गौए जो चुरायी गयी, जिनके लिये लडा गया, जिनका पीछा किया गया और जिन्हे फिर से पा लिया गया, वे गौए जिनकी ऋषि कामना करते है, जो मन्त्र व यज्ञ के द्वारा और प्रज्वलित अग्नि और देवो को बढाने-वाले छन्दो और देवो को मस्त करनेवाले सोम के द्वारा जीती गयी, प्रतीकरूप गौए है, वे 'प्रकाश' की गौए है। और वेद के 'गो', 'उस्रा', 'उस्रिया' आदि अन्य शब्दो के आतरिक भाव के अनुसार वे चमकनेवाली, प्रकाशमान, सूर्य की गौए (किरणे) है, उषा के चमकीले रूप है।

इस निश्चित परिणाम—जिसके सिवाय और कुछ परिणाम निकल नही सकता—से हम यह समझ सकते है कि वेद की व्याख्या का रहस्यमय आधार जगलियो की पूजा के स्थूल प्रकृति-वाद से कही बहुत ऊपर सुरक्षित है। वेद अपने-आपको प्रतीक-रूप वर्णन की पवित्र, धार्मिक पुस्तक के रूप मे प्रकट करते है, जिसमे सूर्य की पूजा या उषा की पूजा का अथवा उस उच्च आन्तरिक ज्योति, सत्य के सूर्य (सत्यम् सूर्यम्) का सुन्दर आलकारिक वर्णन है जो हमारे अज्ञान-रूपी अन्धकार मे ढका हुआ है, जो पक्षी के शिशु की तरह, दिव्य 'हस' की तरह जड प्राकृतिक सत्ता की अनन्त चट्टान के पीछे छिपा हुआ है—"अनन्ते अन्तरश्मनि"।

यद्यपि इस अध्याय मे मैंने अपने-आपको कुछ कठोरता के साथ इस विषय के प्रमाणो तक ही सीमित रखा है कि गौए उस सूर्य की ज्योति है जो कि अन्धकार में छिपा हुआ है, फिर भी 'सत्य' की ज्योति और ज्ञान के सूर्य के साथ उनका सबध उद्धृत किये गये एक-दो मन्त्रो में स्वय ही स्पष्ट हो गया है। हम देखेंगे कि यदि हम अलग-अलग मन्त्रो को न लेकर अगिरस सूक्तो के सभी स्थलो की परीक्षा करे, तो जो सकेत हमने इस अध्याय मे पाया है, वह अधिकाधिक

स्पष्ट और निश्चित रूप मे हमारे सामने आयेगा। परन्तु पहले हमे अगिरस ऋषियो और गुहा के निवासी उन रहस्यपूर्ण पणियो पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिये, जो अन्धकार के साथी है और जिनसे छीनकर ये अगिरस ऋषि खोयी हुई चमकीली गौओ को और खोये हुए सूर्य को पुन प्राप्त करते है।

सत्रहवा अध्याय

अंगिरस ऋषि

'अंगिरस्' नाम वेद मे एकवचन में या बहुवचन में—अधिकतर बहुवचन मे—बहुत जगह आया है। पैतृक नाम या गोत्रसूचक नाम के तौर पर 'आंगिरस' यह शब्द भी कई जगह बृहस्पति देवता के विशेषण के तौर पर वेद मे आया है। पीछे मे अंगिरस् (भृगु तथा अन्य मंत्रद्रष्टा ऋषियो की तरह) उन वंशप्रवर्तक ऋषियो मे मे गिना जाने लगा था जिनके नाम से वंश तथा गोत्र चले और पुकारे जाते थे, जैसे 'अंगिरा' से आंगिरस, 'भृगु' मे भार्गव। वेद मे भी ऐसे ऋषियो के कुल है, जैसे अत्रय, भृगव, कण्वा। अत्रियो के एक सूक्त मे अग्नि (पवित्र आग) को खोज निकालनेवाले अंगिरस् ऋषि कहे गये है, एक दूसरेमे भृगु ऋषि[1]। बहुधा सात आदिम अंगिरसो का वर्णन इस रूप मे हुआ है कि वे मनुष्य पुरखा है, 'पितरो मनुष्या', जिन्होने प्रकाश को खोज निकाला, सूर्य को चमकाया और सत्य के स्वर्लोक में चढ गये। दशम मण्डल के कुछ सूक्तो मे अंगिरसो को कव्य-भुक् पितरो के तौर पर यम (एक देवता जो कि पीछे के सूक्तो में ही प्रधानता मे आया है) के साथ संबंधित किया गया है, वहा ये अंगिरस-गण देवताओ के साथ वर्हि पर बैठते है और यज्ञ मे अपना भाग ग्रहण करते है।

यदि अंगिरस् ऋषियो के विषय मे यही सब कुछ कम होता तो इन्होने गौओ के खोजने मे जो भाग लिया है उसकी व्याख्या करना बडा आसान था, बल्कि उसकी व्याख्या मे कुछ खास कहने की जरूरत ही न थी, तब तो इतना ही है कि ये पूर्वपुरुष है, वैदिक धर्म के संस्थापक है, जिन्हे इनके वंशजो ने आंशिक रूप से देवत्व प्रदान कर दिया है और जो सतत रूप से देवो के साथ संबंधित है उषा तथा

---

[1] बहुत संभव है, अंगिरस् ऋषि अग्नि की ज्वलत् (अंगार) शक्तियां है और भृगुगण सूर्य की सौर शक्तियां है।

सूर्य के पुन प्राप्ति के कार्य में, यह सूर्य और उषा की पुन प्राप्ति चाहे तो भौतिक रूप मे हो और एव उत्तरी ध्रुव की लवी रात्रियो मे से इनकी पुन प्राप्ति हो या **प्रकाश और सत्य** को जीत लेने के रूप में। परन्तु इतना ही सब कुछ नही है, वैदिक गाथा इसके और गम्भीर पहलुओ का वर्णन करती है।

पहिले तो यह कि अगिरस् केवल देवत्वप्राप्त मानुप पितर ही नही है किन्तु वे हमारे सामने इस रूप मे भी दिखाये गये है कि वे द्युलोक के द्रष्टा है (दिव्य ऋषि है), देवताओ के पुत्र है, वे द्यौ के पुत्र है और असुर के, बलाधिपति के वीर है या शक्तिया है। 'दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीरा' यह एक ऐसा वर्णन है जो कि अगिरसो के सख्या में सात होने के कारण तत्सदृश ईरानियन गाथा मे के अहुरमज्द (Ahura Mazda) के सात देवदूतो का प्रबलता से, यद्यपि शायद केवल आकस्मिक रूप से, स्मरण करा देता है और फिर ऐसे सदर्भ है जिनमे अगिरस् बिल्कुल प्रतीकात्मक हो गये दीखते है, वे मूल अगिरस् अग्नि के पुत्र और शक्तिया है, वे प्रतीकभूत **प्रकाश** और **ज्वाला** की शक्तिया है और वे उस सात मुखवाले, अपनी नौ और अपनी दस **प्रकाश** की किरणोवाले एक अगिरस् मे, **नवग्वे अगिरे दशग्वे सप्तास्ये,** एकीभूत भी हो जाते है जिसपर और जिस द्वारा **उषा** अपने सपूर्ण आनन्द और वैभव के साथ खिल उठती है। ये तीनो स्वरूपवर्णन एक ही और उन्ही अगिरसो के प्रतीत होते है, क्योकि इनमे उनके विशेष गुण और उनके कार्य अन्य फर्क के होते हुए भी अभिन्न ही रहते है।

अगिरस् ऋषि देव भी है और मनुष्य भी है, उनके इस प्रकार दुहरे स्वरूपवाले होने की व्याख्या दो बिलकुल विपरीत तरीको से की जा सकती है। वे मूलत मनुष्य ऋषि रहे है और अपने वशजो द्वारा देवत्व-प्राप्त हुए हो और इस देवत्वापादन में उन्हे दिव्य कुल-परम्परा तथा दिव्य व्यापार दे दिये गये हो, या ये मूलत अर्धदेव हो, **प्रकाश** और **ज्वाला** की शक्तिया हो, जिनका कि मनुष्यजाति के पितरो तथा उसके ज्ञान के आविष्कारको के रूप मे मानुषीकरण हो गया हो। ये दोनो ही प्रक्रियाए प्राथमिक गाथाविज्ञान मे स्वीकार की जाने योग्य है। उदाहरणार्थ ग्रीक कथानक के कैस्टर (Castor) और पोलीडूसस (Polydeuces) और उनकी बहिन हेलेन (Helen) मानुप

प्राणी थे, यद्यपि ये जुस (Zeus) के पुत्र थे, और मृत्यु के बाद ही देव हुए। परन्तु बहुत सम्भावना यह है कि ये तीनो मूलतः ही देव थे—कैस्टर और पोलीडूसस, युगल, घोडे पर चढनेवाले, समुद्र में नाविको की रक्षा करनेवाले लगभग निश्चय से कहा जा सकता है कि वैदिक अश्विनौ है जो कि घुडसवार है जैसा कि 'अश्विन्' यह नाम ही बताता है, अद्भुत रथ पर चढनेवाले है, युगल भी है, समुद्र में 'भुज्यु' की रक्षा करनेवाले है, अपार जलराशि पर पार तरानेवाले, उषा के भाई है और हेलेन उनकी बहिन उषा है या वह 'सरमा' देवशुनी ही है जो कि दक्षिणा की तरह उषा की शक्ति, लगभग उसकी मूर्त्ति (प्रतिमा) है। पर इनमेंसे कुछ भी माने इसके आगे एक और विकासक्रम हुआ है, जिसके द्वारा ये देव या अर्धदेव आध्यात्मिक व्यापारो मे युक्त हो गये है, शायद उसी प्रक्रिया द्वारा जिससे ग्रीकधर्म मे Athene, उषा, का ज्ञान की देवी के रूप मे परिवर्तन तथा Apollo, सूर्य, का दिव्य गायक और द्रष्टा के, भविष्यवाणी और कविता के प्रेरक-देव के रूप में परिवर्तन हो गया।

वेद मे यह सभव है कि एक और ही प्रवृत्ति काम कर रही हो—अर्थात् उन प्राचीन रहस्यवादियो के मनो में प्रधानतया विद्यमान, सतत और सर्वत्र पायी जानेवाली प्रतीकवाद की प्रवृत्ति या आदत। हरेक बात, उनके अपने नाम, राजाओ और याजको के नाम, उनके जीवन की साधारण मे साधारण परिस्थितिया ये सब प्रतीको के रूप में ले आयी गयी थी और वे प्रतीक उनके असली गुप्त अभिप्रायो के लिये आवरण का काम देते थे। जैसे कि वे 'गौ' शब्द की द्वयर्थता का उपयोग करते थे, जिसका कि अर्थ 'किरण' और 'गाय' ये दोनो होते थे, जिससे कि गाय (उनके पशुपाल-जीवनसम्बन्धी सपत्ति के मुख्य रूप) की मूर्त प्रतिमा उसके छिपे हुए अभिप्राय आन्तरिक प्रकाश (जो कि जिसकी वे अपने देवो से प्रार्थना करते थे उस उनकी आध्यात्मिक सपत्ति का मुख्य तत्त्व था) के लिये आवरण बन सके, वैसे ही वे अपने नामो का भी उपयोग करते थे, गोतम 'प्रकाश से अधिक-से-अधिक भरा हुआ', गविष्ठिर 'प्रकाश मे स्थिर', एव ऊपर से देखने में जो निजी दावा या इच्छा-सी प्रतीत होती है, उसके नीचे वे अपने विचार मे रहनेवाले विस्तृत और व्यापक अभिप्राय को छिपाये होते थे।

इसी प्रकार वे बाह्य तथा आन्तर अनुभूतियो का भी, वे चाहे अपनी हो या दूसरे ऋषियो की, उपयोग करते थे। यज्ञस्तम्भ के साथ बाधे गये शुन शेप की प्राचीन कथा में यदि कुछ सत्य है तो यह बिल्कुल निश्चित है, जैसा कि हम अभी देखेगे, कि ऋग्वेद मे यह घटना या गाथा एक प्रतीक के रूप में प्रयुक्त की गयी है। शुन शेप है मानवीय आत्मा जो कि पाप के त्रिविध बन्धन मे बद्ध है और अग्नि, सूर्य तथा वरुण की दिव्य शक्तियो द्वारा वह इससे उन्मुक्त होता है। इसी प्रकार कुत्स, कण्व, उशना काव्य जैसे ऋषि भी किन्ही आध्यात्मिक अनुभूतियो तथा विजयो के प्रतीक या आदर्श बने है और उस स्थिति में इन्होने देवताओ के साथ स्थान प्राप्त किया है। तो फिर इसमें कुछ आश्चर्य की बात नही कि सात अगिरस् ऋषि भी इस रहस्यमय प्रतीकवाद में, अपने परपरागत या ऐतिहासिक मानुष स्वरूप का सर्वथा बिना त्याग किये ही, दिव्य शक्तियों और आध्यात्मिक जीवन के जीवन्त बल बन गये हो। तो भी हम यहा इन अटकलो और अनुमानो को एक तरफ छोड देंगे और इनकी जगह इस परीक्षा में प्रवृत्त होगे कि अगिरसो के व्यक्तित्व के उपर्युक्त तीन तत्त्वो या पहलुओ का गौओ के तथा सूर्य और उषा के अन्धकार से फिर निकल आने के अलकार में क्या-क्या भाग रहा है।

सबसे पहिले हमारा ध्यान इस बात पर जाता है कि वेद मे अगिरस् शब्द विशेषण के तौर पर प्रयुक्त हुआ है, अधिकतर उषा और गौओ के रूपक के प्रकरण में। दूसरे यह कि अग्नि के नाम के तौर पर यह आया है, इन्द्र को अगिरस् हो गया कहा गया है और बृहस्पति को अगिरस् या आगिरस पुकारा गया है, जो कि स्पष्ट ही केवल भाषालकार के तौर पर या गाथात्मक तौर पर नही कहा गया है किन्तु विशेष अर्थ सूचित करने के लिये और इस शब्द के साथ जो आध्यात्मिक या दूसरे भाव जुडे हुए है उनको लक्षित करने के लिये ऐसा कहा गया है। यहा तक कि अश्विन् देव भी सामूहिक रूप से अगिरस् करके सबोधित किये गये है। इसलिये यह स्पष्ट है कि अगिरस् शब्द वेद मे केवल ऋषियो के एक कुल के नाम के तौर पर नही प्रयुक्त हुआ है किन्तु इस शब्द के अन्दर निहित एक विशिष्ट अर्थ को लेकर हुआ है। यह भी बहुत सभव है कि

यह शब्द जब एक संज्ञा, नाम के तौर पर प्रयुक्त हुआ है तब भी इसके अन्तर्निहित भाव को स्पष्ट गृहीत करते हुए हुआ है, बहुत संभव तो यहां तक है कि वेद में आनेवाले नाम ही सामान्यतया, यदि हमेशा नहीं, अपने अर्थ पर बलप्रदानपूर्वक प्रयुक्त किये गये हैं, विशेषतया देवों, ऋषियों और राजाओं के नाम। वेद में इन्द्र शब्द सामान्यतया एक नाम के तौर पर प्रयुक्त हुआ है तो भी हम वेद की शैली की ऐसी झांकियां पाते हैं जैसे कि उषा का वर्णन करते हुए उसे 'इन्द्रतमा, अंगिरस्तमा' कहा गया है। 'सबसे अधिक इन्द्र', 'सबसे अधिक अंगिरस्', और पणियों को 'अनिन्द्रा' अर्थात् इन्द्ररहित वर्णित किया गया है। ये स्पष्ट ही ऐसे शब्दप्रयोग हैं जो कि, इन्द्र या अंगिरस् से निरूपित होनेवाले व्यापारों, शक्तियों या गुणों से युक्त होने या इनसे रहित होने के भाव को सूचित करने के अभिप्राय से किये गये हैं। तो हमें अब यह देखना है कि वे अभिप्राय क्या हैं और अंगिरस् ऋषियों के गुणों या व्यापारों पर उन द्वारा क्या प्रकाश पड़ता है।

यह शब्द अग्नि का सजातीय है, क्योंकि यह जिस धातु 'अंगि' (अंग्) से निकला है वह अग्नि की धातु, 'अग्' का केवल सानुनासिक रूप है। इन धातुओं का आन्तरिक अर्थ प्रतीत होता है प्रमुख या प्रबल अवस्था, भाव, गति, क्रिया, प्रकाश[1]। और इनमें यह अन्तिम प्रदीप्त या जलते हुए प्रकाश का अर्थ है जिससे 'अग्नि', आग, 'अंगार', दहकता कोयला (अंगारा) और 'अंगिरस्', जिसका कि अर्थ होना चाहिये ज्वालामय या दीप्त, बने हैं। वेद में और ब्राह्मण-ग्रंथों की परंपरा में भी अंगिरस् मूलतः अग्नि से निकट संबद्ध माने गये हैं। ब्राह्मणों में यह कहा गया है कि अग्नि आग है, अंगिरस् अंगारे हैं, पर स्वयं वेद का निर्देश ऐसा प्रतीत होता है कि वे (अंगिरस्) अग्नि की ज्वालाएं

---

[1]प्रमुख या प्रबल अवस्था के लिये शब्द है 'अग्र', जिसका अर्थ होता है अगला या मुख्य और ग्रीक में 'अगन' जिसका अर्थ है 'अधिकता से'। प्रमुख भाव के लिये ग्रीक 'अगपे' है जिसका अर्थ है प्रेम और शायद संस्कृत 'अंगना' अर्थात् स्त्री। इसी तरह प्रमुख गति तथा क्रिया के लिये भी इसी प्रकार के कई संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन के शब्द हैं।

है या ज्योतिया है। ऋ० १०-६२ में अगिरस् ऋषियो की एक ऋचा में उनके वारे मे कहा गया है कि वे अग्नि के पुत्र है और अग्नि से उत्पन्न हुए है, ये अग्नि के इर्दगिर्द और विविध रूपवाले होकर सारे द्युलोक के इर्दगिर्द उत्पन्न हुए है।* और फिर इससे अगली पक्ति मे इनके विपय मे सामुदायिक रूप से एकवचन मे वोलते हुए कहा है–'नवग्वो नु दशग्वो अगिरस्तम सचा देवेपु महते' अर्थात् नौ किरणोवाला, दश किरणोवाला सवसे अधिक अगिरस् (यह अगिरस्-कुल) देवो के साथ या देवो मे समृद्धि को प्राप्त होता है। इन्द्र की सहायता मे ये अगिरस् गौओ और घोडो के वाडे को खोल देते है, ये यज्ञ करनेवालो को रहस्यमय आठ कानोवाला गो-समूह प्रदान करते है और उसके द्वारा देवताओ में 'श्रवस्' अर्थात् दिव्य श्रवण या सत्य की अन्त प्रेरणा को उत्पन्न करते है (१०-६२-५, ६,७)। तो यह काफी स्पष्ट है कि अगिरस् ऋषि यहा दिव्य अग्नि की प्रसरणशील ज्योतिया है जो कि द्युलोक मे उत्पन्न होती है, इसलिये ये दिव्य ज्वाला की ज्योतिया है न कि किसी भौतिक आग की। ये प्रकाश की नौ किरणो से और दश किरणो से सनद्ध होते है, अगिरस्तम वनते है अर्थात् अग्नि की, दिव्य ज्वाला की जाज्वल्यमान अर्चियो से पूर्णतम होते है और इसलिये कारागार में वन्द प्रकाश और वल को मुक्त करने मे तथा अतिमानस (विज्ञानमय) ज्ञान को उत्पन्न करने मे समर्थ होते है।

चाहे यह स्वीकार न किया जाय कि प्रतीकपरक यही अर्थ ठीक है, पर यह तो स्वीकार करना होगा कि यहा पर कोई प्रतीकात्मक अर्थ ही है। ये अगिरस कोई यज्ञ करनेवाले मनुष्य नही है, किंतु द्युलोक मे उत्पन्न हुए अग्नि के पुत्र है, यद्यपि इनका कार्य विल्कुल मनुष्य अगिरसो का है जो कि पितर है, (पितरो मनुष्या),

---

*ते अगिरस सूनवस्ते अग्ने परि जज्ञिरे ॥५॥
ये अग्ने परि जज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि।
नवग्वो नु दशग्वो अगिरस्तम सचा देवेषु महते ॥६॥
इन्द्रेण युजा नि सृजन्त वाघतो व्रज गोमन्तमश्विनम्।
सहस्र मे ददतो अष्टकर्ण्य श्रवो देवेष्वक्रत ॥७॥

ये विविध रूप लेकर उत्पन्न हुए है, (विरूपास)। इन सवका यही अभिप्राय हो सकता है कि ये अग्नि की शक्ति के विविध रूप है। प्रश्न होता है कि किस अग्नि के, क्या यज्ञशाला की ज्वाला के, सामान्य अग्नि-तत्त्व के या फिर उस दूसरी पवित्र ज्वाला के जिसका वर्णन किया गया है 'द्रष्टृ-सकल्प से युक्त होना' या 'जो द्रष्टा का कार्य करता है, सत्य है, अन्त प्रेरणाओ के विविध प्रकाश से समृद्ध है' (अग्निर्होता कविक्रतु. सत्यश्चित्रश्रवस्तम)। यदि यह अग्नि-तत्त्व है तो अगिरस् से सूचित होनेवाली जाज्वल्यमान चमक सूर्य की चमक होनी चाहिये अर्थात् अग्नि-तत्त्व की वह आग जो सूर्यकिरणो के रूप मे प्रसृत हो रही है और इन्द्र से, आकाश से सवद्ध होकर वह उषा को उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भौतिक व्याख्या नही हो सकती, जो अगिरस् गाथा की परिस्थितियो तथा विवरणो मे सगत हो। परन्तु यह भौतिक व्याख्या अगिरस् ऋषियोसवधी अन्य वर्णनो का कुछ भी स्पष्टीकरण नही दे सकती कि वे द्रष्टा है, वैदिक सूक्तो के गायक है, कि वे जैसे सूर्य की और उषा की वैसे वृहस्पति की भी शक्तिया है।

वेद का एक और सदर्भ है, (६-६-३,४,५)[1] जिसमे इन अगिरस् ऋषियो का अग्नि की ज्वालामय 'अर्चियो के साथ तादात्म्य विल्कुल स्पष्टतया और अभ्रान्त रूप मे प्रकट हो जाता है। '(शुचे अग्ने) हे पवित्र और चमकीले अग्नि! (ते) तेरे (शुचय भामास) पवित्र और चमकीले प्रकाश (वातजूतास) वायु से प्रेरित हुए-हुए (विष्वक्) चारो तरफ (विचरन्ति) दूर-दूर तक पहुचते है, (तुविम्रक्षास) प्रवलता से अभिभूत करनेवाले (दिव्या नवग्वा) दिव्य[2] नौ

---

[1]वि ते विष्वग्वातजूतासो अग्ने भामास शुचे शुचयश्चरन्ति।
तुविम्रक्षासो दिव्या नवग्वा वना वनन्ति धृषता रुजन्त ॥३॥
ये ते शुक्रास शुचय शुचिष्म. क्षा वपन्ति विषितासो अश्वा।
अध भ्रमस्त उर्विया वि भाति यातयमानो अधि सानु पृश्ने ॥४॥
अध जिह्वा पापतीति प्र वृष्णो गोषुयुधो नाशनि सृजाना।

[2]नवग्वा का दिव्य विशेषण ध्यान देने योग्य है।

किरणोवाले (वना[1] वनन्ति) वनो का उपभोग करते है (वृपता रुजन्त) उन्हें बलपूर्वक तोडते-फोडते हुए। ('वना वनन्ति' शब्द बडे अर्थपूर्ण रूप मे इस ढके हुए अभिप्राय को दे रहे है कि 'उपभोग-योग्य वस्तुओ का उपभोग करते है'।) ।३। (शुचिप्म) ओ पवित्र प्रकाशवाले! (ये ते शुक्रा शुचय) जो तेरे चमकीले और पवित्र प्रकाश सब (क्षा) पृथ्वी को (वपन्ति)[2] आक्रान्त या अभिभूत करते है, (विपितास अश्वा) वे तेरे सब दिशाओ मे दौडनेवाले घोडे है। (अथ) तव (ते भ्रम) तेरा भ्रमण (उर्विया विभाति) विस्तृत रूप मे चमकता है, (पृश्ने) चित्रविचित्र रगवाली (मरुतो की माता, पृश्नि, गौ) की (मानो अधि) उच्चतर भूमि की तरफ (यातयमान) यात्रा का मार्ग दिखलाता हुआ ।४। (अव) तव (जिह्वा) तेरी जीभ (प्रपापतीति) लपलपाती है, (गोपुयुधो वृष्ण सृजाना अशनि न) जैसे कि गौओ के लिये युद्ध करनेवाले वृषा मे छोडा हुआ वज्र ।५।' यहा अगिरस् ऋषियो की ज्वालाओ (भामास, शुचय) से जो स्पष्ट अभिन्नता है उसे सायण 'नवग्वा' का अर्थ 'नवजात किरणें' करके टालना चाहता है। परतु यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यहा के 'दिव्या नवग्वा' तथा १०-६२ में वर्णित 'अग्नि के पुत्र, द्युलोक मे उत्पन्न होनेवाले, नवग्व' एक है; इनका भिन्न होना सभवित नही है। यह अभिन्नता और भी पुष्ट हो जाती है, यदि किसी पुष्टि की जरूरत है, उपर्युक्त सदर्भ में आये इस कथन मे कि नवग्वो की क्रिया द्वारा होनेवाले अग्नि के इस भ्रमण में उसकी जिह्वा, इन्द्र के (गौओ के लिये लडनेवाले और वृषा इन्द्र के) अपने हाथो मे छूटे हुए वज्र का रूप धारण करती है और यह तेजी मे लपलपाती हुई आगे बढती है, नि सदेह द्युलोक की पहाडी मे अधकार की शक्तियो पर आक्रमण करने के लिये, क्योकि अग्नि और नवग्वो का प्रयाण (भ्रमण) यहा इस रूप में वर्णित किया गया है कि यह पृथ्वी पर घूम चुकने के उपरान्त पहाडी पर (सानु पृश्ने) चढना है।

यह स्पष्ट ही ज्वाला और प्रकाश का प्रतीकात्मक वर्णन है—दिव्य ज्वाला

---

[1] 'वना' का अर्थ सायण ने 'यज्ञिय अग्नि के लिये लक्कड' ऐसा किया है।

[2] 'क्षा वपन्ति' का अर्थ सायण ने 'पृथ्वी के बालो को मूडते है' ऐसा किया है।

पृथ्वी को दग्ध करती है और फिर वह द्युलोक की विद्युत् तथा सौर शक्तियों की दीप्ति बनती है, क्योंकि वेद में अग्नि सूर्य की ज्योति तथा विद्युत् भी है जहां यह जल में उपलब्ध होनेवाली तथा पृथ्वी पर चमकनेवाली ज्वाला है। अंगिरस् ऋषि भी, अग्नि की शक्तियां होने के कारण, अग्नि के इस अनेकविध स्वरूप व व्यापार को ग्रहण करते हैं। यज्ञ द्वारा प्रदीप्त की गयी दिव्य ज्वाला इन्द्र को विद्युत् की सामग्री भी प्रदान करती है, विद्युत् की, वज्र की, 'स्वर्य अश्मा' की जिसके द्वारा वह अंधकार की शक्तियों का विनाश करता है और गौओं को, सौर ज्योतियों को, जीत लेता है।

अग्नि, अंगिरसों का पिता, न केवल इन दिव्य ज्वालाओं का मूल और उद्गम स्थान है किंतु वह स्वयं भी वेद में पहिला अंगिरस् (प्रथमो अंगिरा) अर्थात् परम और आदिम अंगिरा वर्णित किया गया है। इस वर्णन द्वारा वैदिक कवि हमें क्या अभिप्राय जताना चाहते हैं? यह हम अच्छी तरह समझ सकते हैं यदि हम उनमेंसे कुछ वाक्यों पर जरा दृष्टिपात करें जिनमें कि इस प्रकाशमान और ज्वालायुक्त देवता को 'अंगिरा' विशेषण दिया गया है। पहिले तो यह कि यह दो बार अग्नि के एक अन्य नियत विशेषण 'सहस सूनु ऊर्जो नपात्' (बल के पुत्र या शक्ति के पुत्र) के साथ संबद्ध होकर आया है। जैसे ८-६०-२ में संबोधित किया गया है 'हे अंगिर, बल के पुत्र' (सहस सूनो अंगिरः)[1] और ८-८४-४ में 'हे अग्ने! अंगिर! शक्ति के पुत्र!' (अग्ने अंगिर ऊर्जो नपात्।)[2] और ५-११-६[3] में यह कहा गया है "तुझे, हे अग्ने! अंगिरसों ने गुप्त स्थानों में स्थापित को (गुहा हितं) प्राप्त कर लिया, जंगल-जंगल में (वने-वने, अथवा यदि हम उस छिपे हुए अर्थ के संकेत को स्वीकार करें जिसे कि हम 'वना वनन्ति' इस शब्दावलि

---

[1]अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अंगिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे।
ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम्॥ (ऋ० ८.६०.२)

[2]कया ते अग्ने अंगिर ऊर्जो नपादुपस्तुतिम्। वराय देव मन्यवे।(ऋ०८.८४.४)

[3]त्वामग्ने अंगिरसो गुहा हितं अन्वविन्दन् शिश्रियाणं वने वने।
स जायसे मथ्यमानः सहो महत् त्वामाहुः सहसस्पुत्रमंगिरः॥(ऋ० ५-११-६)

मे पहिले देख चुके है तो 'प्रत्येक उपभोग्य पदार्थ मे') श्रिन हुए-हुए को। सो तू मथा जाकर (मथ्यमान) एक महान् शक्ति होकर उत्पन्न होता है, तुझे वे बल का पुत्र कहते है, हे अगिर !" तो इसमें सदेह का अवकाश नही कि यह बल का विचार अगिरस् शब्द की वैदिक धारणा में एक आवश्यक तत्त्व है और, जैसा कि हम देख चुके है, यह इस शब्द के अर्थ का एक भाग ही है। अग्नि, अगिरस् जिन धातुओ से बने है उन 'अग्' 'अगि (अग्)' मे बल का भाव निहित है, अवस्था मे, क्रिया मे, गति मे, प्रकाश मे, अनुभव मे प्रबलता इन धातुओ का अन्तर्निहित गुण है। बल, पर साथ ही इन शब्दो मे प्रकाश भी है। अग्नि, पवित्र ज्वाला, प्रकाश की ज्वलन्त शक्ति है और अगिरस् भी प्रकाश के ज्वलन्त बल है।

परतु किस प्रकाश के, भौतिक या आलकारिक ? हमे यह कल्पना नही कर लेनी चाहिये कि वैदिक कवि इतनी अपक्व तथा जगली बुद्धिवाले थे कि वे स्पष्टता मे तथा सभी भाषाओ मे पाये जानेवाले सामान्य ऐसे आलकारिक वर्णन कर सकने में भी असमर्थ थे जिसमे कि भौतिक प्रकाश आलकारिक रूप से मानसिक तथा आत्मिक प्रकाश का, ज्ञान का, आन्तरिक-प्रकाश-युक्तता का वर्णन करने को प्रयुक्त किया जाता है। वेद बिल्कुल साफ कहता है, 'द्युमतो विप्रा' अर्थात् प्रकाशयुक्त ज्ञानी और 'सूरि' शब्द (जिसका कि अर्थ होता है ऋषि) व्युत्पत्ति-शास्त्र के अनुसार 'सूर्य' से सबद्ध है और इसलिये मूलत इसका अर्थ अवश्य 'प्रकाश-युक्त' ऐसा होना चाहिये। १-३१-१[१] मे इस ज्वाला के देव के विषय में कहा गया है, 'हे अग्ने ! तू प्रथम अगिरस् हुआ है, ऋषि, देवो का देव, शुभ सखा है। तेरी क्रिया के नियम में (व्रत मे) मरुत् अपने चमकीले भालो के साथ उत्पन्न होते है जो क्रान्तदर्शी है और ज्ञान के साथ कर्म करनेवाले है'। तो स्पष्ट है कि 'अग्नि अगिरा' में दो भाव विद्यमान है, ज्ञान और क्रिया, प्रकाशयुक्त अग्नि और प्रकाशयुक्त मरुत् अपने प्रकाश द्वारा ज्ञान के द्रष्टा, ऋषि, 'कवि' हुए है। और ज्ञान के प्रकाश द्वारा शक्तिशाली मरुत् अपना कार्य करते है क्योकि वे अग्नि

---

[१]त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभव शिव सखा।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टय ॥ (ऋ० १-३१-१)

के 'व्रत में'—उसकी क्रिया के नियम में—उत्पन्न हुए हैं या आविर्भूत हुए हैं। क्योंकि स्वयं अग्नि हमारे सम्मुख इस रूप में वर्णित किया गया है कि वह द्रष्टृ-संकल्पवाला है, 'कविक्रतु' है, क्रिया का वह बल है जो कि अन्तःप्रेरित या अतिमानस ज्ञान के (श्रवस् के) अनुसार कार्य करता है, कारण यह वह (अन्तःप्रेरित या अतिमानस) ज्ञान ही है न कि बौद्धिक ज्ञान जो कि कवि शब्द द्वारा अभिप्रेत होता है। तो यह अग्नि अंगिरस् नामक महान् बल, 'सहो महत्', और क्या है सिवाय इसके कि यह दिव्य चेतना का ज्वलन्त बल है, पूर्ण सामंजस्य में कार्य करनेवाले प्रकाश और शक्ति के अपने दोनों युगल गुणों के साथ, ठीक ऐसे ही जैसे कि मरुतों का वर्णन किया गया है कि वे 'कवयो विद्मनापसः' हैं, क्रान्तदर्शी हैं, ज्ञान के साथ कार्य करनेवाले? इस परिणाम पर पहुंचने के लिये तो हम युक्तिसंगत हो चुके हैं कि उषा दिव्य प्रभात है न कि केवल भौतिक सूर्योदय, कि उसकी गौएं या उषा तथा सूर्य की किरणें उदय होती हुई दिव्य चेतना की किरणें व प्रकाश हैं और कि इसलिये सूर्य ज्ञान के अधिपति के रूप में प्रकाशप्रदाता है और कि 'स्वः' द्यावा-पृथिवी के परे का सौर लोक, दिव्य सत्य और आनन्द का लोक है, एक शब्द में कहें तो यह कि वेद में प्रकाश व ज्योति ज्ञान का, दिव्य सत्य के प्रकाशन का प्रतीक है। हम अब यह परिणाम निकालने के लिये भी युक्तिसंगत हो रहे हैं कि ज्वाला—जो कि प्रकाश का ही एक दूसरा रूप है—दिव्य चेतना (अतिमानस सत्य) के बल के लिये वैदिक प्रतीक है।

एक दूसरी (६-११-३) ऋचा में आया है, 'वेपिष्ठो अंगिरसां यद्ध विप्रः' अर्थात् 'सबसे अधिक सन्त, अंगिरसों में जो विप्र (प्रकाशयुक्त) है।' यह किसकी तरफ निर्देश है यह स्पष्ट नहीं है। सायण 'वेपिष्ठो विप्रः' इस विन्यास की तरफ ध्यान नहीं देता, जिससे 'वेपिष्ठ' का अर्थ एकदम स्पष्ट तौर से स्वयमेव निश्चित हो जाता है कि 'विप्रतम, सबसे अधिक सन्त, सबसे अधिक प्रकाश-युक्त'। सायण यह कल्पना करता है कि यहां भारद्वाज, जो कि इस सूक्त का ऋषि है, स्वयं अपने-आप की स्तुति करता हुआ अपने को देवों का 'सबसे बड़ा स्तोता' कहता है। पर यह निर्देश शंकनीय है। यहां यह अग्नि है जो कि 'होता' है, पुरोहित है (देखो पहिले दूसरे मन्त्र में 'यजस्व होतः', 'त्वं होता'), अग्नि है जो कि देवों का

यजन कर रहा है, अपने ही तनूभूत देवो का ('तन्व तव स्वा' दूसरा मन्त्र), मरुतो, मित्र, वरुण, द्यौ और पृथिवी का यजन कर रहा है (पहिला मन्त्र)। क्योकि इस ऋचा में कहा है–

'तुझमे ही (हि त्वे) बुद्धि (धिषणा) यद्यपि यह धन्या है, धन से पूर्ण है (धन्या चित्) तो भी देवो को चाहती है (देवान् प्रवष्टि), मन्त्रगायक के लिये (दिव्य) जन्म चाहती है जिससे कि वह देवो का यजन कर सके (गृणते जन्म यजध्यै),[1] जब कि, विप्र, अंगिरसो मे विप्रतम (सब से अधिक प्रकाशयुक्त) स्तोता (यद्ध विप्र अंगिरसा वेपिष्ठ रेभ) यज्ञ मे मधुर छन्द उच्चारण करता है (इष्टौ मधुच्छन्द भनति)।' इससे लगेगा कि अग्नि ही स्वयं विप्र है, अंगिरसो मे वेपिष्ठ (विप्रतम) है। या फिर दूसरी तरफ यह वर्णन बृहस्पति के लिये उपयुक्ततम लगेगा।

क्योकि बृहस्पति भी एक आंगिरस है और वह है जो अंगिरस बनता है। जैसा कि, हम देख चुके है, वह प्रकाशमान पशुओ के जीतने के कार्य मे अंगिरस् ऋषियो के साथ निकटतया संबद्ध है और वह संबद्ध है ब्रह्मणस्पति के तौर पर, ब्रह्मन् (पवित्र वाणी या अन्त प्रेरित वाणी) के पति के तौर पर, क्योकि उसके शब्द द्वारा (रवेण) वल टुकडे-टुकडे हो गया और गौओ ने इच्छा के साथ रंभाते हुए उसकी पुकार का उत्तर दिया। अग्नि की शक्तियो के तौर पर ये अंगिरस् ऋषि उसकी तरह ही कविक्रतु है, वे दिव्य प्रकाश से युक्त है और उसके द्वारा दिव्य शक्ति के साथ काम करते है, वे केवल ऋषि ही नही है, किंतु वैदिक युद्ध के वीर है 'दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीरा (३-५३-७)' अर्थात् द्यौ के पुत्र है, बलाधिपति के वीर है, वे है (जैसा ६-७५-९[2] में वर्णित ह) 'पितर जो माधुर्य (आनन्द के जगत्) में बसते है, जो विस्तृत जीवन को स्थापित करते है, कठिन स्थानो पर

---

[1]धन्या चिद्धि त्वे धिषणा वष्टि प्र देवान् जन्म गृणते यजध्यै।
वेपिष्ठो अंगिरसा यद्ध विप्र मधुच्छन्दो भनति रेभ इष्टौ ॥ (ऋ० ६-११-३)

[2]स्वादुषसद पितरो वयोधा कृच्छ्रेश्रित शक्तीवन्तो गभीरा।
चित्रसेना इषुबला अमृध्रा सतोवीरा उरवो व्रातसाहा ॥ (ऋ० ६-७५-९)

विचरते है, शक्तिवाले है, गम्भीर[1] है, चित्र सेनावाले है, इपुबलवाले है, अजेय है, अपनी सत्ता मे ही वीर है, विशाल है, शत्रुसमूह का अभिभव करनेवाले है', पर साथ ही वे है (जैसा कि अगली ऋचा मे उनके विषय मे कहा गया है) 'ब्राह्मणास पितर सोम्यास' अर्थात् वे दिव्य वाणी (ब्रह्म) वाले है और इस वाणी के साथ रहनेवाले अन्त प्रेरित ज्ञान से युक्त है[2]। यह दिव्य वाणी है 'सत्य मन्त्र', यह विचार (बुद्धि) है जिसके कि सत्य द्वारा अगिरस् उषा को जन्म देते है और सोये हुए सूर्य को द्युलोक में उदित करते है। इस दिव्य वाणी (ब्रह्म) के लिये दूसरा शब्द जो वेद मे प्रयुक्त होता है वह है 'अर्क', जिसके कि अर्थ दोनो होते है मन्त्र और प्रकाश, और जो कभी-कभी सूर्य का भी वाचक होता है। इसलिये यह है प्रकाश की दिव्य वाणी (ब्रह्म), वह वाणी (ब्रह्म) जो उस सत्य को प्रकाशित करती है जिसका कि सूर्य अधिपति है, और सत्य के गुह्य स्थान मे इसका उद्भूत होना सबद्ध है सूर्य द्वारा अपनी गोरूप ज्योतियो की वर्षा करने से, सो हम ७ ३६ १ में पढते है 'सत्य के सदन मे ब्रह्म उद्भूत होवे, सूर्य ने अपनी रश्मियो द्वारा गौओ को उन्मुक्त कर दिया है ।

प्र ब्रह्मैतु सदनाद् ऋतस्य, वि रश्मिभि ससृजे सूर्यो गा ।

इस (ब्रह्म) को भी, जैसे कि स्वय सूर्य को, प्राप्त करना, अधिगत करना होता है और इसकी प्राप्ति के लिये भी (अर्कस्य सातौ) देवो को अपनी सहायता देनी होती है, जैसे कि सूर्य की प्राप्ति (सूर्यस्य सातौ) और स्व की प्राप्ति (स्वर्षातौ) के लिये।

इसलिये अङ्गिरा न केवल अग्नि-बल है किन्तु बृहस्पति-बल भी है। बृह-

[1]तुलना करो १०-६२ में जो अगिरसो का वर्णन है कि ये अग्नि के पुत्र है, रूप मे विभिन्न है, पर ज्ञान मे गम्भीर है—'गभीर-वेपस'। (मत्र ५)

[2]वेद मे ब्राह्मण शब्द का यही अर्थ प्रतीत होता है। यह तो निश्चित है कि जात मे ब्राह्मण या पेशे से पुरोहित इसका अभिप्राय बिलकुल नही है। यहा पितर योद्धा भी है, जहा विप्र है। चार वर्णो का वर्णन ऋग्वेद मे एक ही जगह आया है, उस गभीर पर अपेक्षाकृत पीछे की रचना पुरुषसूक्त मे।

स्पति को अनेक वार 'आंगिरस' करके पुकारा गया है जैसे कि, ६-७३-१ में—

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिरांगिरसो हविष्मान्।

'बृहस्पति, जो पहाड़ी को (पणियों की गुफा को) तोड़नेवाला, प्रथम उत्पन्न हुआ, सत्यवाला, आंगिरस और हविवाला है' और १०-४७-६ में हम बृहस्पति का आंगिरस रूप में और भी अधिक अर्थपूर्ण वर्णन पाते हैं।

प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां बृहस्पतिं मतिरच्छा जिगाति।

य आंगिरसो नमसोपसद्यः . . .

'विचार (बुद्धि) बृहस्पति की तरफ जाता है, सात किरणोंवाले, सत्य धारणा-वाले, पूर्ण मेधावाले की तरफ, जो आंगिरस है, नमस्कार द्वारा पास पहुंचने योग्य।' २-२३-१८ में भी गौओं की उन्मुक्ति और जलों की उन्मुक्ति के प्रकरण में बृहस्पति को 'अंगिर' संबोधित किया गया है।

तव श्रिये व्यजिहीत पर्वतो गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः।

इन्द्रेण युजा तमसा परीवृतं बृहस्पते निरपामौब्जो अर्णवम्॥

'तेरी विभूति के लिये पर्वत जुदा-जुदा फट गया जब कि, हे अंगिर! तूने गौओं के बाड़े को ऊपर उन्मुक्त कर दिया, इन्द्र के साथ में, हे बृहस्पति! तूने जलों के पूर को बलपूर्वक खोल दिया जो अन्धकार से सब तरफ से आवृत था।'

हम यहां प्रसंगवश इस बात की तरफ भी ध्यान दे सकते हैं कि जलों की उन्मुक्ति जो कि वृत्रगाथा का विषय है कितनी घनिष्ठता के साथ गौओं की उन्मुक्ति के साथ संबद्ध है जो कि अंगिरस् ऋषियों की और पणियों की गाथा का विषय है तथा यह कि वृत्र और पणि दोनों ही अंधकार की शक्तियां हैं। गौ सत्य की, सच्चे प्रकाशकर्त्ता सूर्य की (सत्यं तत् . . . सूर्यं) ज्योतियां हैं, और वृत्र के आवरक अंधकार से उन्मुक्त हुए जलों को कभी सत्य की धाराएं (ऋतस्य धाराः) कहा गया है तो कभी 'स्वर्वती आपः' अर्थात् स्व के, प्रकाशमय सौर लोक के जल।

तो हम देखते हैं कि प्रथम तो अंगिरस् अग्नि की—द्रष्टृसंकल्प की—शक्ति है, वह ऋषि है जो कि प्रकाश द्वारा, ज्ञान द्वारा काम करता है। वह अग्नि के परा-क्रम की ज्वाला है, उस अग्नि के जो महान् शक्ति के रूप में यज्ञ का पुरोहित होने

के लिये और यात्रा का नेता बनने के लिये जगत् मे उत्पन्न हुआ है, अग्नि जो कि वह पराक्रम है जिसके विषय में वामदेव (४ १ १) देवो से प्रार्थना करता है कि वे उसे यहा मर्त्यो में अमर्त्य के तौर पर स्थापित करे, वह बल जो कि महान् कार्य (अरति) को सपन्न करता है। फिर दूसरे स्थान पर अंगिरस् बृहस्पति की शक्ति है या कम-से-कम बृहस्पति की शक्ति से युक्त है, वह बृहस्पति जो कि सत्य विचारनेवाला और सात किरणोवाला है, जिसकी प्रकाशमय सात किरणे उस सत्य को धारण करती है जिसे वह विचारता है (सप्तधीति), और जिसके सात मुख उस शब्द (मन्त्र) को जपते है जो सत्य का प्रकाश करता है, वह देव जिसके विषय में (४ ५० ४, ५ में) कहा गया है–

बृहस्पति प्रथम जायमानो महो ज्योतिष परमे व्योमन् ।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत् तमासि ॥
स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वल रुरोज फलिग रवेण। ....

'बृहस्पति जो प्रथम होकर उत्पन्न होता है, महान् प्रकाश मे से उच्चतम आकाश मे, बहुत से रूपो मे उत्पन्न होनेवाला, सात मुखवाला, सात रश्मिवाला अपने शब्द से अधकार को छिन्न-भिन्न कर देता है। वह अपने ऋक् तथा स्तुभ् (प्रकाश के मत्र तथा देवो के पोषक छद) वाले गण (सेना) द्वारा बल को अपने शब्द से भग्न कर देता है।' इसमें सदेह नही किया जा सकता कि बृहस्पति के इस गण या सेना से (सुष्टुभा ऋक्वता गणेन) यहा अभिप्राय अंगिरस् ऋषियो से ही है जो कि सत्य मन द्वारा इस महान् विजय में सहायता करते है।

इन्द्र के लिये भी वर्णन आता है कि वह अंगिरस् बनता है या अंगिरस् गुणो से युक्त होता है।* 'वह अंगिरसो के साथ अंगिरस्तम होवे, वृषो के साथ वृषा (वृषा पुशक्ति है, पुरुष की नृ की शक्ति है, रश्मियो और 'अप' जलो की अपेक्षा से जो कि 'गाव' 'धेनव' होते है), सखाओ के साथ सखा होता हुआ, वह ऋक्-वालो के साथ ऋक्वाला, यात्रा करनेवालो (गातुभि –जो आत्माए विशाल और

*सो अंगिरोभिरंगिरस्तमो भूद् वृषा वृषभि सखिभि सखा सन् ।
ऋग्मिभिर्ऋग्मी गातुभिर्ज्येष्ठो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥ ऋ० १ १००.४

सत्यस्वरूप तक पहुचानेवाले मार्ग पर अग्रसर होती है उनके) के साथ सबसे बडा है, वह इन्द्र हमारे फलने-फूलने के लिये मरुत्वान् (मरुतो से संयुक्त) होवे।' यहा प्रयुक्त किये गये विशेषण सब अगिरस् ऋषियो के अपने निजी विशेषण है और यह कल्पना तथा आशा की गयी है कि अगिरस्त्व (अगिरसपने) को बनानेवाले जो सबध या गुण है उन्हे इन्द्र अपनेमें धारण कर लेवे। इसी तरह ऋ० ३-३१-७ में कहा है-

अगच्छदु विप्रतम सखीयन् असूदयत् सुकृते गर्भमद्रि ।
ससान मर्यो युवभिर्मखस्यन् अथाभवद् अगिरा सद्यो अर्चन् ॥

'सबसे अधिक ज्ञान-प्रकाशवाला (**विप्रतम**, यह ६-११-३ के 'वेपिष्ठो अगिरसा विप्र' का सवादी प्रयोग है), मित्र होता हुआ (**सखीयन्**, अगिरस् महान् युद्ध मे मित्र या साथी होते है) वह चला (**अगच्छत्**–उस मार्ग पर–गातुमि–जिसे सरमा ने खोज निकाला था), पहाडी ने सुकर्म करनेवाले के लिये अपनी गर्भित वस्तु (गर्भम्) को तुरत प्रस्तुत कर दिया, जवानो सहित उस मर्द ने (**मर्यो युवभि**–युवा शब्द अजर अक्षीण शक्ति के भाव को भी प्रकट करता है) सपत्ति की पूर्णता को चाहते हुए उसे अधिगत कर लिया (मखस्यन् ससान), इस तरह एकदम स्तोत्र गाते हुए (अर्चन्) वह अगिरस् हो गया।'

यह इन्द्र जो कि अगिरस् के सब गुणो को धारण कर लेता है, हमें स्मरण रखना चाहिये, **स्व** का (**सूर्य** या **सत्य** के विस्तृत लोक का) अधिपति है और यह हमारे पास नीचे उतर आता है अपने दो चमकीले घोडो (हरि) के साथ–जिन घोडो को एक जगह 'सूर्यस्य केतु' पुकारा गया है अर्थात् सूर्य की ज्ञानमयी बोध की या दृष्टि की दो शक्तिया–इसलिये कि यह अधकार के पुत्रो के साथ युद्ध करे और महान् यात्रा मे सहायता पहुचावे। वेद के गुह्य अर्थ के सबध मे हम जिन परिणामो पर पहुचे है वे सब यदि ठीक है तो इन्द्र अवश्य ही दिव्य मन की शक्ति (इन्द्र, पराक्रममूर्ति, शक्तिशाली* देव) होना चाहिये, उस दिव्य मन की जो

---

*पर साथ ही शायद 'चमकीला' भी, जैसे इन्दु, चन्द्रमा; इन्द्र, तेजस्वी, सूर्य, इन्ध्, प्रदीप्त करना।

कि मनुष्य के अदर जन्म ग्रहण करना है और वहा शब्द (ब्रह्म, मत्र) तथा सोम द्वारा बढता है अपनी पूर्ण दिव्यता तक पहुचने के लिये। यह वृद्धि प्रकाश के जीतने तथा बढने के द्वारा जारी रहती है, बढती जाती है, जबतक कि इन्द्र अपने-आपको पूर्णतया उस सपूर्ण प्रकाशमय गोसमूह के अधिपति के रूप मे प्रकट नही कर देता जिसे कि वह 'सूर्य की आख' द्वारा देखता है, जबतक कि वह ज्ञान के सपूर्ण प्रकाशो का स्वामी दिव्य मन नही बन जाता।

इन्द्र अगिरस् बनने म मरुत्वान् होना है अर्थात् मरुतोवाला या मरुत् है सहचारी जिसके ऐसा बनना है, और ये मरुत्, आधी और विद्युत् के चमकीले तथा रौद्र देव, वायु की अर्थात् प्राण या जीवन के अधिष्ठातृ-देव की जबर्दस्त शक्ति को और अग्नि अर्थात् द्रष्टृ-सकल्प की शक्ति को अपने अदर मिलाते है, अतएव ये ऋषि, कवि है जो ज्ञान मे (अपना) काय करते है (कवयो विद्मनापस), जब कि ये साथ ही युद्ध करनेवाली शक्तिया भी है जो दृढतया स्थापित वस्तुओ को, कृत्रिम बाधाओ को (कृत्रिमाणि रोधासि), जिनम अन्धकार के पुत्रो ने अपने को सुरक्षित रूप मे जमा रखा है, द्युलोक के प्राण की और द्युलोक की विद्युत्की शक्ति के द्वारा, उखाड फेंकती है, और वृत्र तथा दस्युओ को जीतने में इन्द्र को सहायता देती है। गुह्य वेद के अनुसार ये मरुत् वे जीवन-शक्तिया प्रतीत होती है जो कि मर्त्य-चेतना के अपने-आपको सत्य और आनन्द की अमरता मे बढाने या विस्तृत करने के प्रयत्न में विचार के कार्य को अपनी वातिक या प्राणिक शक्तियो द्वारा पोषण प्रदान करती है। कुछ भी हो, उन्हे भी ६-४९-११ मे अगिरस के गुणा के साथ काम करते हुए (अगिरस्वत्) वर्णित किया गया है—'हे जवानो और ऋषियो तथा यज्ञ की शक्तियो, मरुतो! (दिव्य) शब्द का उच्चारण करते हुए उच्च स्थान पर (या पृथ्वी के वरणीय स्तर पर या पहाडी पर 'अधि सानु पृश्ने' जो कि बहुत सभवत 'वरस्याम्' का अभिप्राय है) आओ, शक्तियो जो कि बढती हो, अगिरस्* के समान ठीक-ठीक चलती हो (मार्ग पर, गातु), उसको भी जो कि प्रकाश-

---

*यह ध्यान देने योग्य है कि सायण यहा इस विचार को पेश करने का साहस करता है कि अगिरस् का अर्थ है गतिशील किरणे (अग्, गति करना इस धातु से)

युक्त नही है (अचित्रम्, वह जिसने कि उपा के चित्र-विचित्र प्रकाश को नही पाया है, हमारे साधारण अन्धकार की रात्रि) प्रसन्नता देते हो।" यहा हम अगिरस्-कार्य की उन्ही विशेपताओ को देखते है, अग्नि की नित्य जवानी और शक्ति (अग्ने यविष्ठ), शब्द को प्राप्त करना और उसका उच्चारण करना, ऋषित्व (द्रष्टृत्व), यज्ञ के कार्य को करना, महान् मार्ग पर ठीक-ठीक चलना जो कि, जैसा कि हम देखेगे, सत्य के शब्द की ओर, बृहत् और प्रकाशमय आनन्द की ओर ले जाता है। मरुतो को ऐसा भी कहा गया है (१०।७८।५) कि मानो वे वास्तव मे "अपने सामसूक्तो सहित अगिरस् हो, वे जो कि सब रूपो को धारण करते है", (**विश्वरूपा अगिरसो न सामभि**)।

यह सब कार्य और प्रगति तब सभव बताये गये है जब कि **उषा** आती है। उपा का भी 'अगिरस्तमा' कहके तथा इसके अतिरिक्त 'इन्द्रतमा' भी कहके वर्णन किया गया है। अग्नि की शक्ति, अगिरस-शक्ति, अपने-आपको इन्द्र की विद्युत् मे तथा उपा की किरणो में भी व्यक्त करती है। दो ऐसे सदर्भ उद्धृत किये जा सकते है जो कि अगिरस-शक्ति के इस पहलू पर प्रकाश डालते है। पहला है ७।७९।२,३[2] में—"उपाए अपनी किरणो को द्युलोक के प्रातो, छोरो तक चमकने

या अगिरस् ऋषि। यदि वह महान् पडित अपने विचारो का और भी अधिक साहस के साथ अनुसरण करता हुआ उनके तार्किक परिणाम तक पहुचने मे समर्थ होता, तो वह आधुनिक वाद का उसके मुख्य मूलभूत अगो मे पहले से ही पता पा लेता।

[1]**आ युवान कवयो यज्ञियासो मरुतो गन्त गृणतो वरस्याम्।**
अचित्र चिद्धि जिन्वथा वृधन्त इत्था नक्षन्तो नरो अङ्गिरस्वत्॥
ऋ. ६।४९।११।

[2]**व्यञ्जते दिवो अन्तेष्वक्तून् विशो न युक्ता उषसो यतन्ते।**
स ते गावस्तम आ वर्तयन्ति ज्योतिर्यच्छन्ति सवितेव बाहू॥
अभूदुषा इन्द्रतमा मघोन्यजीजनत् सुविताय श्रवासि।
वि दिवो देवी दुहिता दधात्यगिरस्तमा सुकृते वसूनि॥ ऋ ७।७९।२,३

देती है, वे उन लोगो के समान मेहनत करती है जो कि किसी काम पर लगाये गये होते है। तेरी किरणें अन्धकार को भगा देती है, वे प्रकाश को ऐसे फैलाती है मानो कि सूर्य अपनी दो बाहुओं को फैला रहा हो। उषा हो गयी है (या उत्पन्न हुई है) इन्द्र-शक्ति से अधिक-से-अधिक पूर्ण (इन्द्रतमा), ऐश्वर्यों मे समृद्ध और उसने हमारे कल्याण-जीवन के लिये (या भलाई और आनन्द के लिये) ज्ञान की अन्त प्रेरणाओ, श्रुतियो को जन्म दिया है, देवी, द्युलोक की पुत्री, अङ्गिरस-पने से अधिक से अधिक भरी हुई (अगिरस्तमा) अच्छे कामो को करनेवाले के लिये अपने ऐश्वर्यों का विधान करती है।" वे ऐश्वर्य जिनसे कि उषा समृद्धिशालिनी है प्रकाश के ऐश्वर्य और सत्य की शक्ति के सिवाय और कुछ नही हो सकते, इन्द्र-शक्ति से अर्थात् दिव्य ज्ञानदीप्त मन की शक्ति से परिपूर्ण, वह (उषा) उस दिव्य मन की अन्त प्रेरणाओ, श्रुतियो को (श्रवासि) देती है जो श्रुतिया हमे आनन्द की तरफ ले जाती है, और अपने मे विद्यमान ज्वालायुक्त जाज्वल्यमान अगिरस-शक्ति के द्वारा वह अपने खजानो को उनके लिये प्रदान करती और विधान करती है जो कि महान् कार्य को ठीक ढग से करते है और इस प्रकार मार्ग पर ठीक तरीके से चलते है–(इत्था नक्षन्तो अगिरस्वत्)।

दूसरा सदर्भ ७।७५ मे है–"द्युलोक मे उत्पन्न हुई उषा ने सत्य के द्वारा (अन्धकार के आवरण को) खोल दिया है और वह विशालता (महिमानम्) को व्यक्त करती हुई आती है, उसने द्रोहो और अधकार (द्रुह्म्तम) के आवरण को हटा दिया है, तथा उस सबके जो कि प्रीतिरहित (अजुष्ट) है, अगिरस्-पने मे अधिक-से-अधिक परिपूर्ण वह (महान् यात्रा के) मार्गो को दिखलाती है।१। आज हे उष ! हमे महान् आनन्द (महे सुविताय) की यात्रा के लिये जगाओ, सुखभोग की महान् अवस्था के लिये (अपने ऐश्वर्यों को) विस्तारित करो, हममे अन्त प्रेरित ज्ञान से पूर्ण (श्रवस्युम्) विविध दीप्तिवाले (चित्रम्) रत्न को धारण कराओ, हे हम मर्त्यों मे मानुषि और देवि ! ।२। ये है दृश्य उषा की दीप्तियां जो कि आयी है, विविधतया दीप्त (चित्रा) और अमर रूप मे, दिव्य कार्यों को जन्म देती हुई वे अपने-आपको प्रसारित करती है, अन्तरिक्ष के कार्यों को उनमे भरती हुई,"–

जनयन्ता दैव्यानि व्रतानि, आपृणन्तो अन्तरिक्षा व्यस्थु*।

हम फिर अंगिरस्-शक्ति को यात्रा से सम्बन्धित पाते हैं, अन्धकार को दूर करने द्वारा तथा उषा की ज्योतियो को लाने द्वारा इस यात्रा के मार्गों का प्रकाशित होना पाते हैं। पणि प्रतिनिधि हैं, उन हानियो के (द्रुह, क्षतिया या वे जो क्षति पहुचाते हैं) जो दुष्ट शक्तियो द्वारा मनुष्य को पहुचायी जाती हैं, अन्धकार उनकी गुफा है, यात्रा वह है जो कि प्रकाश और शक्ति और ज्ञान के हमारे बढते हुए धन के द्वारा हमे दिव्य सुख और अमर आनन्द की अवस्था की ओर ले जाती है। उषा की अमर दीप्तिया जो मनुष्य मे दिव्य कार्यों (व्रतो) को जन्म देती है और पृथ्वी तथा द्यौ के बीच मे स्थित अन्तरिक्ष के कार्यों को (अर्थात्, उन प्राणमय स्तरो के व्यापार को जो कि वायु से शासित होते है और हमारी भौतिक तथा शुद्ध मानसिक सत्ता को जोडते हैं) उनमे (अपने दिव्य कार्यों से) आपूरित कर देती हैं वे ठीक ही अंगिरस शक्तिया हो सकती है। क्योकि वे भी दिव्य कार्यों को अक्षत बनाये रखने के द्वारा (अमर्धन्तो दैव्या व्रतानि) सत्य को प्राप्त करते और उसको बनाये रखते हैं। निश्चय ही यह उनका (अंगिरसो का) व्यापार है कि वे दिव्य उषा को मर्त्य (मानुष) प्रकृति के अन्दर उतार लावे जिससे कि वह दृश्य (प्रकट) देवी अपने ऐश्वर्यों को उडेलती हुई वहा उपस्थित हो सके, जो कि एकदम देवी और मानुषी है, (**देवि मर्तेषु मानुषि**), देवी जो मर्त्यो में मानुषी होकर आयी है।

---

*व्युषा आवो दिविजा ऋतेनाऽऽविष्कृण्वाना महिमानमागात्।
अप द्रुहस्तम आवरजुष्टमङ्गिरस्तमा पथ्या अजीग ॥
महे नो अद्य सुविताय बोध्युषो महे सौभगाय प्र यन्धि।
चित्रं रयिं यशसं धेह्यस्मे देवि मर्तेषु मानुषि श्रवस्युम् ॥
एते त्ये भानवो दर्शतायाश्चित्रा उषसो अमृतास आगु।
जनयन्तो दैव्यानि व्रतान्यापृणन्तो अन्तरिक्षा व्यस्थु ॥ (ऋ ७-७५-१,२,३)

अठारहवा अध्याय

सात-सिरोंवाला विचार, स्वः और दशग्वा ऋषि

तो वैदिक मन्त्रो की भाषा अगिरस् ऋषियो के द्विविध रूप का प्रतिपादन करती है। एक का सबध वेद के बहिरग से है, इसमे सूर्य, ज्वाला, उषा, गौ, अश्व, सोमसुरा, यज्ञिय मन्त्र ये सब एक-दूसरे मे गुथकर एक प्रकृतिवादसुलभ रूपक बनाते है, दूसरे अतरग रूप मे इस रूपक में से इसका आन्तरिक आशय निकाला जाता है। अगिरस् ज्वाला के पुत्र है, उषा की ज्योतिया है, सोम-रस को पीनेवाले और देनेवाले है, मत्र के गायक है, सदा युवा रहनेवाले और ऐसे वीर है कि सूर्य को गौओ को, घोडो को और सारे ही खजानो को अधकार के पुत्रो के पजे से हमारे लिये छीन लाते है। पर साथ ही वे सत्य के द्रष्टा, सत्य के शब्द को पा लेनेवाले और उसके बोलनेवाले है और सत्य की शक्ति के द्वारा वे प्रकाश और अमरता के उस विशाल लोक को हमारे लिये जीत लाते है जिसका वेद में इस रूप मे वर्णन हुआ है कि वह बृहत् है सत्य है, ऋत है और उस ज्वाला का स्वकीय घर है जिसके कि वे अगिरस् पुत्र है। यह भौतिक रूपक और ये आध्यात्मिक निर्देश आपस मे बडी घनिष्ठता के साथ गुथे हुए है और वे एक दूसरे से अलग नही किये जा सकते।

इसलिये हम सामान्य बुद्धि के आधार पर ही इस परिणाम पर पहुचने के लिये बाध्य होते है कि वह ज्वाला जिसका कि ऋत और सत्य अपना स्वकीय घर है स्वय उस ऋत और सत्य की ही ज्वाला है, कि वह प्रकाश जो कि सत्य से और सत्य विचार की शक्ति से जीतकर प्राप्त किया जाता है सिर्फ भौतिक प्रकाश नही है, वे गौए जिन्हे सरमा सत्य के पथ पर चलकर पाती है केवल भौतिक पशु नही है, घोडे केवल वह द्राविड लोगो की भौतिक पशुओ की सपत्ति नही है जिसे आक्राता आर्य-जातियो ने जीतकर अपने अधीन कर लिया था, न ही ये सब केवल-मात्र भौतिक उषा, उसके प्रकाश और इसकी तेजी से गति करती हुई किरणो के ही

रूपकात्मक वर्णन है, और न वह अधकार जिसके कि पणि तथा वृत्र रक्षक है केवल भारत की या उत्तरीय ध्रुव की रात्रियो का अधकार मात्र है। हम तो अब यहा तक बढ चुके है कि इस विषय मे एक युक्तियुक्त कल्पना प्रस्तुत कर चुके है, जिसके कि द्वारा हम इस सब आलकारिक रूपक के असली अभिप्राय को सुलझा सकते है और इन ज्योतिर्मय देवो तथा इन दिव्य प्रकाशमान ऋषियो की (अर्थात् अगिरसो की) वास्तविक दिव्यता की खोज निकाल सकते है।

अगिरस् ऋषि एक साथ दिव्य और मानव दोनो प्रकार के द्रष्टा है। वेद मे ऐसा द्विविध स्वरूप अपने-आपमें केवल इन ऋषियो के लिये ही असाधारण या विशिष्ट धर्म नही है। वैदिक देवताओ की भी दो प्रकार की क्रिया होती है, वे दिव्य है और अपने स्वरूप मे पहिले से विद्यमान है, पर वे मर्त्य स्तर पर अपनी क्रिया करते हुए मानव हो जाते है जब कि वे मनुष्य के अदर महान् उत्थान के लिये क्रमश बढ रहे होते है। उषा देवी की स्थिति वर्णन करते हुए यह भाव बडे सुन्दर ढग से व्यक्त किया गया है, 'देवी जो कि मर्त्यों के अदर मानुषी है', (देवि मर्तेषु मानुषि), पर अगिरस् ऋषियो के रूपक मे यह द्विविध स्वरूप परम्परा के द्वारा और अधिक पेचीदा हो गया है, जिस परम्परा के अनुसार कि वे मानव पितर है, प्रकाश के, मार्ग के और लक्ष्य के अन्वेषक है। हमे देखना होगा कि यह पेचीदगी वैदिक सप्रदाय और वैदिक प्रतीकवाद की हमारी कल्पना पर क्या प्रभाव डालती है।

अगिरस् ऋषि सामान्यत सख्या मे सात वर्णन किये गये है, वे 'सप्त विप्रा' है जो कि पौराणिक परम्परा* द्वारा हम तक सप्तर्षि (सात ऋषि) के रूप मे पहुचे है और जिन्हे भारतीय नक्षत्र-विद्या ने वृहद् ऋक्ष के तारामण्डल मे बैठा दिया है। पर साथ ही उन्हे 'नवग्वा' और 'दशग्वा' रूप में भी वर्णित किया गया है। यद्यपि ऋ ६ २२ २ मे उन प्राचीन पितरो के विषय मे कहा गया है कि सात द्रष्टा जो कि नवग्वा थे, (पूर्वे पितरो नवग्वा सप्त विप्रास) तो भी

---

*यह आवश्यक नही है कि सप्तर्षियो के जो नाम पुराण में आते है वे वही हो जो कि वैदिक परम्परा में है।

३ ३९ ५ में हम नवग्वा तथा दशग्वा इन दो विभिन्न श्रेणियों का उल्लेख पाते हैं, जिनमें कि दशग्वा संख्या में दस हैं और नवग्वा शायद नौ हैं, यद्यपि इनके नौ होने के बारे मे स्पष्ट वर्णन नहीं है–

सखा ह यत्र सखिभिर्नवग्वैरभिज्ञ्वा सत्वभिर्गा अनुग्मन्।
सत्य तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम्॥

"जहाँ अपने सखाओं नवग्वाओं के साथ एक सखा इन्द्र ने गौओं का अनुसरण करते हुए दस दशग्वाओं के साथ उस सत्य को पा लिया, सूर्य को भी जो कि अंधकार में रह रहा था।" दूसरी ओर ऋ. ४ ५१ ४ में हमें अंगिरसों के बारे में एक सामूहिक, एकवचनात्मक वर्णन मिलता है कि वे सात चेहरोंवाले या सात मुखोंवाले, नौ किरणोंवाले और दस किरणोंवाले हैं–(नवग्वे अंगिरे दशग्वे सप्तास्ये)। १० १०८ ८ में हमें एक दूसरे ऋषि 'अयास्य' का नाम मिलता है जो कि नवग्वा अंगिरसों के साथ जुड़ा हुआ है।[1] १० ६७ में इस 'अयास्य' के लिये कहा गया है कि यह हमारा पिता है जिसने सत्य में से उत्पन्न होनेवाले सात सिरों के महान् विचार को पाया है और यह अयास्य इन्द्र के लिये स्तुति-मंत्रों का गान करता[2] है। इसके अनुसार कि नवग्वा सात या नौ हैं, अयास्य आठवां या दसवां ऋषि होगा।

परम्परा यह बताती है कि अंगिरस् ऋषियों की दो श्रेणियों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व है, एक तो नवग्वा जिन्होंने नौ महीने यज्ञ किया और दूसरे दशग्वा जिनके यज्ञ का कार्यकाल दस महीने रहा। इस व्याख्या के अनुसार हमें नवग्वा और दशग्वा को इस रूप में लेना होगा कि वे 'नौ गौओं वाले' और 'दस गौओं वाले' हैं और प्रत्येक गौ तीस उषाओं की द्योतक है जिनसे मिलकर यज्ञ के वर्ष का एक महीना बनता है। परंतु कम-से-कम एक संदर्भ तो ऋग्वेद का ऐसा है जो कि ऊपर से देखने में इस परम्परागत व्याख्या के सीधा विरोध में जाता है।

---

[1] एह गमन्नृषय सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वा। (१०-१०८-८)

[2] इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्।
तुरीयं स्विज्जनयद् विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन्।(१०-६७-१)

क्योंकि ५,४५ की ७वी ऋचा मे और फिर ११वीं मे यह कहा गया है कि वे नवग्वा थे, न कि दशग्वा, जिन्होने दस महीने यज्ञ किया या स्तुति-मत्रो का गान किया। यह ७वी ऋचा इस प्रकार है–

अनूनोदत्र हस्तयतो अद्रिरार्चन् येन दश मासो नवग्वा ।

ऋतं यती सरमा गा अविन्दद् विश्वानि सत्याङ्गिराश्चकार ॥

"यहा हाथ से हटाये हुए पत्थर ने आवाज की (या वह हिला), जिससे कि नवग्वा दश मास तक मत्रपाठ करते रहे। सत्य की ओर यात्रा करती हुई सरमा ने गौओ को पा लिया, अगिरस् ने सब वस्तुओं को सत्य कर दिया।" और ११वी ऋचा मे इस कथन को फिर दोहराया गया है–

धियं वो अप्सु दधिषे स्वर्षां ययातरन् दश मासो नवग्वा ।

अया धिया स्याम देवगोपा अया धिया तुतुर्यामात्यंहः ॥

'मै तुम्हारे लिये जलो में (अर्थात् सात नदियो मे) उस विचार को रखता हू जो कि स्वर्ग को जीतकर हस्तगत कर लेता है,* (यह एक बार फिर उस सात सिरो के विचार का वर्णन आ गया जो सत्य से उत्पन्न हुआ है और जिसे अयास्य ने पाया है), जिसके द्वारा नवग्वाओं ने दस महीनो को पार किया। इस विचार के द्वारा हम देवो को अपने रक्षक के रूप में पा सके, इस विचार के द्वारा हम पाप को अतिक्रमण कर सके।' कथन बिल्कुल स्पष्ट है। सायण ने अवश्य सातवे मन्त्र की व्याख्या करते हुए एक हलका सा प्रयत्न यह किया है कि 'दश मास' दस महीने को उसने विशेषण मान लिया है और फिर उसका अर्थ किया है 'दस महीनो-

---

*सायण ने इसका अर्थ यह लिया है कि 'मै जलो के निमित्त से स्तुति करता हू' अर्थात् इसलिये कि वर्षा हो,–'धिय स्तुतिम् अप्सु अप्निमित्त दधिषे धारयामि।' पर यहा कारक अधिकरण-बहुवचन है और 'दधिषे' का अर्थ है 'मै रखता हू या थामता हू' अथवा अध्यात्मपरक अभिप्राय को ले तो 'विचारता हू' या 'विचार में थामता हू, अर्थात् ध्यान करता हू।' 'धी' की तरह 'धिषणा' का अर्थ है 'विचार', इस प्रकार 'धिय दधिषे' का अर्थ होगा 'मै विचारता हू' या 'विचार का ध्यान करता हूं।'

र्थात् दशग्वा', पर उसने भी इस असम्भव से अर्थ को वैकल्पिक रूप में ही ग्या है और ग्यारहवी ऋचा में इसे बिल्कुल छोड दिया है वैकल्पिक रूप नही लिया है।

क्या हम यह अनुमान करे कि इस सूक्त का कवि परम्परा को भूल गया इसलिये वह दशग्वा तथा नवग्वा मे गडबड कर रहा था? ऐसी कोई मानने योग्य नही है। कठिनाई हमारे सामने इसलिये उपस्थित होती हम यह समझ बैठते है कि वैदिक ऋषियो के मन मे नवग्वा तथा दशग्वा ये ऋषियो की दो अलग-अलग श्रेणिया थी। परन्तु इसकी अपेक्षा प्रतीत यह होता है कि ये दोनो अगिरस्त्व की (अगिरसपने की) दो अलग अलग शक्तिया थी और उस अवस्था मे नवग्वा ऋषि ही दशग्वा हो सकते थे, यदि वे अपने यज्ञ के काल को नौ के स्थान पर बढाकर दस महीने का कर लेते। सूक्त मे 'दश मासो अतरन्' इस प्रयोग मे यह भाव प्रकट होता है कि पूरे दस महीने के समय को पार कर लेने में कोई कठिनाई सामने आती थी। प्रतीत होता है कि यही काल था जिसके बीच मे अन्धकार के पुत्रो को यज्ञ पर आक्रमण करने का सामर्थ्य या हौसला हो सकता था, क्योकि यह सूचित किया गया है कि ऋषि दस महीनो को केवल तभी पार कर सकते है जब कि वे उस विचार को अपने अदर धारण कर लेते है जो कि 'स्व' अर्थात् सौर लोक को जीत लानेवाला है, पर एक बार जब वे इस विचार को पा लेते है तब निश्चित ही वे देवताओ के रक्षण मे हो जाते है और तब वे पाप के आक्रमणो से पार हो जाते है, पणियो और वृत्रो के द्वारा हो सकनेवाली क्षतियो से परे हो जाते है।

यह 'स्व' को विजय कर लानेवाला विचार (स्वर्षा धी) निश्चय से वही है जो कि सात-सिरोवाला विचार (सप्तशीर्ष्णी धी) है, सात-सिरो-वाला वह विचार जो सत्य में से पैदा हुआ है और जिसे नवग्वाओ के साथी अयास्य ने खोज निकाला है। क्योकि हमे बताया गया है कि अयास्य इसके द्वारा 'विश्वजन्य' हो गया और सब लोको के जन्मो का आलिंगन करते हुए उस-ने एक चौथे लोक को या चतुर्व्यूढ लोक को उत्पन्न किया और यह चौथा लोक निचले तीन लोको—द्यौ अन्तरिक्ष तथा पृथिवी—से परे का अतिमानस लोक ही

होना चाहिये जो कि घोर के पुत्र कण्व के अनुसार वह लोक है जहा मनुष्य वृत्र का वध कर चुकने के बाद द्यावा-पृथिवी को पार कर लेने के द्वारा पहुचते हैं। इसलिये यह चौथा लोक 'स्व' ही होगा। अयास्य का सात-सिरो-वाला विचार उसे 'विश्वजन्य' बन जाने लायक कर देता है, जिसका सभवत यह अभिप्राय है कि वह आत्मा के सब लोको या जन्मो को अधिगत (प्राप्त) कर लेता है, और वह विचार उसे इस योग्य कर देता है कि वह किसी चौथे लोक (स्व) को प्रकट या उत्पन्न कर सके (**तुरीय स्विज्जनयद् विश्वजन्यः**), और वह विचार भी जो कि सात नदियो में स्थापित किया गया है और जिससे नवग्वा ऋषि दस महीनो को पार कर लेने योग्य हो जाते हैं 'स्वर्षा' है अर्थात् वह 'स्व' पर अधिकार करा देता है। ये दोनो स्पष्टतया एक ही है। तो क्या इससे हम इस परिणाम पर नही पहुचते कि वह अयास्य ही है जिसके नवग्वा के साथ आ मिलने से नवग्वाओ की सख्या बढकर दस हो जाती है, और जो 'स्व' को जीत लेनेवाले सात-सिरोवाले विचार की अपनी खोज से उन्हे इस योग्य बना देता है कि वे नौ महीने के यज्ञ को लबा करके दसवे महीने तक ले जा सकें? इस प्रकार वे दस दशग्वा हो जाते हैं। इस प्रकरण मे हम इसपर भी ध्यान दे सकते है कि सोम के मद का, जिससे कि इन्द्र 'स्व' की शक्ति (स्वर्णर) को प्रकट करता है या बढाता है, इस रूप मे वर्णन हुआ है कि वह दस किरणोवाला है और प्रकाशक है (**दशग्व वेपयन्तम्** ८-१२-२)।

यह परिणाम ३-३९-५ के सदर्भ से, जिसे हम पहले ही उद्धृत कर आये हैं, पूरी तौर से पुष्ट हो जाता है। क्योकि वहा हम पाते है कि इन्द्र खोयी हुई गौओ के पद-चिह्नो का अनुसरण तो नवग्वाओ की सहायता से करता है, पर यह केवल दस दशग्वाओ की मदद से ही हो पाता है कि वह उस अनुसरण का जो उद्देश्य है उसमे सफल होता है और वह उस सत्य को, सत्य तत्, उस सूर्य को जो कि अन्धकार में पडा हुआ था, पा लेता है। दूसरे शब्दो में जब नौ महीने का यज्ञ लबा होकर दसवे महीने में पहुच जाता है, जब नवग्वा दसवे ऋषि अयास्य के सात-सिरोवाले विचार के द्वारा दस दशग्वा बन जाते है, तभी 'सूर्य' मिल पाता है और 'स्व' का प्रकाशमान लोक खुल जाता है तथा जीत लिया

जाता है। 'स्व' की यह विजय ही यज्ञ का और अंगिरस ऋषियों से पूर्ण किये जानेवाले महान् कार्य का लक्ष्य है।

पर महीनों के अलंकार का क्या अभिप्राय है? क्योंकि अब यह स्पष्ट हो गया है कि यह एक अलंकार है, एक रूपक है इसलिये वर्ष यहां प्रतीकरूप है और महीने भी प्रतीकरूप हैं[1]। यह एक वर्ष के चक्कर में हो पाता है कि खोया हुआ सूर्य और खोयी हुई गौएं फिर से प्राप्त होती हैं, क्योंकि १०-६२-२ में हम स्पष्ट कथन पाते हैं–

ऋतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम्।

"'सत्य के द्वारा, एक वर्ष के चक्कर में', अथवा सायण ने जैसी इसकी व्याख्या की है कि 'इस यज्ञ के द्वारा जो कि एक वर्ष तक चला', उन्होंने वल का भेदन किया।" यह संदर्भ अवश्य उत्तरीय ध्रुववाली कल्पना का अनुमोदन करता हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि यहां सूर्य के दैनिक नहीं, किंतु वार्षिक प्रत्यावर्तन का उल्लेख है। लेकिन अलंकार के इस बाह्य रूप से हमारा कोई मतलब नहीं; न ही इसका प्रमाणित हो जाना हमारी अपनी कल्पना पर किसी प्रकार से असर डालता है क्योंकि यह बड़ी अच्छी प्रकार हो सकता है कि उत्तरीय ध्रुव की लंबी रात्रि, वार्षिक सूर्योदय तथा अविच्छिन्न उषाओं के अद्भुत अनुभव को रहस्यवादियों ने आत्मिक रात्रि तथा इसमेंसे कठिनता से होनेवाले प्रकाशोदय का अलंकार बना लिया हो। पर समय का, महीनों तथा वर्षों का यह विचार प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया गया है, यह बात वेद के दूसरे संदर्भों में स्पष्ट होती है, विशेषकर बृहस्पति को कहे गये गृत्समद के सूक्त २-२४ में।

इस सूक्त में बृहस्पति का वर्णन इस रूप में किया गया है कि उसने गौओं को हांका, दिव्य शब्द के द्वारा, ब्रह्मणा, वल को तोड़ डाला, अन्धकार को छिपा दिया और 'स्व' को सुदृश्य कर दिया[2]। इसका पहिला परिणाम यह होना

---

[1] देखो कि पुराणों में युग, पक्ष, मास आदि सब प्रतीकरूप हैं और यह कहा गया है कि मनुष्य का शरीर संवत्सर है।

[2] उद् गा आजदभिनद् ब्रह्मणा वलमगूहत्तमो व्यचक्षयत् स्वः। (ऋ. २-२४-३)

है कि वह कुआ बलपूर्वक तोडा जाकर (यमोजसातृणत्) खुल जाता है, जिस के मुह पर चट्टान पडी हुई है और जिसकी धाराए शहद की, मधु की, मोम के माधुर्य की है, ('अश्मास्यम् अवत मधुधारम्' २-२४-८)। चट्टान मे ढका हुआ, यह शहद का कुआ अवश्य वह आनन्द है या दिव्य मोक्षसुख है, जो आनन्द-मय अत्युच्च त्रिगुणित लोक मे रहता है, जो त्रिगुणित लोक पौराणिक सम्प्रदाय के सत्य, तपस् और जन-लोक है जो कि सत्, चित्-तपस् और आनन्द इन तीन उच्चतम तत्त्वो पर आश्रित है। इन तीन के अधोभाग मे चौथा वेद का 'स्व' और उपनिषद् और पुराणो का 'मह' है, जो सत्य का लोक है*। इन चारो से मिलकर चतुर्गुणित चौथा लोक बनता है, (तुरीय, नीचे के तीन लोको की अपेक्षा से भी चौथा)। ऋग्वेद मे इन चार का वर्णन इस रूप मे आया है कि ये चार अत्युच्च तथा गुह्य स्थान है और 'उच्चतर चार नदियो' के आदिस्रोत है। तो भी यह ऊपर का चतुर्गुणित लोक कही-कही दो मे विभक्त हुआ प्रतीत होता है, 'स्व' जिसका अधोभाग है और 'मय' या दिव्य मोक्षसुख शिखर है, जिससे कि आरोहण करते हुए आत्मा के पाच लोक या जन्म (दो ये और तीन निम्नतर) हो जाते है। अन्य तीन नदिया सत्ता की तीन निम्नतर शक्तिया है, जिनमे कि तीन निम्न लोको के तत्त्व निर्मित होते है।

इस रहस्यमय शहद के कुए को वे सब पीते है जो 'स्व' को देखने मे समर्थ होते है और वे इसके लहराते हुए माधुर्य के स्रोत को खोलकर एक साथ कई धाराओ में प्रवाहित कर देते है—

---

*उपनिषद् तथा पुराणो मे 'स्व' और 'द्यौ' मे कोई फर्क नही किया गया है। इसलिये यह आवश्यक हुआ कि 'सत्य के लोक' के लिये एक चौथा नाम ढूढा जाय और यह 'मह' मिल गया है, जिसके विषय में तैत्तिरीय उपनिषद् मे यह कहा है कि महाचमस्य ने इसे चौथी व्याहृति के रूप में जाना था, जब कि शेष तीन व्याहृतिया थी, स्व, भुव और भू अर्थात् वेद के द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी। (देखो, तै० ५-१—भूर्भुव सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतय। तासामु ह स्मैता चतुर्थी महाचमस्य प्रवेदयते। मह इति।)

है), विना ही प्रयत्न के एक (लोक) दूसरे मे चला जाता है, और ये ही है जिनको कि ब्रह्मणस्पति ने ज्ञान के लिये व्यक्त किया है।' ये चार (या दो) सनातन लोक है जो 'गुहा' मे छिपे हुए है, सत्ता के वे गुह्य, अनभिव्यक्त या पराचेतन अग है जो यद्यपि अपने-आपमें सत्ता की सनातन रूप से विद्यमान अवस्थाए (सना भुवना) है पर हमारे लिये वे असत् है और भविष्य मे है, उन्हे सद्रूप मे लाया जाना है या रचा जाना है। इसलिये वेद मे स्व के लिये कही तो यह कहा है कि उसे दृश्य किया गया (जैसे यहा, व्यचक्षयत् स्व) या ढूढ लिया गया और हस्तगत कर लिया गया (अविदत्, असनत्), और कही यह कहा है कि उसे रचा गया (भू, कृ)।

ऋषि कहता है कि ये गुह्य सनातन लोक समय की गति के द्वारा, महीनो और वर्षो द्वारा, हमारे लिये बन्द पडे है, इसलिये स्वभावत हमे समय की गति द्वारा ही इन्हे अपने अन्दर खोज लेना है, प्रकाशित करना है, जीतना है, रचना है, फिर भी, एक अर्थ मे, समय के विरोध मे जाकर। एक आन्तरिक या आध्यात्मिक समय में होनेवाला यह विकास, मुझे लगता है, वही है जिसे यज्ञिय वर्ष के और दस महीने के प्रतीक से प्रकट किया गया है, जो वर्ष और महीने कि उससे पहले विताने होते है जब कि आत्मा का प्रकाशक मन्त्र (ब्रह्म) सात-सिरोवाले उस स्वर्विजयी विचार को ढूढ लेने योग्य होता है, जो अन्त मे चलकर हमें वृत्र और पणियो की सब क्षतियो से पार कर देता है।

नदियो और लोको का सम्बन्ध हमे १ ६२ मे स्पष्ट रूप से मिलता है, जहा कि इन्द्र के विषय में यह वर्णन आया है कि वह नवग्वाओ की सहायता से पर्वत को तोडता है और दशग्वाओ की सहायता से वल का भेदन करता* है। अगिरस ऋषियो से स्तुति किया गया इन्द्र उषा, सूर्य और गौओ के द्वारा अन्धकार को खोल देता है, वह पार्थिव पर्वत की ऊपर की चौरस भूमि को फैलाकर विस्तृत कर देता

और अधिक प्रबल ही होता है।

*स सुष्टुभा स स्तुभा सप्त विप्रै. स्वरेणाद्रि स्वर्यो नवग्वै ।
सरण्युभि फलिगमिन्द्र शक्र वल रवेण दरयो दशग्वै ॥ (१।६२।४)

है और द्यौ के उच्चतर लोक को थाम लेता है'। क्योंकि चेतना के उच्चतर स्तरों को खोल देने का परिणाम होता है भौतिक स्तर के विस्तार का बढ़ना और मानसिक स्तर की उच्चता का और ऊंचा होना। ऋषि नोधा आगे कहता है, "यह सचमुच उसका सबसे अधिक महान् कार्य है, उस कर्ता का सुन्दरतम कर्म है (दस्मस्य चारुतममस्ति दंस) कि चार उच्चतर नदियां मधु की धारा बहाती हुई कुटिलता के दो लोकों को पोषण देती हैं।"

उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन् मध्वर्णसो नद्यश्चतस्रः। (१-६२-५)

यह फिर वही मधु की धाराओंवाला कुआं आ गया जो अपनी अनेक धाराओं को एक साथ नीचे प्रवाहित करता है, जो धाराएं दिव्य सत्ता, दिव्य चेतनाशक्ति, दिव्य आनन्द, दिव्य सत्य की वे चार उच्चतर नदियां हैं जो अपने माधुर्य के प्रवाह के साथ मन और शरीर के दो लोकों के अन्दर उतरकर उन्हें पालती-पोसती हैं। ये दो लोक, ये रोदसी, साधारणतः कुटिलता के अर्थात् अनृत के लोक हैं—ऋत या सत्य सरल है और अनृत या असत्य कुटिल है—क्योंकि वे लोक अदिव्य शक्तियों, वृत्रों तथा पणियों, अन्धकार तथा विभक्तता के पुत्रों से होनेवाली क्षतियों के लिये खुले होते हैं। ऋषि आगे चलकर अयास्य के उस कर्म के परिणाम को बताता है, जो कि पृथिवी और द्यौ के सत्य सनातन तथा एकीभूत रूप को खोलकर प्रकट कर देता है। "अयास्य ने अपने स्तुतिमन्त्रों से सनातन और एक घोंसले में रहने-वाले दो को खोलकर उनके द्विविध रूपों (दिव्य तथा मानवीय?) में प्रकट कर दिया, पूर्ण रूप से कार्यसिद्धि करते हुए उसने पृथिवी और द्यौ को (व्यक्त हुए पराचेतन के, 'परमं गुह्यम्' के) सर्वोच्च व्योम में थाम लिया, जैसे भोगी अपनी दो पत्नियों को²।" आत्मिक जीवन के सनातन आह्लाद में भरकर आत्मा का अपनी दिव्य रूप में परिणत हुई मानसिक तथा शारीरिक सत्ता में रस लेने

---

¹गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म वि वरुषसा सूर्येण गोभिरन्धः।
वि भूम्या अप्रथय इन्द्र सानु दिवो रज उपरमस्तभायः। (१।६२।५)

²द्विता वि वव्रे सनजा सनीळे अयास्यः स्तवमानेभिरर्कैः।
भगो न मेने परमे व्योमन्नधारयद्रोदसी सुदंसाः॥ (१।६२।७)

का इससे अधिक स्पष्ट और सुन्दर आलंकारिक वर्णन नहीं हो सकता था।

ये विचार और इसमे आये कई वाक्यांश बिल्कुल वैसे ही है जो गृत्समद के सूक्त मे आते है। नोधा रात्रि और उषा के, काली भौतिक चेतना तथा चमकीली मानसिक चेतना के संबंध मे कहता है कि वे फिर नवीन रूप मे जन्म लेकर (पुनर्भवा) द्यौ और पृथिवी के इधर-उधर अपनी स्वकीय गतियो मे एक-दूसरे के अन्दर चली जाती हैं,[1] **स्वेभिरेवैः . . चरतो अन्यान्या,** सनातन मित्रता में आबद्ध होकर जिस मित्रता को उनका पुत्र उच्च कार्यसिद्धि द्वारा करता है और वह उन्हे इस प्रकार थामता है। **सनेमि सख्य स्वपस्यमान सूनुर्दाधार शवसा सुदसा ।९।** नोधा के सूक्त की ही तरह गृत्समद के सूक्त मे भी अंगिरस सत्य की प्राप्ति के द्वारा और असत्य के अनुसधान द्वारा 'स्व' को अधिगत करते है,—उस सत्य को अधिगत करते है जहा से वे मूलत आये है और जो सभी दिव्य 'पुरुषो' का 'स्वकीय घर' है। 'वे जो लक्ष्य की ओर अग्रसर होते है और पणियो की निधि को पा लेते हैं, उस परम निधि को जो गुहा में छिपी पडी थी, वे ज्ञान को अपने अन्दर रखते हुए और अनृतो को देखते हुए फिर उठकर वहा चले जाते है जहा से वे आये थे और उस लोक मे प्रविष्ट हो जाते हैं। सत्य से युक्त, असत्यो पर दृष्टि डालते हुए, वे द्रष्टा फिर उठकर महान् पथ मे आ जाते है—'[2] महस्पथ, सत्य का पथ या महान् विस्तृत लोक जो कि उपनिषदो का 'मह' है।

अब हम वेद के इस रूपक की गुत्थी को सुलझाना आरम्भ करते हैं। बृहस्पति है सात किरणोवाला विचारक 'सप्तगु', 'सप्तरश्मि', वह सात चेहरो या सात मुखोवाला अंगिरस है, जो अनेक रूपो मे पैदा हुआ है 'सप्तास्य तुविजात', नौ किरणोवाला है, दस किरणोवाला है। सात मुख सात अंगिरस है, जो उस दिव्य

---

[1] सनाद् दिव परि भूमा विरूपे पुनर्भवा युवती स्वेभिरेवैः ।
कृष्णेभिरक्तोषा रुशद्भिर्वपुभिरा चरतो अन्यान्या ॥ (१।६२।८)

[2] अभिनक्षन्तो अभि ये तमानशुर्निधि पणीना परम गुहा हितम् ।
ते विद्वास प्रतिचक्ष्यानृता पुनर्यत उ आयन् तदुदीयुराविशम् ॥
ऋतावान प्रतिचक्ष्यानृता पुनरात आतस्थु कवयो महस्पथ । (२।२४।६-७)

शब्द (ब्रह्म) को दुहराते हैं जो कि सत्य के स्थान से, 'स्व' से आता है और बृहस्पति जिस शब्द का स्वामी है, (ब्रह्मणस्पति)। साथ ही प्रत्येक मुख बृहस्पति की सात किरणो मे से एक-एक का सूचक है, इसलिये वे सात द्रष्टा, 'सप्त विप्रा', 'सप्त ऋषय' हैं, जो ज्ञान की इन सात किरणो को पृथक् पृथक् शरीरधारी बना देते हैं। फिर ये सात किरणें सूर्य के सात चमकीले घोडे, 'सप्त हरित' है और इनके आपस में मिलकर पूरा-पूरा एक हो जाने से अयास्य का सात-सिरोवाला विचार बन जाता है, जिसके द्वारा खोया हुआ सूर्य फिर से प्राप्त होता है। फिर वह विचार सात नदियो में, सत्ता के (दिव्य और मानव) सात तत्त्वो मे स्थापित किया जाता है, जिनकी कि समष्टि (जोड) परिपूर्ण आत्मिक सत्ता का आधार बनती है। यदि हम अपनी सत्ता की इन सात नदियो को जीत लेते हैं जिन्हें वृत्र ने रोक रखा है और इन सात किरणो को जीत लेते हैं जिन्हें वल ने रोका हुआ है, अपनी उस पूर्ण दिव्य चेतना को अधिगत कर लेते हैं जो सत्य के स्वतन्त्र अवतरण के द्वारा सारे अनृत से मुक्त हो गयी है, तो इससे 'स्व' का लोक सुरक्षित रूप से हमारे अधिकार में हो जाता है और हमारी मानसिक तथा भौतिक सत्ता हमारे दिव्य तत्त्वो के अन्त प्रवाह द्वारा अन्धकार, असत्य व मृत्यु से ऊपर उठकर दिव्य सत्ता मे परिणत हो जाती है और हमें उससे मिलनेवाला आनन्द उपलब्ध हो जाता है। यह विजय ऊर्ध्वयात्रा के बारह काल-विभागो में समाप्त होती है, इन बारह काल-विभागो का प्रतिनिधित्व करनेवाले यज्ञिय वर्ष के बारह महीने हैं, यह एक एक काल-विभाग एक के बाद एक सत्य की अधिकाधिक बृहत् उषा को लाता हुआ आता है, तबतक जबतक कि दसवे में पहुचकर विजय सुरक्षित तौर से नही हो जाती। नौ किरणो का और दस किरणो का बिलकुल ठीक-ठीक अभिप्राय क्या हो सकता है, यह अपेक्षाकृत अधिक कठिन प्रश्न है और अबतक हम इस स्थिति मे नहीं हैं कि इसे हल कर सके, पर अभी तक जो प्रकाश हमें मिल चुका है, वह भी ऋग्वेद के इस सपूर्ण रूपक के प्रधान भाग को प्रकाशित कर देने के लिये पर्याप्त है।

वेद के प्रतीकवाद का आधार यह है कि मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है, एक यात्रा है, एक युद्धक्षेत्र है। प्राचीन रहस्यवादी अपने सूक्तो का विषय मनुष्य के आध्या-

त्मिक जीवन को बनाते थे, पर उनके अपने लिये ये मूर्त रूप मे आ जाये और जो अपात्र हैं उनसे इनका रहस्य छिपा रहे इन दोनो उद्देश्यो मे वे इसे कवितामय अलकारो में चित्रित करते थे और उन अलकारो को वे अपने युग के बाह्य जीवन मे से लिया करते थे। वह जीवन मुख्यतया पशुपालको और कृषको का जीवन था, क्योकि उस समय का जनसमुदाय युद्धो के कारण और जातियो के एक स्थान से उठकर अपने राजाओ के नीचे दूसरे स्थान पर जाते रहने के कारण बदलता रहता था। और इस सारी क्रिया मे यज्ञ के द्वारा देवताओ की पूजा सबसे अधिक गभीर और उज्ज्वल वस्तु हो गयी थी, शेष सब क्रियाए इसी मे आकर इकट्ठी हो गयी थी। क्योकि यज्ञ के द्वारा वर्षा होती थी जिससे भूमि उपजाऊ बनती थी, यज्ञ द्वारा पशुओ के रेवड और घोडे मिलते थे जिनका होना शान्तिकाल में और युद्ध मे आवश्यक था, सोना मिलता था, भूमि (क्षेत्र) मिलती थी, नौकर-चाकर मिलते थे, वीर योद्धा लोग मिलते थे जो महत्ता और प्रभुता को कायम करते थे, रण मे विजय मिलती थी, स्थल-यात्रा और जल-यात्रा मे सुरक्षा मिलती थी, जो यात्रा उस जमाने में बडी मुश्किल और खतरनाक होती थी, क्योकि आवा-गमन के साधन बहुत कम थे और अन्तर्जातीय सगठन बडा ढीला था। उस बाह्य जीवन के सारे मुख्य-मुख्य रूपो को जो उन्हे अपने चारो ओर दिखायी देते थे रहस्यवादी कवियो ने ले लिया और उन्हे आन्तरिक जीवन के सार्थक अल-कारो मे परिणत कर दिया। मनुष्य के जीवन को इस रूप में रखा गया है कि वह देवो के प्रति एक यज्ञ है, या इस रूप में कहा गया है कि वह एक यात्रा है और इस यात्रा को कही खतरनाक जलो को पार करने के अलकार से प्रकट किया गया है और कही इस रूप से कि वह जीवन की पहाडी के एक स्तर से दूसरे स्तर पर आरोहण करना है, और इस मनुष्य-जीवन को तीसरे इस तरह प्रकट किया गया है कि वह शत्रु-राष्ट्रो के विरुद्ध एक सग्राम है। पर इन तीनो अलकारो को जुदा-जुदा नही रखा गया है। यज्ञ भी एक यात्रा है, सचमुच यज्ञ को स्वय इस रूप में वर्णित किया गया है कि वह दिव्य लक्ष्य की ओर चलना है, यात्रा करना है, इस यात्रा और इस यज्ञ दोनो को लगातार यह कहा गया है कि ये अधकार-मयी शक्तियो के विरुद्ध एक सग्राम है।

अगिरसो के कथानक मे वैदिक रूपक के ये तीनो प्रधान रूप आ गये है और आकर इकट्ठे जुड गये हैं। अगिरस् 'प्रकाश' के यात्री है। 'नक्षन्त' और 'अभिनक्षन्त' ये दोनो उनकी विशेष स्वाभाविक क्रिया को वर्णन करने के लिये प्रयुक्त किये गये हैं। वे वो हैं जो लक्ष्य की ओर यात्रा करते है और सर्वोच्च लक्ष्य को पा लेते है –

अभिनक्षन्तो अभि ये तमानशुर्निधि परमम्। (२ २४ ६)

उनकी क्रिया का इसलिये आवाहन किया गया है कि वे मनुष्य के जीवन को उसके लक्ष्य की ओर और अधिक•आगे ले चले –

सहस्रसावे प्र तिरन्त आयु । (३ ५३ ७)

पर यह यात्रा भी, यदि मुख्यत यह एक खोज है, छिपे हुए प्रकाश की खोज है, तो अधकार की शक्तियो के विरोध के द्वारा एक साहस-कार्य और एक सग्राम वन जाती है। अगिरस् उस सग्राम के वीर और योद्धा है, **'गोषु योधा.'**। इन्द्र उनके साथ प्रयाण करता है, उनके इस रूप में कि वे पथ के यात्री है **'सरण्यु-भि'**, इस रूप में कि वे सखा है **'सखिभि'**, इस रूप मे कि वे द्रष्टा है और पवित्र गान के गायक है **'ऋग्मिभि'**, **'कविभि'**, पर साथ ही इस रूप में कि वे सग्राम के योद्धा है **'सत्वभि'**। जब इन अगिरसो के बारे में कुछ कहना होना है तो इन्हे प्राय 'नृ' या 'वीर' नाम से याद किया जाता है, जैसे इन्द्र के लिये कहा है कि उसने जगमगाती हुई गौओ को **'अस्माकेभि नृभि'**, "हमारे नरो के द्वारा" जीता। उनकी सहायता से शक्तिशाली बनकर इन्द्र यात्रा मे विजय पाता है और लक्ष्य तक पहुचता है, **'नक्षद्दाभं ततुरिम्'**। पर यह यात्रा या प्रयाण उस मार्ग पर होता है जिस मार्ग को स्वर्ग की कुतिया सरमा ने खोजकर पाया है, जो सत्य का मार्ग है, "ऋतस्य पन्था" जो वह महान् पथ, 'महस्पथ' है जो सत्य के लोको की ओर ले जाता है। अर्थात् साथ ही यह यात्रा यज्ञिय यात्रा है, क्योकि उस यात्रा की मजिले वैसी ही है जैसी नवग्वाओ के यज्ञ के कालविभाग है, और यह यात्रा यज्ञ की तरह ही सोमरस तथा पवित्र शब्द की शक्ति से सपन्न होती है।

शक्ति, विजय और सिद्धि के लिये साधन-रूप मे सोम-रस का पान करना वेद

के व्यापक अलकारो मे से एक है। इन्द्र और अश्विन अव्वल दर्जे के सोमपायी है, पर वैसे सभी देवता इसके अमरत्व प्रदान करनेवाले घूट मे हिस्सा लेते है। अगिरस भी सोम की शक्ति में भरकर विजयी होते है। सरमा पणियो को भय दिखाती है कि देखो, अयास्य और नवग्वा अगिरस अपने सोम-जनित आनन्द की तीक्ष्ण तीव्रता मे युक्त होकर आयेंगे –

एह गमन्नृषय सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वा । (१०।१०८।८)

यह वह महती शक्ति है जिसमे मनुष्यो मे सत्य के मार्ग का अनुसरण करने का वल आ जाता है। "सोम के उस आनद को हम चाहते है जिससे, ओ इन्द्र ! तूने 'स्व' की शक्ति को (या स्व की आत्मा को, स्वर्णरम्) समृद्ध किया है, दस किरणोवाले और ज्ञान का प्रकाश देनेवाले (दशग्व वेपयन्तम्) उस आनद को जिससे तूने समुद्र को पोपित किया है, उस सोम के मद को जिसके द्वारा तू महान् जलो (सात नदियो) को रथो की तरह आगे हाककर समुद्र मे पहुचा देता है–उमे हम चाहते है, इसलिये कि हम सत्य के मार्ग पर यात्रा कर सके।"* **पन्यामृतस्य यातवे तमीमहे ।** यह सोम की शक्ति में आकर ही होता है कि पहाडी टूटकर खुल जाती है, अधकार के पुत्र पराजित हो जाते है। यह सोम-रस वह माधुर्य है जो ऊपर के गुह्य लोक की धाराओ मे से वहकर आता है, यह वह है जो सात नदियो में प्रवाहित होता है, यह वह है जिसके साथ होने पर घृत, रहस्यमय यज्ञ का घी, सहज प्रेरणा वन जाता है, यह वह मधुमय लहर है जो जीवन-समुद्र से उठती है। ऐसे अलकारो का केवल एक ही अर्थ हो सकता है, यह (सोम) दिव्य आनद है, जो सारी सत्ता में छिपा हुआ है, जो यदि एक वार अभिव्यक्त हो जाय, तो यह जीवन की सव ऊची, उत्कृष्ट क्रियाओ को सहारा देता रहता है और यह वह शक्ति है जो अत में मर्त्य को अमर कर देती है, यह 'अमृतम्' है, देवो का अमृत है।

पर वह वस्तु जो अगिरसो के पास रहती है मुख्यत शब्द है, उनका द्रष्टा

***येना दशग्वमध्रिगु वेपयन्त स्वर्णरम् । येना समुद्रमाविथा तमीमहे ॥**
येन सिन्धु महीरपो रथाँ इव प्रचोदय । पन्यामृतस्य यातवे तमीमहे ॥ (८।१२-२,३।)

(ऋषि) होना उनका सवसे अधिक विशिष्ट स्वरूप है। वे है—**ब्राह्मणासः पितर सोम्यास॰ ऋतावृध.** (६ ७५.१०)

अर्थात् वे पितर है जो सोम से भरपूर है और जिनके पास शब्द है और इसी कारण जो सत्य को वढानेवाले है। इन्द्र उन्हे (अगिरसो को) मार्ग पर प्रेरित करने की इच्छा रखता हुआ उनके गाकर व्यक्त किये गये विचारो के साथ अपने-आपको जोडता है और उनकी आत्मा के शब्दो को पूर्णता व शक्ति देता है —

सो अगिरसामुचथा जुजुष्वान् ब्रह्मा तूतोदिन्द्रो गातुमिष्णन्। (२ २० ५)

जव इन्द्र अगिरसो की सहायता से ज्योति मे और विचार की शक्ति मे समृद्ध हो जाता है तभी वह अपनी विजय-यात्रा को पूर्ण कर पाता है और पर्वत पर स्थित अपने लक्ष्य तक पहुच पाता है, 'उसमे हमारे पूर्व पितर, सात द्रष्टा, नवग्वा, अपनी समृद्धि को वढाते है, उसे वढाते है जो अपने प्रयाण में विजयी होनेवाला है, जो विघ्न-वाधाओ को तोडफोडकर (अपने लक्ष्य तक) तैर जाता है, पर्वत पर खडा हुआ है, जिसकी वाणी अहिंसित है, जो अपने विचारो मे सवमे अधिक ज्योतिष्मान् और वलवान् है।'

तमु न पूर्वे पितरो नवग्वा सप्त विप्रासो अभि वाजयन्त।

नक्षद्दाभ ततुरिं पर्वतेष्ठामद्रोघवाच मतिभि शविष्ठम्॥ ६ २२ २॥

यह 'ऋक्' के, प्रकाश के मन्त्र के गान से होता है कि वे हमारी सत्ता की गुहा मे छिपी हुई सौर ज्योतियो को पा लेते है, **अर्चन्तो गा अविदन्।** यह, 'स्तुभ' मे, सात द्रष्टाओ के मन्त्रो के आधारभूत छन्द से, नवग्वाओ के कम्पन्द करते हुए स्वर से होता है कि इन्द्र 'स्व' की शक्ति से परिपूर्ण हो जाता है, 'स्वरेण स्वर्य' और दशग्वाओ की आवाज मे, 'रव' से होता है कि वह 'वल' के टुकडे-टुकडे कर डालता है (१-६२-४) क्योकि यह 'रव' उच्चतर लोक की आवाज है, वह वज्र-निर्घोष है जो इन्द्र की विद्युत्प्रभा मे होता है, अगिरसो की जो अपने मार्ग पर प्रगति है वह इस लोको के 'रव' की अग्रगामिनी होती है।

प्र ब्रह्माणो अङ्गिरसो नक्षत प्र क्रन्दनुर्नभन्यस्य वेतु। (७ ४२ १)

वृहस्पति की आवाज द्यौ की गर्जना है जो वृहस्पति वह अगिरस है जो सूर्य को, उषा को, गौ को और शब्द के प्रकाश को खोज लेता है, 'वृहस्पतिरुषस

सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौ ।' यह सत्य-मत्र का, उस सत्य विचार का जो कि सत्य के छन्द मे प्रकट होता है, परिणाम है कि छिपी हुई ज्योति मिल जाती है और उषा का जन्म हो जाता है,

गूळ्ह ज्योति पितरो अन्वविन्दन् सत्यमत्रा अजनयन्नुषासम् । (७।७६।४)

क्योकि वे अगिरस है जो यथातथ वचन बोलते है, इत्या वदद्भिः अगिरोभि । (६।१८।५)

जो ऋक् के स्वामी है, जो पूर्ण रूप से अपने विचारो को रखते है,

स्वाधीभिर्ऋक्वभि । (६।३२।२)

"वे द्यौ के पुत्र है, शक्तिशाली देव के वीर सिपाही है, जो सत्य कथन करते हैं और सरलता का विचार करते है और इस कारण जो इस योग्य है कि जगमगाते हुए ज्ञान के स्थान को धारण कर सके और यज्ञ के अत्युच्च धाम को मनोगत कर सके",

ऋत शसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीरा ।
विप्र पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथम मनन्त ॥ (१०-६७-२)

यह असभव है कि ये सब इस प्रकार के वर्णन केवल यही अर्थ देनेवाले हो कि कुछ आर्य ऋषियो ने एक देवता और उसके कुत्ते का अनुसरण करके गुफा में रहनेवाले द्राविडियो से चुरायी हुई गौए फिर प्राप्त कर ली या रात्रि के अधकार के बाद उषा का फिर उदय हो गया। उत्तरी ध्रुव की उषा की अद्भुतताए भी स्वय इनका कुछ स्पष्टीकरण देने मे सर्वथा अपर्याप्त है। इन अलकारो मे जो साहचर्य है, इनमे जो शब्द (ब्रह्म), विचार (धी), सत्य, यात्रा और असत्य पर विजय पा लेना आदि का जो विचार है—जो विचार कि हमे इन सूक्तो मे सर्वत्र मिलता है और जिसपर इन सूक्तो मे लगातार जोर दिया गया है—उसका स्पष्टीकरण इस तरह किसी प्रकार भी नही किया जा सकता है।

केवल वह ही कल्पना है जिसे कि हम प्रतिपादित कर रहे है जो इस बहुविध रूपक को खोल सकती है, इसमे एकता स्थापित कर सकती है और यह जो एक असगतियो का मिश्रण-सा दिखायी देता है उसमें आसानी से दीख जानेवाली स्पष्टता और सगति को ला सकती है और यह एक ऐसी कल्पना है जो कही

वाहर से नही लायी गयी है वल्कि स्वय मन्त्रो की ही भाषा तथा निर्देशो से सीधी निकलती है। सचमुच, यदि एक वार हम केद्रभूत विचार को पकड ले और वैदिक ऋषियो की मनोवृत्ति तथा उनके प्रतीकवाद के नियम को समझ ले तो कोई भी असगति और अव्यवस्था शेष नही रहती। वेद मे प्रतीको की एक नियत पद्धति है जिसमे कि, सिवाय वाद के कुछ-एक सूक्तो के, कही कोई महत्त्व-पूर्ण फेरफार होना सभव नही हुआ है और जिसके प्रकाश मे वेद का आन्तरिक अभिप्राय सव जगह अपने-आपको इस तरह तुरत प्रकट कर देता है मानो वह इसके लिये तैयार ही हो। अवश्य ही वेद मे भी प्रतीको के परस्पर मिलाने मे, जोडने में कुछ सीमित स्वतत्रता है, जैसे कि किसी भी नियत कवितामय रूपक मे होती है,—उदाहरण के लिये जैसे वैष्णवो की धार्मिक कविताए हैं, पर इसके पीछे जो सारभूत विचार है वह सदा स्थिर तथा सगत है और परिवर्तित नही होता है।

उन्नीसवा अध्याय

मानव पितर

अगिरस ऋषियो की ये विशेषताए प्रथम दृष्टि मे यह दर्शाती प्रतीत होती है कि अगिरस वैदिक सप्रदाय मे अर्द्ध-देवताओ की एक श्रेणी है, अपने बाह्य रूप मे वे प्रकाश और वाणी और ज्वाला के सजीव शरीरधारी रूप है या यह कहना चाहिये कि उनके व्यक्तित्व है पर अपने आन्तरिक रूप मे वे सत्य की शक्तिया है जो कि युद्धो मे देवताओ की सहायता करती है। किंतु दिव्य द्रष्टा के तौर पर भी, द्यौ के पुत्र और देव के वीर योद्धा के तौर पर भी, ये ऋषि अभीप्सायुक्त मानवता को सूचित करते है। यह सच है कि मौलिक रूप मे वे देवो के पुत्र है, 'देवपुत्रा', अग्नि के कुमार है, अनेक रूपो मे पैदा हुए बृहस्पति के रूप है और सत्य के लोक के प्रति अपने आरोहण में उनका इस प्रकार वर्णन किया गया है कि वे फिर से उस स्थान पर आरोहण कर पहुच जाते है जहा से कि वे आये थे, पर अपने इन स्वरूपो तक में वे बडी अच्छी प्रकार उस मानवीय आत्मा के द्योतक हो सकते है जो स्वय उस लोक से अवरोहण करके नीचे आया है और अब पुन उसे आरोहण करके वहा पहुचना है, क्योकि अपने उद्‌गम मे यह एक मानसिक सत्ता है, अमरता का पुत्र है (अमृतस्य पुत्र), द्यौका कुमार है जो द्यौमें पैदा हुआ है और मर्त्य केवल उन शरीरो में है जिनको यह धारण करता है। और यज्ञ मे अगिरस् ऋषियो का भाग मानवीय भाग है, शब्द को पाना, देवो के प्रति आत्मा की सूक्ति का गायन करना, प्रार्थना के द्वारा, पवित्र भोजन तथा सोमरस द्वारा दिव्य शक्तियो को स्थिर करना और बढाना, अपनी सहायता से दिव्य उषा को जन्म देना, पूर्ण रूप से जगमगाते हुए सत्य के प्रकाशमय रूपो को जीतना और आरोहण करके इसके रहस्य तक, सुदूरवर्ती तथा उच्च स्थान पर स्थित घर तक पहुचना।

यज्ञ के इस कार्य मे वे द्विविध रूप में प्रकट होते है,[1] एक तो दिव्य अगिरन्, '**ऋषयो दिव्या**', जो कि देवो के समान किन्ही अध्यात्मशक्तियो तथा क्रियाओ के प्रतीक है और उनका अधिष्ठातृत्व करते है, और दूसरे मानव पितर, '**पितरो मनुष्या**', जो कि ऋभुओ के समान मानवप्राणियो के रूप मे भी वर्णित किये गये है या कम-से-कम इस रूप मे कि वे मानवीय शक्तिया है जिन्होने अपने कार्य से अमरता को जीता है, लक्ष्य को प्राप्त किया है और उनका इसलिये आवाहन किया गया है कि वे उसी दिव्यप्राप्ति मे वाद में आनेवाली मर्त्य जाति की सहायता करे। दशम मण्डल के वाद के यम-सूक्तो मे तो ऋभुओ और अथर्वणो के साथ अगिरसो को भी 'वर्हिषद्' कहा गया है और यह कहा गया है कि वे यज्ञ मे अपने निजी विशेष भाग को ग्रहण करते है, पर इसके अतिरिक्त अवशिष्ट वेद मे भी यह पाया जाता है कि एक अपेक्षाकृत कम निश्चित पर अधिक व्यापक और अधिक अभिप्रायपूर्ण अलकार मे उनका आवाहन किया गया है यह महान् मानवीय यात्रा है जिसके लिये कि उनका आवाहन किया गया है, क्योकि यह मृत्यु से अमरता की ओर, अनृत से सत्य की ओर मानवीय यात्रा ही है जिसे कि इन पूर्व पुरुषो ने पूर्ण किया है और अपने वशजो के लिये मार्ग खोल दिया है।

उनके कार्य के इस स्वरूप को हम ७-४२ तथा ७-५२ मे पाते है। वसिष्ठ के इन दो सूक्तो में से प्रथम मे ठीक इसी महान् यात्रा के लिये, 'अध्वरयज्ञ'[2] के

---

[1]यहा यह ध्यान देने योग्य है कि पुराण विशेष तौर से पितरो की दो श्रेणियो के बीच मे भेद करते है, एक तो दिव्य पितर है जो कि देवताओ की एक श्रेणी है, दूसरे है मानव पुरखा, इन दोनोके लिये ही पिण्डदान किया जाता है। पुराणो ने स्पष्ट ही इस विषय मे केवल प्रारभिक वैदिक परम्परा को ही जारी रखा है।

[2]सायण 'अध्वर यज्ञ' का अर्थ करता है 'अहिंसित यज्ञ', पर अहिंसित यह कभी भी यज्ञ के लिये पर्यायरूप मे प्रयुक्त हुआ नही हो सकता। 'अध्वर' है 'यात्रा', 'गमन', इसका सबध 'अध्वन्' से है, जिसका अर्थ मार्ग या यात्रा है, यह 'अध्' धातु से बना है जो धातु इस समय लुप्त हो चुकी है, जिसका अर्थ था चलना,

लिये देवो का आवाहन किया गया है। 'अध्वर यज्ञ' वह यज्ञ है जो कि दिव्यताओं के घर की ओर यात्रा करता है या जो उस घर तक पहुंचने के लिये एक यात्रारूप है और साथ ही जो एक युद्ध है, क्योंकि यह वर्णन आता है कि 'हे अग्ने! तेरे लिये यात्रामार्ग सुगम है और सनातन काल से वह तुझे ज्ञात है। सोम-सदन मे तू अपनी उन रोहित (या शीघ्रगामी) घोड़ियो को जोत जिनपर वीर सवार हुआ-हुआ है। स्थित हुआ-हुआ मै दिव्य जन्मो का आवाहन करता हू (ऋचा २*)।' यह मार्ग कौनसा है? यह वह मार्ग है जो कि देवताओ के घर तथा हमारी पार्थिव मर्त्यता के बीच मे है, जिस मार्ग मे देवता अन्तरिक्ष के, प्राण-प्रदेशो के, बीच मे से होते हुए नीचे पार्थिव यज्ञ मे उतरकर आते है और जिस मार्ग मे यज्ञ तथा यज्ञ द्वारा मनुष्य ऊपर आरोहण करता हुआ देवताओ के घर तक पहुचता है। 'अग्नि' अपनी घोडियो को अर्थात् वह जिस दिव्य बल का द्योतक है उसकी बहुरूप शक्तियो या विविध रगवाली ज्वालाओ को जोतता है, और वे घोडिया 'वीर' को अर्थात् हमारे अदर की उस सग्रामकारिणी शक्ति को वहन करती है जो कि यात्रा के कार्य को सफलतापूर्वक चलाती है। और दिव्य जन्म स्वत देव है तथा साथ ही मनुष्य मे प्रकट होनेवाली दिव्य जीवन की वे अभिव्यक्तिया है जो कि वेद मे देवत्व करके समझी जाती है। यहा पर अभिप्राय यही है, यह बात चौथी ऋचा से स्पष्ट हो जाती है, 'जब सुख में निवास करनेवाला अतिथि उस वीर के, जो कि (आनन्द मे) समृद्ध है, द्वारो से युक्त घर मे चेतनापूर्ण ज्ञानवाला हो जाता है, जब अग्नि पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाता है और

फैलाना, चौडा होना, घना होना इत्यादि। 'अध्वन्' और 'अध्वर' इन दो शब्दो का सबध हमे इससे पता चल जाता है कि 'अध्व' का अर्थ वायु या आकाश है और 'अध्वर' भी इस अर्थ मे आता है। ऐसे सदर्भ वेद मे अनेको है, जिनमे कि 'अध्वर' या 'अध्वर यज्ञ' का सबध यात्रा करने पर्यटन करने, मार्ग पर अग्रसर होने के विचार के साथ है।

*सुगस्ते अग्ने सनवित्तो अध्वा युक्ष्वा सुते हरितो रोहितश्च।
ये वा सद्मन्नरुषा वीरवाहो हुवे देवाना जन्मिानि सत्त ॥

घर मे स्थिरतापूर्वक निवास करने लगता है, तब वह उस प्राणी के लिये अभीप्सित वर प्रदान करता है, जो कि यात्रा करनेवाला है,* या यह अर्थ हो सकता है कि, उसकी यात्रा के लिये (इयत्यै)।

इसलिये यह सूक्त परम कल्याण की तरफ यात्रा करने के लिये, दिव्य जन्म के लिये, आनन्द के लिये अग्नि का एक आवाहन है। और इसकी प्रारम्भिक ऋचा उस यात्रा के लिये जो आवश्यक शर्तें हैं उनकी प्रार्थना है, अर्थात् इसमें उन बातों का उल्लेख है जिनसे कि इस यात्रा-यज्ञ का रूप, 'अध्वरस्य पेश', बनता है और इनमें सर्वप्रथम वस्तु आती है अंगिरसों की अग्रगामी गति, "आगे आगे अंगिरस यात्रा करें, जो अंगिरस 'ब्रह्म' (शब्द) के पुरोहित हैं, आकाश की (या आकाशीय वस्तु बादल या बिजली की) गर्जना आगे आगे जावे, प्रीणयित्री गौएं आगे आगे चलें जो कि अपने जलों को बखेरती हैं और दो पत्थर, मिलकर–(अपने कार्य में) यात्रामय यज्ञ के रूप को बनाने में–लगाये जायें।"

प्र ब्रह्माणो अंगिरसो नक्षन्त, प्र क्रन्दनुर्नभन्यस्य वेतु।
प्र धेनव उदप्रुतो नवन्त, युज्यातामद्री अध्वरस्य पेश ॥७-४२-१॥

प्रथम दिव्य शब्द से युक्त अंगिरस, दूसरे आकाश की गर्जना जो कि ज्योतिष्मान् लोक 'स्व' की तथा शब्द में से वज्रनिर्घोष करके निकलती हुई इसकी बिजलियों की आवाज है, तीसरे दिव्य जल या सात नदियां जो कि प्रवाहित होने के लिये 'स्व' के अधिपति इन्द्र की उस आकाशीय विद्युत् द्वारा मुक्त की गयी हैं और चौथे दिव्य जलों के निकलकर प्रवाहित होने के साथ-साथ अमरता को देनेवाले सोम का निचोड़ा जाना, ये चीजें हैं जो कि 'अध्वर यज्ञ' के रूप, 'पेश' को निर्मित करती हैं। और इसका सामान्य स्वरूप है अग्रगामी गति, दिव्य लक्ष्य की ओर सबकी प्रगति, जैसा कि यहां सूचित किया गया है गतिवाची तीन क्रियापद 'नक्षन्त', 'वेतु', 'नवन्त' द्वारा और उनके साथ उनके अर्थ पर बल देने के लिये अग्रवाची 'प्र' उपसर्ग लगाकर, जो कि मन्त्र के प्रत्येक वाक्यांश को प्रारम्भ करता और उसे

---

*यदा वीरस्य रेवतो दुरोणे स्योनशीरतिथिराचिकेतत्।
सुप्रीतो अग्निः सुधितो दम आ स विशे दाति वार्यमियत्यै ॥ ऋ. ७.४२.४

स्वर प्रदान करता है।

परन्तु ५२वा सूक्त और भी अधिक अर्थपूर्ण तथा निर्देशक है। प्रथम इस प्रकार है "हे असीम माता अदिति के पुत्रो (आदित्यास), हम असीम जाये (अदितय स्याम), 'वसु' दिव्यता तथा मर्त्यता मे हमारी रक्षा (देवत्रा मर्त्यत्रा), हे मित्र और वरुण! अधिगत करनेवाले हम तुम्हे अ कर ले, हे द्यौ और पृथिवी! होनेवाले हम 'तुम' हो जाये",

सनेम मित्रावरुणा सनन्तो, भवेम द्यावापृथिवी भवन्त।७-५२-१।

स्पष्ट ही अभिप्राय यह है कि हमे असीम को या अदिति के पुत्रो को, देवत्वो को अधिगत करना है और स्वय असीम, अदिति के पुत्र, 'अदितय, आदित्यास', हो जाना है। मित्र और वरुण के विषय मे यह हमे स्मरण रखना चाहिये कि ये प्रकाश तथा सत्य के अधिपति 'सूर्य सविता' की शक्तिया है। और तीसरी ऋचा इस प्रकार है, "अगिरस, जो कि लक्ष्य पर पहुचने के लिये शीघ्रता करते है, अपनी यात्रा करते हुए, देव सविता के सुख की तरफ गति करे और उस (सुख) को हमारा महान् यज्ञिय पिता और सब देवता एक मनवाले होकर हृदय मे स्वीकार करे",

तुरण्यवोऽङ्गिरसो नक्षन्त रत्न देवस्य सवितुरियाना।
पिता च तन्नो महान् यजत्रो विश्वे देवा समनसो जुषन्त॥ (ऋ॰ ७।५२।३)

इसलिये यह बिलकुल स्पष्ट है कि अगिरस सौरदेवता के उस प्रकाश तथा सत्य के यात्री है जिसमेंसे वे जगमगानेवाली गौए पैदा हुई है, जिन गौओ को कि अगिरस पणियो से छीनकर लाते है, और उस सुख के यात्री है जो, जैसा कि हम सर्वत्र देखते है, उस प्रकाश तथा सत्य पर आश्रित है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि यह यात्रा देवत्व में, असीम सत्ता मे, परिणत होना है (आदित्या स्याम), जिसके लिये इस सूक्त (ऋचा २) मे यह कहा गया है कि जो देवत्व तथा मर्त्यत्व मे हमारी रक्षा करते है ऐसे मित्र, वरुण और वसुओ की अपने अन्दर क्रिया द्वारा दिव्य शाति तथा दिव्य सुख की वृद्धि करने से वह अवस्था आती है।

इन दो सूक्तो में अगिरस ऋषियो का सामान्यत उल्लेख हुआ है, पर अन्य सूक्तो में हमें इन मानव पितरो का निश्चित उल्लेख मिलता है जिन्होने कि

सर्वप्रथम प्रकाश को खोजा था और विचार को और शब्द को अविगत किया था और प्रकाशमान सुख के गुह्य लोको की यात्रा की थी। उन परिणामो के प्रकाश मे जिनपर कि हम पहुचे है, अब हम अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण सदर्भों का अध्ययन कर सकते है जो कि गभीर, सुन्दर तथा उज्ज्वल है और जिनमे मानवीय पूर्वपुरुषो की इस महान् खोज का गान किया गया है। उनमे हम उस महान् आशा का सारभूत वर्णन पायेगे जिसे कि वैदिक रहस्यवादी सदा अपनी आखो के सामने रखते थे, वह यात्रा, वह विजय प्राचीन, प्रथम प्राप्ति है जिसे कि प्रकाशयुक्त पितरो ने अपने बाद आनेवाली मर्त्य जाति के लिये एक आदर्श के रूप मे किया था। यह विजय थी उन शक्तियो पर जो कि चारो ओर से घेर लेनेवाली रात्रि (रात्रि परितक्म्या) की शक्तिया है, वृत्र, शम्बर, वल है, ग्रीक गाथाशास्त्र के टाइटन, जायट, पाइथन, (Titans, Giants, Pythons) है, अवचेतना की शक्तिया है जो कि प्रकाश और बल को अपने अन्दर, अपनी अन्धकार तथा भ्राति की नगरियो के भीतर रोक लेती है, पर न तो इसे उचित प्रकार से उपयोग में ला सकती है, न ही इन्हे मनुष्य को, मानसिक प्राणी को, देना चाहती है। उनके अज्ञान, पाप और ससीमता को न केवल हमे अपने पास से काटकर दूर कर देना है, बल्कि उन्हे भेदन कर डालना है और भेदन करके उनके अन्दर जा घुसना है, तथा उसमेंसे प्रकाश, भद्र और असीमता के रहस्य को निकालकर लाना है। इस मृत्यु में से उस अमरता को जीत लाना है। इस अज्ञान के पीछे एक रहस्यमय ज्ञान और सत्य का एक महान् प्रकाश बन्द पडा है। इस पाप ने अन्दर मे अपरिमित भद्र को कैद कर रखा है, सीमित करनेवाली इस मृत्यु मे असीम, अपार अमरता का बीज छिपा पडा है। 'वल', उदाहरण के लिये, ज्योतियो का बल है (वलस्य गोमत. १-११-५), उसका शरीर प्रकाश का बना हुआ है (गोवपुष. वलस्य १०-६८-९), उसका बिल या उसकी गुफा खजानो से भरा हुआ एक नगर है, उस शरीर को तोडना है, उस नगर को भेदन करके खोलना है, उन खजानो को हस्तगत करना है। यह कार्य है, जो कि मानवीयता के लिये नियत किया गया है और पूर्वपुरुषा इस कार्य को मानवजाति के लाभ के लिये एक वार कर

चुके है, जिससे कि उसे करने का मार्ग पता लग जाय और फिर उन्ही उपायो द्वारा तथा उसी प्रकार प्रकाश के देवताओ के साथ मैत्री द्वारा लक्ष्य पर पहुचा जा सके। "वह पुरातन सख्यभाव तुम देवताओ के तथा हमारे बीच में हो जाय, जैसा कि तव था जव उन अगिरसो के साथ मिलकर जो कि (शब्द को) ठीक प्रकार से वोलते थे, (हे इन्द्र !), तूने उसे च्युत कर दिया था जो कि अच्युत था, और हे कार्यो को पूर्ण करनेवाले ! तूने 'वल' का वध कर दिया था, जव कि वह तुझपर झपटा था और तूने उसके नगर के नव द्वारो को खोल डाला था[1]।" सभी मानवपरम्पराओ के उद्‌गम मे यह प्राचीन स्मृति जुडी हुई है। यह इन्द्र तथा वृत्र-सर्प है, यह अपोलो (Apollo) तथा पाइथन (Python) है, ये थॉर (Thor) तथा जायन्ट (Giants) है, सिगर्ड (Sigurd) और फाफ्नर (Fafner) है, ये खाल्दियन गाथाशास्त्र (Celtic mythology) के परस्परविरोधी देवता है। पर इस रूपक की कुजी हमें केवल वेद मे ही उपलब्ध होती है, जिस रूपक मे कि प्रागैतिहासिक मानवता की वह आशा या विद्या छिपी रखी है।

प्रथम सूक्त जिसे हम लेगे, वह महान् ऋषि विश्वामित्र का सूक्त ३-३९ है, क्योकि वह हमें सीधा हमारे विषय के हृदय मे ले जाता है। यह प्रारम्भ होता है 'पित्र्या धी' अर्थात् पितरो के विचार के वर्णन से और यह विचार उस स्व-युक्त ('स्व' वाले) विचार से भिन्न नही हो सकता जिसका कि अत्रियो ने गायन किया है, जो वह सात-सिरोवाला विचार है जिसे अयास्य ने नवग्वाओ के लिये खोजा था, क्योकि इस सूक्त में भी विचार का वर्णन अगिरसो, पितरो के साथ जुडा हुआ आता है। "विचार हृदय से प्रकट होता हुआ, स्तोम के रूप में रचा हुआ, अपने अधिपति इन्द्र की ओर जाता है[2]।" इन्द्र, हमारी स्थापना के अनुसार, प्रकाशयुक्त **मन** की शक्ति है, **प्रकाश** के तथा इसकी विद्युत् के

---

[1]तन्न प्रत्नं सख्यमस्तु युष्मे इत्था वदद्भिर्वलमङ्गिरोभिः।
हन्नच्युतच्युद्दस्मेषयन्तमृणो पुरो वि दुरो अस्य विश्वा ॥(६।१८।५)

[2]इन्द्रं मतिर्हृद आ वच्यमानाच्छा पतिं स्तोमतष्टा जिगाति। (३।३९।१)

लोक का स्वामी है, शब्द या विचार सतत रूप से गौओं या स्त्रियों के रूप में कल्पित किये गये हैं, 'इन्द्र' वृषभ या पति के रूप में, और शब्द उसकी कामना करते हैं और इस रूप मे उनका वर्णन भी मिलता है कि वे उसे (इन्द्र को) खोजने के लिये ऊपर जाते है, उदाहरणार्थ देखो १-९-४, गिर प्रति त्वामुदहासत वृषभ पतिम् । 'स्व' के प्रकाश से प्रकाशमय मन है लक्ष्य जो कि वैदिक विचार द्वारा तथा वैदिक वाणी द्वारा चाहा गया है, जो विचार और वाणी प्रकाशो की गौओ को आत्मा से, अवचेतना की गुफा मे जिसमे कि वे बन्द पड़ी थीं, ऊपर को धकेलकर प्रकट कर देते है, स्व का अधिपति इन्द्र है वृषभ, गौओ का स्वामी, 'गोपति'।

ऋषि इन विचार के वर्णन को जारी रखता हुआ आगे कहता है, यह है, "वह विचार जो कि जब व्यक्त हो जाता है तब ज्ञान मे जागृत होकर रहता है", पणिओ की निद्रा के सुपुर्द अपने-आपको नही करता—या जागृवि विदथे शस्यमाना, "वह जो तुझसे (या तेरे लिये) पैदा होता है, हे इन्द्र! उसका तू ज्ञान प्राप्त कर"[1]। यह वेद में सतत रूप से पाया जानेवाला एक सूत्र है। देवता को, देव को उसका ज्ञान रखना होता है जो कि मनुष्य के अदर उसके प्रति उद्बुद्ध होना है, उसे हमारे अदर ज्ञान में उसके प्रति जागृत होना होता है (विद्धि, चेतथ इत्यादि), नहीं तो यह एक मानवीय वस्तु ही रह जाती है और यह नही होता है कि वह 'देवो के प्रति जाय", (देवेपु गच्छति)। और उसके बाद ऋषि कहता है "यह प्राचीन (या सनातन) है, यह द्युलोक मे पैदा हुआ है, जब यह प्रकट हो जाता है तब यह ज्ञान में जागृत रहता है, सफेद तथा सुखमय वस्त्रो को पहिने हुए यह हमारे अंदर पितरो का प्राचीन विचार है[2]।" सेयमस्मे सनजा पित्र्या धी।

और फिर ऋषि इस विचार के विषय मे कहता है कि यह "यमो की माता है जो कि यहा यमो को जन्म देती है, जिह्वा के अग्रभाग पर यह उतरती है और

---

[1]इन्द्र यत्ते जायते विद्धि तस्य। (३-३९-१)

[2]दिवश्चिदा पूर्व्या जायमाना वि जागृविर्विदथे शस्यमाना।
भद्रा वस्त्राण्यर्जुना वसाना सेयमस्मे सनजा पित्र्या धीः॥ (३.३९.२)

खडी हो जाती है, युगल शरीर पैदा होकर एक दूसरेके साथ सयुक्त हो जाते है और अधकार के घातक होते है और जाज्वल्यमान शक्ति के आधार मे गति करते है[1]।" मै यहा इसपर विचार-विमर्श नही करूगा कि ये प्रकाशमान युगल क्या है, क्योकि इसमे हम अपने उपस्थित विषय की सीमा से परे चले जायगे, इतना ही कहना पर्याप्त है कि दूसरे स्थलो मे उनका वर्णन अगिरसो के साथ तथा अगिरसो की उच्च जन्म की (सत्य के लोक की) स्थापना के साथ सबद्ध आता है और वे इस रूप मे कहे गये है कि 'वे युगल है, जिनमे कि इन्द्र अभिव्यक्त किये जानेवाले शब्द को रखता है' (१।८३।३), और वह जाज्वल्यमान शक्ति जिसके आधार मे वे गति करते है, स्पष्ट ही सूर्य की शक्ति है, जो (सूर्य) अधकार का घातक है और इसलिये यह आधार और वह आधार एक ही है जो कि सर्वोच्च लोक है, सत्य का आधार ऋतस्य बुध्न है, और अतिम बात यह है कि यह कठिन है कि इन युगलो का उनके साथ बिल्कुल कुछ भी सबध न हो जो कि सूर्य के युगल शिशु है, यम और यमी,—यम जो कि दशम मण्डल मे अगिरस् ऋषियो के साथ सबद्ध आता है[2]।

इस प्रकार अधकार के घातक अपने युगल शिशुओ सहित पित्र्य विचार का वर्णन कर चुकने पर आगे विश्वामित्र उन पूर्वपितरो का वर्णन करता है जिन्होने सर्वप्रथम इसे निर्मित किया था और उस महान् विजय का जिसके द्वारा कि उन्होने "उस सत्य को, अधकार मे पडे हुए सूर्य को" खोज निकाला था। "मर्त्यो में कोई ऐसा नही है जो हमारे उन पूर्वपितरो की निन्दा कर सके (अथवा, जैसा

---

[1]यमा चिदत्र यमसूरसूत जिह्वाया अग्रं पतदा ह्यस्थात्।
वपूंषि जाता मिथुना सचेते तमोहना तपुषो बुध्न एता॥ (३.३९.३)

[2]इन तथ्यो के प्रकाश में ही हमे दशम मण्डल में आये यम और यमी के सवाद को समझना चाहिये जिसमें कि बहिन अपने भाई से सयोग करना चाहती है और फिर इसे आगामी युग की सततियो के लिये छोड दिया गया है, जहा कि आगामी युगो का अभिप्राय वस्तुत प्रतीकरूप कालपरिमाण से है, क्योकि आगामी के लिये जो शब्द 'उत्तर' आया है उसका अर्थ आगामी के बजाय "उच्चतर" अधिक ठीक है।

कि इसकी अपेक्षा मुझे इसका अर्थ प्रतीत होता है कि मर्त्यता की कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो उन पूर्वपितरो को सीमित या बद्ध कर सके) जो हमारे पितर गौओ के लिये युद्ध करनेवाले हैं, इन्द्र जो कि महिमावाला है, इन्द्र जो कि महा-पराक्रम-कार्य को करनेवाला है, उसने उनके लिये दृढ बाडो को ऊपर की तरफ खोल दिया—वहा जहा कि एक सखा ने अपने सखाओ के साथ, योद्धा नवग्वाओ के साथ घुटनो के बल गौओ का अनुसरण करते हुए, दस दशग्वाओ के साथ मिलकर इन्द्र ने उस सत्य को, 'सत्य तद्', पा लिया, सूर्य को भी जो अधकार में रह रहा था[1]।"

यही है जगमगाती हुई गौओ की विजय का तथा छिपे हुए सूर्य की प्राप्ति का अलकार जो कि प्रायश आता है, परतु अगली ऋचा मे इसके साथ दो इसी प्रकार के अलकार और जुट गये है और वे भी वैदिक सूक्तो में प्राय पाये जाते है, वे है गौ का चरागाह या खेत तथा मधु जो कि गौ के अदर पाया जाता है। "इन्द्र ने मधु को पा लिया जो कि जगमगानेवालो के अदर इकट्ठा किया हुआ था, गौ के चरागाह[2] मे पैरोवाली तथा खुरोवाली (दौलत) को[3]।" जगमगानेवाली 'उस्रिया' (साथ ही 'उस्रा' भी) एक दूसरा शब्द है जो कि 'गो' के समान दोनो अर्थ रखता है, किरण तथा गाय और वेद मे 'गो' के पर्यायवाची के तौर पर प्रयुक्त हुआ है। सतत रूप मे यह हमारे सुनने मे आता है कि 'घृत' या साफ किया हुआ मक्खन गौ मे रखा गया है, वामदेव के अनुसार वह वहा तीन हिस्सो मे पणियो द्वारा छिपाया गया है, पर कही यह मधुमय घृत है और कही

---

[1] नकिरेषा निन्दिता मर्त्येषु ये अस्माक पितरो गोषु योधा ।
इन्द्र एषा दृहिता माहिनावानुद् गोत्राणि ससृजे दसनावान् ॥
सखा ह यत्र सखिभिर्नवग्वैरभिज्ञ्वा सत्वभिर्गा अनुग्मन् ।
सत्य तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वै. सूर्य विवेद तमसि क्षियन्तम् ॥ (३.३९.४-५)

[2] नमे गो । 'नम' बना है 'नम्' धातु से, जिसका अर्थ है चलना, घूमना, विचरना, ग्रीक मे नेमो (Nemo) धातु है, 'नम' शब्द का अर्थ है घूमने का प्रदेश, चरागाह, जो कि ग्रीक मे नेमोस (Namos) है।

[3] इन्द्रो मधु सभृतमुस्रियाया पद्वद्विवेद शफवन्नमे गो ॥६॥

केवल मधु है, **'मधुमद् घृतम्'** और **'मधु'**। हम देख चुके हैं कि गौ की देन घी और सोमलता की देन (सोमरस) अन्य सूक्तो में कैसी घनिष्ठता के साथ जुडे आते है और अब जब कि हम निश्चित रूप से जानते हैं कि गौ का क्या अभिप्राय है तो यह अद्‌भुत तथा असगत लगनेवाला सबध पर्याप्त स्पष्ट और सरल हो जाता है। 'घृत' का अर्थ भी 'चमकदार' यह होता है, यह चमकीली गौ की चमकदार देन है, यह मनोवृत्ति मे सचेतन ज्ञान का निर्मित प्रकाश है जो कि प्रकाशमय चेतना के अदर सम्भृत (रखा हुआ) है और गौ की मुक्ति के साथ यह भी मुक्त हो जाता है, **'सोम'** है आह्लाद, दिव्य सुख, दिव्य आनद जो कि सत्ता की प्रकाश-मय अवस्था से भिन्न नही किया जा सकता और जैसे कि वेद के अनुसार हमारे अदर मनोवृत्ति के तीन स्तर हैं वैसे ही घृत के तीन भाग है, जो कि तीन देवताओ सूर्य, इन्द्र और सोम पर आश्रित है और सोम भी तीन हिस्सो मे प्रदान किया जाता है, पहाडी के तीन स्तरो पर, **'त्रिषु सानुषु'**। इन तीनो देवताओ के स्वभाव का ख्याल रखते हुए हम यह कल्पना प्रस्तुत कर सकते है कि 'सोम' इन्द्रियाश्रित मनोवृत्ति (Sense mentality) से दिव्य प्रकाश को उन्मुक्त करता है, 'इन्द्र' सक्रिय गतिशील मनोवृत्ति (Dynamic mentality) से, 'सूर्य' विशुद्ध विचारात्मिका मनोवृति (Pure reflective mentality) से। और गौ के चरागाह से तो हम पहले से ही परिचित है, यह वह 'क्षेत्र' है जिसे कि इन्द्र अपने चमकीले सखाओ के लिये 'दस्यु' से जीतता है और जिसमें कि अत्रि ने योद्धा अग्नि को तथा जगमगाती हुई गौओ को देखा था, उन गौओ को जिनमें वे भी जो कि बूढी थी फिर से जवान हो गयी थी। यह खेत, 'क्षेत्र' केवल एक दूसरा रूपक है उस प्रकाशमय घर (क्षय) के लिये जिस तक कि देवता यज्ञ द्वारा मानवीय आत्मा को ले जाते है।

आगे विश्वामित्र इस सारे रूपक के वास्तविक रहस्यवादी अभिप्राय को दर्शाना आरभ करता है। 'दक्षिणा से युक्त उसने (इन्द्र ने) अपने दक्षिण हाथ में (दक्षिणे दक्षिणावान्) उस गुह्य वस्तु को थाम लिया, जो कि गुप्त गुहा मे रखी थी और जलो मे छिपी हुई थी। पूर्ण रूप से जानता हुआ वह (इन्द्र) अधकार से ज्योति को पृथक् कर दे, **ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्**, हम पाप की उपस्थिति

से दूर हो जाय*।' यहा हमे इस देवी दक्षिणा के आशय को बतानेवाला एक सूत्र मिल जाता है, जो दक्षिणा कुछ सदर्भो में तो यह प्रतीत होती है कि यह उषा का एक रूप या विशेषण है और अन्य सदर्भो मे वह यज्ञ में हवियो का सविभाजन करनेवाली के रूप में प्रतीत होती है। उषा है दिव्य आलोक और दक्षिणा है वह विवेचक ज्ञान जो कि 'उषा' के साथ आता है और मन की शक्ति को, इन्द्र को, इस योग्य बना देता है कि वह यथार्थ को जान सके और प्रकाश को अधकार से, सत्य को अनृत से, सरल को कुटिल से विविक्त करके वरण कर सके, 'वृणीत विजानन्'। इन्द्र के दक्षिण और वाम हाथ ज्ञान में उसकी क्रिया की दो शक्तिया है, क्योकि उसकी दो बाहुओ को कहा गया है 'गभस्ति' और 'गभस्ति' एक ऐसा शब्द है जिसका सामान्यत तो सूर्य की किरण अर्थ होता है पर साथ ही अग्रबाहु अर्थ भी होता है, और इन्द्र की ये दो शक्तिया अनुरूप है उसकी उन दो बोधग्राहक शक्तियो के, उसके दो चमकीले घोडे 'हरी' के, जो कि इस रूप मे वर्णित किये गये है कि वे सूर्यचक्षु, 'सूरचक्षसा' है और सूर्य की दर्शन-शक्तिया (Vision powers) 'सूर्यस्य केतु' है। दक्षिणा दक्षिण हाथ की शक्ति की, 'दक्षिण' की अधिष्ठात्री है, और इसलिये हम यह वर्णन पाते है कि 'दक्षिणे दक्षिणावान्'। यही (दक्षिणा) वह विवेकशक्ति है जो यज्ञ की यथातथ क्रिया पर तथा हवियो के यथातथ सविभाग पर अधिष्ठातृत्व करती है और यही है जो इन्द्र को इस योग्य बना देती है कि वह पणियो की झुड मे इकट्ठी हुई दौलत को सुरक्षित रूप से, अपने दाहिने हाथ में, थाम लेता है। और अत मे हमें यह बतलाया गया है, कि यह रहस्यमय वस्तु क्या है जो कि हमारे लिये गुफा मे रखी गयी थी और जो सत्ता के जलो के अदर छिपी हुई है, उन जलो के अदर जिनमे कि पितरो का विचार रखा जाना है, अप्सु धिय धिषे। यह है छिपा हुआ सूर्य, हमारी दिव्य सत्ता का गुप्त प्रकाश, जिसे कि पाना है और जिसे ज्ञान द्वारा उस अधकार में से निकालना है जिसमें कि यह छिपा पडा है। यह प्रकाश भौतिक प्रकाश नहीं है, यह एक तो

---

*"गुहाहित गुह्य गूळ्हमप्सु हस्ते दधे दक्षिणे दक्षिणावान् ॥६॥"
"ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्नारे स्याम दुरितादभीके ॥७॥"

विजानन् शब्द से पता लग जाता है क्योकि इस प्रकाश की प्राप्ति होती है यथार्थ ज्ञान द्वारा और दूसरे इससे कि इसका परिणाम नैतिक होता है, अर्थात् हम पाप की उपस्थिति से दूर हो जाते हैं, **'दुरिताद्'**, शाब्दिक अर्थ ले तो विपरीत गति से, स्खलन से, जो कि हमारी सत्ता की रात्रि में हमे वश मे किये रहता है, जबतक कि **सूर्य** उपलब्ध नही हो जाता और जबतक दिव्य **उषा** उदित नही हो जाती।

एक बार यदि हमें वह कुजी मिल जाती है जिससे **गौओ** का, **सूर्य** का, **मधु-मदिरा** का अर्थ खुल जाय, तो अगिरसो के कथानक की तथा पितरो के जो कार्य है उनकी सभी घटनाए (जो कि, वेदमत्रो की कर्म-काण्डिक या प्रकृतिवादी व्याख्या में ऐसी लगती है मानो जहा तहा के टुकडो को इकट्ठा जोडकर एक बिल्कुल असगत-सी चीज तैयार कर दी गयी हो और जो ऐतिहासिक या आर्य-द्रवीडियन व्याख्या में अत्यत ही निराशाजनक तौर पर दुर्घट प्रतीत होती है, इसके विपरीत) पूर्णतया स्पष्ट तथा सबद्ध लगने लगती है और प्रत्येक दूसरी पर प्रकाश डालती हुई नजर आती है। प्रत्येक सूक्त अपनी सपूर्णता के साथ तथा दूसरे सूक्तो से जो इसका सबध है उसके साथ हमारी समझ मे आ जाता है, वेद की प्रत्येक जुदा-जुदा पक्ति, प्रत्येक सदर्भ, जहा तहा बिखरा हुआ प्रत्येक सकेत मिलकर अनिवार्य रूप से और समस्वरता के साथ एक सामान्य सपूर्णता का, समगता का अगभूत दीखने लगता है। यहा यह हम जान चुके है कि क्यो **मधु** को, दिव्य **आनन्द** को यह कहा जा सकता है कि उसे **गौ** के अदर, **सत्य** के जगमगाते हुए **प्रकाश** के अदर रखा गया, **मधु** को धारण करनेवाली **गौ** का **प्रकाश** के अधिपति तथा उद्गम-स्थान **सूर्य** के साथ क्या सबध है, क्यो अधकार में पडे हुए **सूर्य** की पुन प्राप्ति का सबध पणियो की गौओ की उस विजय या पुन प्राप्ति के साथ है जो अगिरसो द्वारा की जाती है, क्यो इसे **सत्य** की पुन प्राप्ति कहा गया है, पैरोवाली और खुरोवाली दौलत का तथा **गौ** के खेत या चरागाह का क्या अभिप्राय है। अब हम यह देखने लगे है कि पणियो की गुफा क्या वस्तु है और क्यो उसे जो कि 'वल' की गुहा में छिपा हुआ है यह भी कहा गया है कि वह उन जलो के अदर छिपा हुआ है जिन्हे कि इन्द्र 'वृत्र' के पजे से छुडाता है, उन सात नदियो के अदर छिपा हुआ है जो नदिया अयास्य के सात-सिरोवाले स्वर्विजयी विचार से युक्त है, क्यो गुफा

में से सूर्य के छुटकारे को, अवकार में से प्रकाश के पृथक्करण या वरण को यह कहा गया है कि यह सर्वविवेचक ज्ञान द्वारा किया जाता है, 'दक्षिणा' तथा 'सरमा' कौन है और इसका क्या अभिप्राय है कि इन्द्र खुरोवाली दौलत को अपने दाहिने हाथ मे थामता है। और इन परिणामो पर पहुचने के लिये हमें शब्दो का अभिप्राय खीचतान करके नही निकालना है, यह नही करना है कि एक ही नियत सज्ञा के जहा जैसी सुविवा होती हो उसके अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ मान ले, अथवा एक ही वाक्याश या पक्ति के भिन्न-भिन्न सूक्तो में भिन्न-भिन्न अर्थ कर ले अथवा असगति को ही वेद में सही व्याख्या का मानदण्ड मान ले, वल्कि इसके विपरीत ऋचाओ के शब्द तथा रूप के प्रति जितनी ही अधिक सचाई वरती जायगी उतना ही अधिक विशद रूप में वेद का सामान्य तथा व्योरेवार अभिप्राय एक सतत स्पष्टता और पूर्णता के साथ प्रकट हो जायगा।

इसलिये हमें यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि जो अभिप्राय हमारी खोज से निकला है उसे हम अन्य सदर्भों में भी प्रयुक्त करे, जैसे कि वसिष्ठ के सूक्त ७-७६ मे, जिसकी मै अव परीक्षा करूगा, यद्यपि जिसमें ऊपर-ऊपर से देखने पर केवल भौतिक उषा का एक आनद से पुलकित कर देनेवाला चित्र ही प्रतीत होगा पर यह प्रथम छाप मिट जाती है जव कि हम इस सूक्त की परीक्षा करते है, हम देखते है कि यहा सतत रूप से एक गभीरतर अर्थ सूचित होता है और जिस क्षण हम उस चावी का उपयोग करते है जो हमे मिली है उसी क्षण वास्तविक अभिप्राय की समस्वरता दिखायी देने लगती है। यह सूक्त प्रारभ होता है परम उषा के प्रकाश के रूप में सूर्य के उस उदय के वर्णन मे जिस उदय को देवता तथा अगिरस् करते है।

*'सविता, जो देव है, विराट् नर है, उस प्रकाश मे ऊपर चढ गया है जो प्रकाश कि अमर है और सव जन्मोवाला है, ज्योतिरमृत विश्वजन्यम्, (यज्ञ के) कर्म द्वारा देवो की आख पैदा हो गयी है (अथवा, देवो की सकल्प-शक्ति द्वारा दर्शन

---

*उदु ज्योतिरमृत विश्वजन्य विश्वानर: सविता देवो अश्रेत्।
क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरकर्भुवन विश्वमुषा ॥ (ऋ. ७ ७६ १)

(Vision) पैदा हो गया है), उषा ने सपूण लोक को (या उस सबको जो सद्रूप में आता है, सब सत्ताओ को, विश्व भुवनम्) अभिव्यक्त कर दिया है।' यह अमर प्रकाश जिसमे सूर्य उदित होता है, अन्य स्थलो मे सच्चा प्रकाश, ऋत ज्योति, कहा गया है, और वेद मे सत्य तथा अमरता सतत रूप से सबद्ध पाये जाते है। यह है ज्ञान का प्रकाश जो सात-सिरोवाले विचार के द्वारा दिया गया, जिस विचार को कि अयास्य ने पाया था जब कि वह 'विश्वजन्य' अर्थात् विराट् सत्तावाला हो गया था, इसीलिये इस प्रकाश को भी 'विश्वजन्य' कहा गया है, क्योकि यह अयास्य के चतुर्थ लोक, 'तुरीय स्विद्' से सबध रखता है जिस लोक से शेष सब पैदा होते हैं और जिसके सत्य से शेष सब अपने विशाल विराट्रूप मे अभिव्यक्ति प्राप्त करते है, अनृत और कुटिलता की सीमित अवधियो मे नही रहते। इसीलिये इसे यह भी कहा गया है कि यह देवो की आख है और दिव्य उषा है जो कि सपूर्ण सत्तामात्र को अभिव्यक्त कर देती है।

दिव्य दर्शन के इस जन्म का परिणाम यह होता है कि मनुष्य का मार्ग उसके लिये अपने-आपको प्रकट कर देता है तथा देवो की या देवो के प्रति की जानवाली उन यात्राओ (देवयाना) को प्रगट कर देता है, जो यात्राए दिव्य सत्ता के अनत विस्तार की ओर ले जाती है। 'मेरे सामने देवो की यात्राओ के मार्ग प्रत्यक्ष हो गये है, उन यात्राओ के जो कि हिसा नही करती है, जिनकी गति वसुओ द्वारा निर्मित की गयी थी। यह सामने उषा की आख पैदा हो गयी है और वह हमारे घरो के ऊपर (पहुचती हुई) हमारी तरफ आ गयी है*।' घर वेद मे एक स्थिर प्रतीक है उन शरीरो के लिये जो कि आत्मा के निवास-स्थान हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि खेत (क्षेत्र) या आश्रयस्थान (क्षय) से अभिप्राय होता है वे स्तर जिनमे कि आत्मा आरोहण करता है तथा जिनमे वह ठहरता है। मनुष्य का मार्ग वह मार्ग है जिसपर कि वह सर्वोच्च लोक में पहुचने के लिये यात्रा करता है, और वह वस्तु जिसे कि देवो की यात्राए हिंसित नही करती देवो

---

*प्र मे पन्था देवयाना अदृश्रन्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतास ।
अभूदु केतुरुषस पुरस्तात् प्रतीच्यागादधि हर्म्येभ्य ॥ (ऋ. ७-७६-२)

की क्रियाए है, जीवन का दिव्य नियम है, जिसमे आत्मा को वढना होना है, जैसा कि हम पाचवी ऋचा मे देखते है जहा कि इसी वाक्याश को फिर दोहराया गया है।

इसके वाद हम एक विचित्र आलकारिक वर्णन पाते है, जो कि आर्यो के उत्त-रीय ध्रुव-निवास की कल्पना को पुष्ट करता प्रतीत होता है। "वे दिन वहुत से थे जो सूर्य के उदय से पहले थे (अथवा, जो सूर्य के उदय तक प्राचीन हो गये थे), जिनमें कि हे उष ! तू दिखायी पडी, मानो कि अपने प्रेमी के चारो ओर घूम रही हो और तूने पुन न आना हो[1]।" सचमुच ही यह ऐसी उषाओ का चित्र है जो कि अविच्छिन्न है, जिनके वीच मे रात्रि व्यवधान नही डालती, वैसी जैसी कि उत्तरीय ध्रुव के प्रदेशो मे दृष्टिगोचर होती है। अध्यात्मपरक आशय जो इस ऋचा से निकलता है वह तो स्पष्ट ही है।

ये उषाए क्या थी ? ये वे थीं जो कि पितरो, प्राचीन अगिरसो की क्रियाओ द्वारा रची गयी थीं। "वे सचमुच देवो के साथ (सोम का) आनद लेते थे,[2] वे प्राचीन द्रष्टा थे जो कि सत्य से युक्त थे, उन पितरो ने छिपी हुई ज्योति को पा लिया, सत्य विचार से युक्त हुए-हुए (सत्यमन्त्रा, उस सत्य विचार ने जो कि अन्त प्रेरित वाणी, मन्त्र, मे अभिव्यक्त हुआ था) उन्होने उषा को पैदा कर दिया[3]।" और यह उषा, यह मार्ग, यह दिव्य यात्रा, पितरो को कहा ले गयी ? समतल विस्तार मे, 'समाने ऊर्वे', जिसे कि अन्य स्थलो मे 'निर्वाध विस्तार' नाम दिया गया है, 'उरौ अनिबाधे', जो स्पष्ट वही वस्तु है जो कि वह विशाल सत्ता वा विशाल लोक है जिसे कण्व के अनुसार मनुष्य तव रचते है जव कि वे

---

[1]तानीदहानि बहुलान्यासन् या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य।
यत परि जार इवाचरन्त्युषो ददृक्षे न पुनर्यतीव॥ (ऋ ७-७६-३)

[2]मै थोडी देर के लिये 'सधमाद' के परम्परागत अर्थ को ही स्वीकार किये लेता हू, यद्यपि मुझे यह निश्चय नही कि यह अर्थ शुद्ध ही है।

[3]त इद्देवाना सधमाद आसन्नृतावान कवय पूर्व्यास।
गूळ्ह ज्योति पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम्॥ (ऋ.७-७६-४)

वृत्र का वध कर लेते हैं और द्यावापृथिवी के पार चले जाते है, यह है वृहत् सत्य तथा 'अदिति' की असीम सत्ता। "समतल विस्तार मे वे परस्पर सगत होते है और अपने ज्ञान को एक करते है (अथवा पूर्णतया ज्ञान रखते है), और परस्पर मिलकर प्रयत्न नही करते, वे देवो के कर्मों को कम नही करते (सीमित नही करते या क्षत नही करते), उनकी हिसा न करते हुए वे वसुओ (की शक्ति) द्वारा (अपने लक्ष्य की तरफ) गति करते है[1]।" यह स्पष्ट है कि सात अगिरस्, चाहे वे मानव हो चाहे दिव्य, ज्ञान, विचार या शब्द के, सात-सिरो-वाले विचार के, वृहस्पति के सात-मुखो-वाले शब्द के भिन्न-भिन्न सात तत्त्वो को सूचित करते है और समतल विस्तार मे आकर वे एक विराट् ज्ञान मे समस्वर हो जाते है, स्खलन, कुटिलता, असत्य जिनके द्वारा मनुष्य देवो के कर्मों की हिंसा करते है तथा जिनके द्वारा उनकी सत्ता, चेतना व ज्ञान के विभिन्न तत्त्व एक दूसरे के साथ अधे सघर्ष मे जुट जाते है, दिव्य उषा की आख या दर्शन (Vision) द्वारा परे हटा दिये जाते है।

सूक्त समाप्त होता है वसिष्ठो की इस अभीप्सा के साथ कि उन्हे वह दिव्य तथा सुखमयी उषा प्राप्त हो जो कि गौओ की नेत्री है तथा समृद्धि की पत्नी है और साथ ही जो आनद तथा सत्यो की (सूनृतानाम्) नेत्री है[2]। वे उसी महाकार्य को करना चाहते है जिसे पूर्व द्रष्टाओ ने, पितरो ने, किया था, और इससे यह परिणाम निकलेगा कि ये मानवीय अगिरस् है, न कि दिव्य। कुछ भी हो, अगि-रसो के कथानक का अभिप्राय इसके सव अग-उपागोसहित नियत हो गया है, सिवाय इसके कि स्वरूपत पणि क्या है तथा सरमा कुतिया क्या है, और अब हम इस ओर प्रवृत्त हो सकते है कि चतुर्थ मण्डल के प्रारभ के सूक्तो में जो सदर्भ

---

[1]समान ऊर्वे अधि सगतास स जानते न यतन्ते मिथस्ते।
ते देवाना न मिनन्ति व्रतान्यमर्धन्तो वसुभिर्यादमाना ॥ (ऋ. ७-७६-५)

[2]प्रति त्वा स्तोमैरीळते वसिष्ठा उषर्बुध सुभगे तुष्टुवास ।
गवा नेत्री वाजपत्नी न उच्छोष सुजाते प्रथमा जरस्व ॥
एषा नेत्री राधस सूनृतानामुषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठै । (ऋ ७-७६-६,७)

आते हैं उनपर विचार करें, जिनमें कि मानव पितरों का साफ-साफ उल्लेख हुआ है और उनके महान् कार्य का वर्णन किया गया है। वामदेव के ये सूक्त अंगिरसों के कथानक के इस अंग पर अत्यधिक प्रकाश डालनेवाले तथा इस दृष्टि से अत्यावश्यक हैं और अपने-आपमें भी वे ऋग्वेद के अधिक-से-अधिक रोचक सूक्तों में से हैं।

बीसवा अध्याय

पितरों की विजय

महान् ऋषि वामदेव के द्वारा दिव्य ज्वाला को, द्रष्टृसकल्प (seer-will) को, 'अग्नि' को सबोधित किये गये सूक्त ऋग्वेद के उन सूक्तो मे से है जो कि अधिक-से-अधिक रहस्यवादी उद्गारवाले है और ये सूक्त यद्यपि अपने अभिप्रायो मे बिल्कुल सरल है यदि हम ऋषियो द्वारा प्रयुक्त की गयी अर्थपूर्ण अलकारो की पद्धति को दृढतापूर्वक अपने मनो मे बैठा लेवे, तथापि यदि हम ऐसा न कर सके तो ये हमे बेशक एसे पतीत होगे मानो ये केवल शब्दरूपको की चमक-दमकवाली एक धुन्धमात्र है, जो कि हमारी समझ को चक्कर में डाल देते है। पाठक को प्रतिक्षण उस नियत-सकेत-पद्धति को काम मे लाना होता है जो कि वेदमत्रो के आशय को खोलने की चाबी है, नही तो वह उतना ही अधिक घाटे मे रहेगा, जितना कि वह रहता है जो कि तत्त्वज्ञान-शास्त्र को पढना चाहता है पर तो भी जिसने उन दार्शनिक पारिभाषिक-सज्ञाओ के अभिप्राय को अच्छी प्रकार नही समझा है जो कि उस शास्त्र मे सतत रूप से प्रयुक्त होती है, अथवा हम यह कहें कि जितना वह रहता है जो कि पाणिनि के सूत्रो को पढने का यत्न करता है पर यह नही जानता कि व्याकरणसबधी सकेतो की वह विशेष पद्धति क्या है जिसमे कि वे सूत्र प्रकट किये गये है। तो भी आशा है वैदिक रूपको की इस पद्धति पर पहले ही हम पर्याप्त प्रकाश प्राप्त कर चुके है, जिससे कि वामदेव हमे मानवीय पूर्वपितरो के महाकार्य के विषय मे क्या कहना चाहता है इसे हम काफी अच्छी तरह समझ सकते है।

प्रारभ मे अपने मनो में इस बात को बैठा लेने के लिये कि वह महाकार्य क्या था, हम उन स्पष्ट तथा पर्याप्त सूत्र-वचनो को अपने सामने रख सकते है जिनमें कि पराशर शाक्त्य ने उन विचारो को प्रकट किया है। 'हमारे पितरो ने अपने शब्दो द्वारा (उक्थै) अचल तथा दृढ स्थानो को तोडकर खोल दिया, तुम अगि-

रसो ने अपनी आवाज से (रवेण) पहाडी को तोडकर खोल दिया, उन्होंने हमारे अदर महान् द्यौ के लिये मार्ग वना दिया, उन्होने दिन को, स्व को और दर्शन (Vision) को और जगमगानेवाली गौओ को पा लिया।'

चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अह स्वर्विविदु केतुमुस्रा ॥ (ऋ० १-७१-२)[1]

यह मार्ग, वह कहता है, वह मार्ग है जो कि अमरता की ओर ले जाता है, 'उन्होने जो कि उन सव वस्तुओ के अदर जा घुसे थे जो वस्तुए यथार्थ फल को देनेवाली है, अमरता की तरफ ले जानेवाले मार्ग को वनाया, महत्ता के द्वारा तथा महान् (देवो) के द्वारा पृथिवी उनके लिये विस्तीर्ण होकर खडी हो गयी, माता अदिति अपने पुत्रो के साथ उन्हें थामने के लिये आयी (या, उसने अपने-आपको प्रकट किया)' (ऋ० १ ७२ ९[2])। कहने का अभिप्राय यह है कि भौतिक सत्ता ऊपर के असीम स्तरो की महत्ता से आविष्ट होकर तथा उन महान् देवताओ की शक्ति से आविष्ट होकर जो कि उन स्तरो पर शासन करती है, अपनी सीमाओ को तोड डालती है, प्रकाश को लेने के लिये खुल जाती है और इस अपनी नवीन विस्तीर्णता मे वह असीम चेतना, 'माता अदिति', द्वारा तथा उसके पुत्रो, परमदेव की दिव्य शक्तियो द्वारा थामी जाती है। यह है वैदिक अमरता।

इस प्राप्ति तथा विस्तीर्णता के उपाय भी अति सक्षेप मे पराशर ने अपनी रहस्यमयी, पर फिर भी स्पष्ट और हृदयस्पर्शी शैली मे प्रतिपादन कर दिये है। 'उन्होंने सत्य को धारण किया, उन्होने इसके विचार को समृद्ध किया, तभी वस्तुत उन्होने, अभीप्सा करती हुई आत्माओ ने (अर्य) इसे विचार में धारण करते हुए, अपनी सारी सत्ता में फैले हुए इसे थामा।'

दधन्नृत धनयन्नस्य धीतिमादिदर्यो दिधिष्वो विभृत्रा। (ऋ १-७१-३)

---

[1] यह पूरा मत्र इस प्रकार है–

वीळु चिद् दृळ्हा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण।
चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अह स्वर्विविदु केतुमुस्रा ॥

[2] आ ये विश्वा स्वपत्यानि तस्थु कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्।
मह्ना महद्भि पृथिवी वि तस्थे माता पुत्रैरदितिर्धायसे वे ॥

'विभृत्रा' मे जो अलकार है वह **सत्य** के विचार को हमारी सत्ता के सारे तत्त्वो मे थामने को सूचित करता है, अथवा यदि इसे सामान्य वैदिक रूपक मे रखे, तो इस रूप मे कह सकते है कि, यह सात-सिरोवाले विचार को सारे सात जलो के अन्दर धारण करने को, **अप्सु धिय धिषे**, सूचित करता है, जैसा कि अन्यत्र इसे हम लगभग ऐसी ही भाषा मे प्रकट किया गया देख चुके है, यह इस अलकारमय वर्णन से स्पष्ट हो जाता है जो कि तुरन्त इसके बाद इसी ऋचा के उत्तरार्द्ध मे आया है,–'जो कर्म के करनेवाले है, वे तृष्णारहित (जलो) की तरफ जाते है, जो जल **आनन्द** की तुष्टि द्वारा दिव्य जन्मो को बढानेवाले है',

अतृष्यन्तीरपसो यन्त्यच्छा देवाञ्जन्म प्रयसा वर्धयन्तो ।

तुष्टि पायी हुई सप्तविध **सत्य**-सत्ता मे रहनेवाली सप्तविध सत्य-चेतना, **आनन्द** को पाने के लिये जो आत्मा की भूख है उसे शात करने के द्वारा, हमारे अन्दर दिव्य जन्मो को बढाती है, यह है **अमरता** की वृद्धि । यह है व्यक्तीकरण उस दिव्य सत्ता, दिव्य प्रकाश और दिव्य सुख के त्रैत का जिसे कि बाद मे चलकर वेदान्तियो ने **सच्चिदानन्द** कहा है ।

सत्य के इस विराट् फैलाव के तथा हमारे अन्दर सब दिव्यताओ की उत्पत्ति तथा क्रिया के (जो हमारे वर्तमान सीमित मर्त्य जीवन के स्थान पर हमे व्यापक और अमर जीवन प्राप्त हो जाने का आश्वासन दिलानेवाले है) अभिप्राय को पराशर ने १-६८ में और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। 'अग्नि', दिव्य **द्रष्टा-सकल्प** (Seer-will) का वर्णन इस रूप मे किया गया है कि वह द्युलोक में आरोहण करता है तथा उस सबमेंसे जो कि स्थिर है और उस सबमें-से जो कि चचल है रात्रियो के पर्दे को समेट देता है, 'जब वह ऐसा एक **देव** हो जाता है कि अपनी सत्ता की महिमा से इन सब दिव्यताओ को चारो ओर से घेर लेता है।*'

"तभी वस्तुत सब **सकल्प** को (या **कर्म** को) स्वीकार करते है और उसके

***श्रीणन् उप स्थाद् दिव भुरण्यु स्थातुश्चरथमक्तून् व्यूर्णोत् ।**
"परि यदेषामेको विश्वेषां भुवद्देवो देवाना महित्वा" ॥ (ऋ॰ १-६८-१)

साथ ससक्त हो जाते हैं, जब कि हे देव! तू शुष्कता में से (अर्थात् भौतिक सत्ता में से, मरुभूमि में से, जैसा कि कहा गया है, जो कि सत्य की धाराओ से असिञ्चित है) एक सजीव आत्माके रूप मे पैदा हो जाता है, सब अपनी गतियो द्वारा सत्य तथा अमरता को अधिगत करते हुए दिव्यता का आनन्द लेते है।"*

भजन्त विश्वे देवत्वं नाम, ऋतं सपन्तो अमृतमेवैः ।

"सत्य की प्रेरणा, सत्य का विचार एक व्यापक जीवन हो जाता है (या सारे जीवनको व्याप्त कर लेता है), और इसमे सब अपनी क्रियाओ को पूर्ण करते है।"

ऋतस्य प्रेषा ऋतस्य धीतिर्विश्वायुर्विश्वे अपांसि चक्रुः। (ऋ. १-६८-३)

और वेद की उस दुर्भाग्यपूर्ण भ्रात व्याख्या के शिकार होकर जिसे कि यूरोपियन पाण्डित्य ने आधुनिक मन पर थोप रखा है, कही हम अपने मन मे यह विचार न बना ले कि ये पजाब की ही सात भूमिष्ठ नदिया है जो कि मानव पूर्वपितरो के अतिलौकिक महाकार्य मे काम आती है, इसके लिये हमे ध्यान देना चाहिये कि पराशर अपनी स्पष्ट और प्रकाशकारिणी शैली में इन सात नदियो के बारे मे क्या कहता है। "सत्य की प्रीणयित्री गौओ ने ('धेनव', एक रूपक है जो कि नदियो के लिये प्रयुक्त किया गया है, जब कि 'गाव' या 'उस्रा' शब्द सूर्य की प्रकाशमान गौओ को प्रकट करता है) उसकी पालना की, सुखमय ऊधमो के साथ, रभाती हुई उन्होने द्यौ में आनन्द लिया, सुविचार को सर्वोच्च (लोक) मे वर रूप मे प्राप्त करके नदिया पहाडी के ऊपर विस्तीर्ण होकर तथा समता के साथ प्रवाहित हुई",

ऋतस्य हि धेनवो वावशाना, स्मदूध्नी पीपयन्त द्युभक्ता ।
परावत सुमतिं भिक्षमाणा वि सिन्धव समया सस्रुरद्रिम् ॥ (ऋ. १ ७३ ६)

और १-७२-८ मे एक ऐसी शब्दावलि मे उनका वर्णन करता हुआ जो कि दूसरे सूक्तो मे नदियो के लिये प्रयुक्त हुई है, वह कहता है, "विचार को यथार्थ रूप मे रखनेवाली, सत्य को जाननेवाली, द्यौ की सात शक्तिशाली (नदियो)

---

*आदित्ते विश्वे क्रतुं जुषन्त शुष्काद्यद्देव जीवो जनिष्ठा ।
भजन्त विश्वे देवत्वं नाम ऋतं सपन्तो अमृतमेवैः ॥ (ऋ. १-६८-२)

ने आनन्द के द्वारो को ज्ञान मे प्रत्यक्ष किया, 'सरमा' ने जगमगाती गौओ के दृढत्व को, विस्तार को पा लिया, उसके द्वारा मानुषी प्रजा आनन्द भोगती है।"

स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी, रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन्।

विदद् गव्य सरमा दृळ्हमूर्वं, येना नु क मानुषी भोजते विट्॥

स्पष्ट ही ये पजाब की नदिया नही है, बल्कि आकाश (द्यौ) की नदिया है, **सत्य** की धाराए है,* सरस्वती जैसी देविया है जो कि ज्ञान मे **सत्य** से युक्त है और जो इस **सत्य** के द्वारा मानुषी प्रजा के लिये **आनन्द** के द्वारो को खोल देती है। यहा भी हम वही देखते है, जिसपर कि मै पहले ही बल दे चुका हू, कि गौओ के ढूढ निकाले जाने में तथा **नदियों** के बह निकलने मे एक गहरा सम्बन्ध है, ये दोनो एक ही कार्य के, महाकार्य के अगभूत है, और वह है मनुष्यो द्वारा **सत्य** तथा **अमृत** की प्राप्ति का महाकार्य, **ऋत सपन्तो अमृतमेवै** ।

अब यह पूर्णतया स्पष्ट है कि अगिरसो का महाकार्य है **सत्य** तथा **अमरता** की विजय, 'स्व' जिसे कि महान् लोक, **बृहद् द्यौ**, भी कहा गया है **सत्य** का लोक है जो कि सामान्य द्यौ और पृथिवी से ऊपर है, जो द्यौ तथा पृथिवी इसके सिवाय और कुछ नही हो सकते कि ये सामान्य मानसिक तथा भौतिक सत्ता हो, बृहद् द्यौ का मार्ग, **सत्य** का मार्ग जिसे कि अगिरसो ने रचा है और सरमा ने जिसका अनुसरण किया है वह मार्ग है जो कि अमरता की तरफ ले जाता है, **अमृतत्वाय गातुम्**, उषा का दर्शन (केतु), अगिरसो द्वारा जीता गया **दिन**, वह दर्शन है, जो कि **सत्य-चेतना** का अपना स्वकीय है, **सूर्य** तथा **उषा** की जगमगाती हुई गौए, जो कि पणियो से जबर्दस्ती छीनी गयी है, इसी **सत्य-चेतना** की ज्योतिया है जो कि **सत्य** के विचार, **ऋतस्य धीति** को रचने में सहायक होती है, जो सत्य का विचार अयास्य के सात-सिरो-वाले विचार मे पूर्ण होता है, वेद की **रात्रि** मर्त्य

---

*देखो ऋ १ ३२ ८ में हिरण्यस्तूप अगिरस 'वृत्र' से मुक्त होकर आये हुए जलो का इस रूप मे वर्णन करता है कि वे "मन को आरोहण करते है" **मनो रुहाणा**, और अन्यत्र वे इस रूप में कहे गये है कि ये वे जल है जो कि अपने अन्दर ज्ञान को रखते हैं, **आपो विचेतस** (जैसे १ ८३ १ में)।

सत्ता की अधकारावृत चेतना है जिसमें कि सत्य अवचेतन हुआ-हुआ है, पहाडी की गुफा में छिपा हुआ है, रात्रिके इस अधकार में पडे हुए खोये सूर्यकी पुन प्राप्ति का अभिप्राय है अधकारपूर्ण अवचेतन अवस्था में से सत्य के सूर्य की पुन प्राप्ति, और सात नदियोके भूमिकी ओर अध प्रवाह होनेका मतलव होना चाहिये हमारी सत्ता के सप्तगुण तत्त्व की उस प्रकार की वहि प्रवाही क्रिया जैसी कि वह दिव्य या अमर सत्ता के सत्य में व्यवस्थित की जा चुकी है। इसी प्रकार, फिर पणि होने चाहियें वे शक्तिया जो कि सत्य को अवचेतन अवस्था में मे वाहर निकलने से रोकती हैं और जो सतत रूप से इस (मत्य) के प्रकाशो को मनुष्य के पास से चुराने का प्रयत्न करती हैं और मनुष्य को फिर से रात्रि में डाल देती हैं और वृत्र वह शक्ति होनी चाहिये जो कि सत्य की प्रकाशमान नदियो की स्वच्छन्द गति मे वाधा डालती है और उसे रोकती है, हमारे अदर सत्य की अन्त प्रेरणा, ऋतस्य प्रेषा मे वाधा पहुचाती है, उस ज्योतिर्मयी अन्त प्रेरणा, ज्योतिर्मयीम् इषम् मे जो कि हमें रात्रि मे पार कराके अमरता प्राप्त करा सकती है। और इसके विपरीत, देवता, 'अदिति' के पुत्र, होने चाहियें वे प्रकाशमयी दिव्यशक्तिया जो कि असीम चेतना 'अदिति' से पैदा होती है, जिनकी रचना और क्रिया हमारी मानवीय तथा मर्त्य सत्ता के अदर आवश्यक है, जिसमे कि हम विकसित होते-होते दिव्य रूप में देवो की अवस्था (देवत्वम्) में परिणत हो जाय, जो कि अमरता की अवस्था है। 'अग्नि' सत्य-चेतनामय द्रष्टृ-सकल्प है, वह प्रधान देवता है जो कि हमें यज्ञ को सफलतापूर्वक करने में समर्थ वना देता है, वह यज्ञ को सत्य के मार्ग पर ले जाता है, वह सग्राम का योद्धा है, कर्म का अनुष्ठाता है और अपने अदर अन्य सव दिव्यताओ को ग्रहण किये हुए उस 'अग्नि' की हमारे अदर एकता तथा व्यापकता का होना ही अमरता का आधार है। सत्य का लोक जहा कि हम पहुचते हैं उसका अपना घर है तथा अन्य देवो का अपना घर है और वही मनुष्य के आत्मा का अतिम प्राप्तव्य घर है। और यह अमरता वर्णित की गयी है एक परम सुख के रूप में, असीम आत्मिक सपत्ति तथा समृद्धि की अवस्था, रत्न, रयि, राधस् आदि के रूप मे, हमारे दिव्य घर के खुलनेवाले द्वार हैं आनद-समृद्धि के द्वार, रायो दुर, वे दिव्य द्वार जो कि उनके लिये झूलते हुए सपाट खुल जाते हैं जो

सत्य को वढानेवाले (ऋतावृध) हैं, और जिन द्वारो को हमारे लिये सरस्वती ने और इसकी वहिनो ने, सात सरिताओ ने, सरमा ने खोजा है, इन द्वारो की तरफ और उस विशाल चरागाह (क्षेत्र) की तरफ जो कि विस्तीर्ण सत्य की निर्वाध तथा सम नि सीमताओ मे है वृहस्पति और इन्द्र चमकीली गौओ को ऊपर की ओर ले जाते है।

इन विचारो को यदि हम स्पष्टतया अपने मनो मे गडा लेवे तो हम इस योग्य हो जायगे कि वामदेव की ऋचाओ को समझ सके, जो कि उसी विचार-सामग्री को प्रतीकमयी भाषा मे वार-वार दोहराती है जिसे कि पराशर ने अपेक्षाकृत अधिक खुले तौर पर व्यक्त कर दिया है। यह 'अग्नि' है, द्रष्टृ-सकल्प है जिसे वामदेव के प्रारभिक सूक्त मवोधित किये गये है। उसका इस रूप मे स्तुतिगान किया गया है कि वह मनुष्य के यज्ञ का वधु या निर्माता है, जो कि मनुष्य को दर्शन (Vision) के प्रति, ज्ञान (केतु) के प्रति जागृत करता है, **स चेतयन् मनुषो यज्ञबन्धु** (ऋ ४ १ ९)। ऐसा करता हुआ, "वह इस मनुष्य के द्वारोवाले घरो मे कार्यसिद्धि के लिये प्रयत्न करता हुआ निवास करता है, वह जो देव है, मर्त्य की कार्यसिद्धि मे साधन वनने के लिये आया है।"

स क्षेति अस्य दुर्यासु साधन् देवो मर्तस्य सधनित्वमाप ॥ (४-१-९)

वह क्या है जिसे कि यह सिद्ध करता है? यह अगली ऋचा हमे बताती है। "यह '**अग्नि**' जानता हुआ हमे अपने उस आनद की तरफ ले जाय जिसका देवो ने आस्वादन किया है, जिसे कि सव अमर्त्यों ने विचार द्वारा रचा है और 'द्यौष्पिता', जो कि जनिता है, **सत्य** का सिञ्चन कर रहा है।"

स तू नो अग्निर्नयतु प्रजानन्नच्छा रत्न देवभक्त यदस्य।
धिया यद् विश्वे अमृता अकृण्वन् द्यौष्पिता जनिता सत्यमुक्षन् ॥ (ऋ ४-१-१०)

यही है पराशर द्वारा वर्णित **अमरता** का परम सुख जिसे कि अमर्त्य देवताओ की शक्तियो ने **सत्य** के विचार में तथा इसकी अन्त प्रेरणा में अपना कार्य करके रचा है, और सत्य का सिञ्चन स्पष्ट ही जलो का सिञ्चन है, जैसा कि 'उक्षन्' शब्द से सूचित होता है, यह वही है जिसे कि पराशर ने पहाडी के ऊपर सत्य की सात नदियो का समतायुक्त प्रसार कहा है।

वामदेव अपने कथन को जारी रखता हुआ आगे हमें इस महान्, प्रथम या सर्वोच्च शक्ति, 'अग्नि' के जन्म के बारे मे कहता है, जो जन्म सत्य में होता है, इसके जलो मे, इसके आदिम घर मे होता है। 'प्रथम वह (अग्नि) पैदा हुआ जलो के अदर, वृहत् लोक (स्व) के आधार के अदर, इसके गर्भ (अर्थात् इसके आसन-स्थान और जन्म-स्थान, इसके आदिम घर) के अदर, वह विना सिर और पैर के था, अपने दो अतो को छिपा रहा था, वृषभ की माद में अपने आपको कार्य में लगा रहा था।'[1] वृषभ है देव या पुरुष, उसकी माद है सत्य का लोक, और अग्नि जो कि 'द्रष्टृ-सकल्प' है, सत्य-चेतना मे कार्य करता हुआ, लोको को रचता है, पर वह अपने दो अतो को, अपने सिर और पैरो को, छिपाता है, कहने का अभिप्राय यह है कि उसके व्यापार पराचेतन तथा अवचेतन (Superconscient and subconscient) के वीच में क्रिया करते है, जिनमे कि उसकी उच्चतम और निम्नतम अवस्थाए क्रमश छिपी रहती है एक तो पूर्ण प्रकाश मे दूसरी पूर्ण अधकार मे। वहासे फिर वह प्रथम और सर्वोच्च शक्ति के रूप में आगे प्रस्थान करता है और सुख की सात शक्तियो, सात प्रियाओ, की क्रिया के द्वारा वह वृषभ या देव के यहा पैदा हो जाता है। 'प्रकाशमय ज्ञान द्वारा जो कि प्रथमशक्ति के रूप में आया था, वह (अग्नि) आगे गया और सत्य के स्थान में, वृषभ की माद मे, वाछनीय, युवा, पूर्ण शरीरवाला, अतिशय जगमगाता हुआ, वह पहुच गया, सात प्रियाओ ने उसे देव के यहा पैदा कर दिया[2]।'

इसके वाद ऋषि आता है मानवीय पितरो के महाकार्य की ओर, अस्माकमत्र पितरो मनुष्या, अभि प्र सेदुर्ऋतमाशुषाणा। "यहा हमारे मानव पितर सत्य को खोजना चाहते हुए इसके लिये आगे वढे, अपने आवरक कारागार मे वन्द पडी हुई चमकीली गौओ को, चट्टान के वाडे मे वन्द अच्छी दुधार गौओ को वे

---

[1] स जायत प्रथम पस्त्यासु महो वुध्ने रजसो अस्य योनौ।
अपादशीर्षा गुहमानो अन्ताऽऽयोयुवानो वृषभस्य नीळे॥ (ऋ ४-१-११)

[2] प्र शर्ध आर्त प्रथम विपन्यॉं ऋतस्य योना वृषभस्य नीळे।
स्पार्हो युवा वपुष्यो विभावा सप्त प्रियासोऽजनयन्त वृष्णे॥ (ऋ. ४-१-१२)

ऊपर की तरफ (सत्य की ओर) हाक ले गये, उषाओ ने उनकी पुकार का उत्तर दिया[1]।१३। उन्होने पहाडी को विदीर्ण कर दिया और उन्हे (गौओ को) चमका दिया, अन्य जो कि उनके चारो तरफ थे उन सबने उनके इस (सत्य) को खुले तौर पर उद्घोषित कर दिया, पशुओ को हाकनेवाले उन्होने कर्मों के कर्त्ता (अग्नि) के प्रति स्तुति-गीतो का गान किया, उन्होने प्रकाश को पा लिया, वे अपने विचारो में जगमगा उठे (अथवा, उन्होने अपने विचारो द्वारा कार्य को पूर्ण किया)[2]।१४। उन्होने उस मन से जो कि प्रकाश की (गौओ की, गव्यता मनसा) खोज करता है, उस दृढ और निबिड पहाडी को तोड डाला जिसने कि प्रकाशमयी गौओ को घेर रखा था, इच्छुक आत्माओ ने दिव्य शब्द द्वारा, वचसा दैव्येन, गौओ से भरे हुए दृढ बाडे को खोल दिया[3]।१५।" ये अगिरसो के कथानक के सामान्य आलकारिक वर्णन है, पर अगली ऋचा मे वामदेव अपेक्षाकृत और भी अधिक रहस्यमयी भाषा का प्रयोग करता है। "उन्होने प्रीणयित्री गौ के प्रथम नाम को मन मे धारण किया, उन्होने माता के त्रिगुणित सात उच्च (स्थानो) को पा लिया, मादा गायो ने उसे जान लिया और उन्होने इसका अनुसरण किया, प्रकाशरूपी गौ की शानदार प्राप्ति (या शोभा) के द्वारा एक अरुण वस्तु आविर्भूत हुई।"

ते मन्वत प्रथम नाम धेनोस्त्रि सप्त मातु परमाणि विन्दन्।
तज्जानतीरभ्यनूषत व्रा आविर्भुवदरुणीर्यशसा गो ॥ (ऋ ४-१-१६)

यहा माता है 'अदिति', असीम चेतना, जो कि 'धेनु' या प्रीणयित्री गौ है, जिसके साथ अपने सप्तगुण प्रवाह के रूप में सात सरिताए है, साथ ही वह प्रकाश की

---

[1]अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभि प्र सेदुर्ऋतमाशुषाणा।
अश्मव्रजा सुदुघा वव्रे अन्तरुदुस्रा आजन्नुषसो हुवाना ॥ (ऋ ४-१-१३)

[2]ते मर्मृजत ददृवासो अद्रि तदेषामन्ये अभितो वि वोचन्।
पश्वयन्त्रासो अभि कारमर्चन् विदन्त ज्योतिश्चकृपन्त धीभि ॥ (ऋ ४-१-१४)

[3]ते गव्यता मनसा दृध्रमुब्ध गा येमान परि षन्तमद्रिम्।
दृळ्ह नरो वचसा दैव्येन व्रज गोमन्तमुशिजो वि वव्रु ॥ (ऋ ४-१-१५)

'गौ' भी है जिसके साथ उषाए है, जो कि उसके शिशुओ के रूप मे है, वह अरुण वस्तु है दिव्य उषा और गायें या किरणे है उसके खिलते हुए प्रकाश। जिसके त्रिगुणित सात परम स्थान है जिन्हे कि उषाए या मानसिक प्रकाश जानते है और उनकी ओर गति करते है, उस माता का प्रथम नाम होना चाहिये परम देव का नाम या देवत्व, जो देव असीम सत्ता है और असीम चेतना है और असीम सुख है, और तीन आसन-स्थान है तीन दिव्य लोक जिन्हे कि इससे पहले इसी सूक्त मे अग्नि के तीन उच्च जन्म कहा[1] है, जो कि पुराणो के 'सत्य', 'तपस्' और 'जन' है, जो कि देव की इन तीन असीमताओ के अनुरूप है और इनमें से प्रत्येक अपने-अपने तरीके से हमारी सत्ता के सप्तगुण तत्त्व को पूर्ण करता है, इस प्रकार हम अदिति के त्रिगुणित सात स्थानो की श्रेणिया पाते है जो कि सत्य की दिव्य उषा मे से खुलकर अपनी सपूर्ण शोभा में प्रकट हो गयी है[2]। इस प्रकार हम देखते है कि मानवीय पितरो द्वारा की गयी प्रकाश तथा सत्य की उपलब्धि भी एक आरोहण है, जो कि परम तथा दिव्य पद की अमरता की तरफ होता है, सर्वस्रष्ट्री असीम माता के प्रथम नाम की ओर होता है, इस आरोहण करनेवाली सत्ता के लिये उस (माता) के जो त्रिगुणित सात उच्च पद है उनकी ओर होता है और सनातन पहाडी (अद्रि) के सर्वोच्च सम-प्रदेशो (सानु) की ओर होता है।

यह अमरता वह आनद है जिसका देवो ने आस्वादन किया है, जिसके विषय मे वामदेव हमें पहले ही बतला चुका है कि यह वह वस्तु है जिसे कि 'अग्नि' को यज्ञ द्वारा सिद्ध करना है, यह वह सर्वोच्च सुख है जो ऋ १ २० ७ के अनुसार अपने त्रिगुणित सात आनन्दो से युक्त है। क्योकि आगे वह कहता है "अन्ध-

---

[1]देखो मत्र ७,—"त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्ने।"

[2]इसी विचार को मेधातिथि काण्व ने (ऋ १ २० ७ मे) दिव्य सुख के त्रिगुणित सात आनदो, रत्नानि त्रि साप्तानि, के रूप मे व्यक्त किया है, अथवा यदि और अधिक शाब्दिक अनुवाद को ले, तो इस रूप मे कि आनद जो अपनी सात-सात की तीन श्रेणियो में है, जिनमे से प्रत्येक को ऋभु अपने पृथक्-पृथक् तथा पूर्ण रूप मे प्रकट कर देते है, एकमेक सुशस्तिभि।

कार नष्ट हो गया, जिसका आधार हिल चुका था, द्यौ चमक उठा (**रोचत द्यौ**, अभिप्राय प्रतीत होता है स्व के तीन प्रकाशमाय लोकों, **दिवो रोचनानि**, की अभिव्यक्ति से), दिव्य **उषा** का प्रकाश ऊपर उठा, **सूर्य** (सत्य के) विस्तीर्ण क्षेत्रो में प्रविष्ट हुआ, मर्त्यों के अन्दर सरल तथा कुटिल 'वस्तुओं को देखता हुआ'[1]। १७। इसके पश्चात् सचमुच वे जाग गये और वे (सूर्य द्वारा किये गये कुटिल से सरल के, अनृत से सत्य के पार्थक्य द्वारा) विशेष रूप से देखने लगे, तभी वस्तुत उन्होंने उनके अन्दर उस सुख को थामा जो कि द्युलोक में आस्वादन किया गया है, **रत्न धारयन्त द्युभक्तम्**। (हम चाहते है कि) सबके सब देव हमारे सब घरो में होवे, हे मित्र, हे वरुण, वहा हमारे विचार के लिये सत्य होवे[2]।" **विश्वे विश्वासु दुर्यासु देवा मित्र धिये वरुण सत्यमस्तु** ॥१८॥ यह स्पष्ट वही बात है जो कि पराशर शाक्त्य द्वारा इसकी अपेक्षा भिन्न भाषा में व्यक्त की जा चुकी है, अर्थात् सत्य के विचार और प्रेरणा द्वारा सारी सत्ता की अभिव्याप्ति हो जाना और उस विचार तथा प्रेरणा में सब देवत्वो का व्यापार होने लगना जिससे कि हमारी सत्ता के अंग-अग में दिव्य सुख और अमरता का सृजन हो जावे।

सूक्त समाप्त इस प्रकार होता है, 'मैं **अग्नि** के प्रति शब्द को बोल सकू, जो अग्नि विशुद्ध रूप में चमक रहा है, जो हवियो का पुरोहित (होता) है, जो यज्ञ में सब से बडा है, जो सब कुछ हमारे पास लानेवाला है, वह दोनो को हमारे लिये निचोड देवे, **प्रकाश की गौओं** के पवित्र ऊधस् को और आनन्द के पौदे (सोम) के पवित्रीकृत भोजन को जो कि सर्वत्र परिषिक्त हुआ-हुआ है[3]। १९।

---

[1]नेशत् तमो दुधित रोचत द्यौरुद् देव्या उषसो भानुरर्त।
आ सूर्यो बृहतस्तिष्ठदज्रॉं ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्॥ (ऋ ४ १.१७)

[2]आदित् पश्चा बुबुधाना व्यख्यन्नादिद् रत्न धारयन्त द्युभक्तम्।
विश्वे विश्वासु दुर्यासु देवा मित्र धिये वरुण सत्यमस्तु॥ (ऋ ४.१ १८)

[3]अच्छा वोचेय शुशुचानमग्नि होतार विश्वभरस यजिष्ठम्।
शुच्यूधो अतृणन्न गवामन्धो न पूत परिषिक्तमशो॥ (ऋ ४ १ १९)

वह यज्ञ के सव अधिपतियो की (देवो की) असीम सत्ता (अदिति) है और सव मनुष्यों का अतिथि है, (हम चाहते है कि) अग्नि जो अपने अन्दर देवों की वृद्धिशील अभिव्यक्ति को स्वीकार करता है, जन्मो को जाननेवाला है, मुख का देनेवाला होवे[1]। २०।'

चतुर्थ मण्डल के दूसरे सूक्त मे हम वहुत ही स्पष्ट तौर पर और अर्थसूचक रूप से सात ऋषियो की समरूपता को पाते है जो ऋषि कि दिव्य अगिरस है तथा मानवीय पितर है। उस सदर्भ से पहले, ४-२-११ से १४ तक ये चार ऋचाए आती है जिनमें कि सत्य तथा दिव्य सुख की अन्वेपणा का वर्णन है। 'जो ज्ञाता है वह ज्ञान तथा अज्ञान का, विस्तृत पृष्ठो का तथा कुटिल पृष्ठो का जो मर्त्यो को अन्दर वन्द करते है, पूर्णतया विवेक कर सके, और हे देव, सतान मे सुफल होनेवाले सुख के लिये 'दिति' को हमे दे डाल और 'अदिति' की रक्षा कर[2]।' यह ग्यारहवी ऋचा अपने अर्थ मे वडी ही अद्भुत है। यहा हम ज्ञान तथा अज्ञान की विरोधिता पाते है जो कि वेदान्त मे मिलती है, और ज्ञान की समता दिखायी गयी है विशाल खुले पृष्ठो मे जिनका कि वेद मे वहुधा सकेत आता है, ये वे विशाल पृष्ठ है जिनपर कि वे आरोहण करते है जो कि यज्ञ में श्रम करते हैं और वे वहा अग्नि को 'आत्मानन्दमय' (स्वजेन्य) रूप मे बैठा हुआ पाते है (५-७-५), वे है विशाल अस्तित्व जिस को कि वह अपने निजी शरीर के लिये रचता है (५-४-६), वे सम-विस्तार है, निर्वाध बृहत् है।

इसलिये यह देव की असीम सत्ता है जिसे कि हम सत्य के लोक पर पहुचकर पाते है, और यह अदिति माता के त्रिगुणित सात उच्च स्थानो मे युक्त है, 'अग्नि' के तीन जन्मो से युक्त है, जो अग्नि असीम के अदर रहता है, अनते अत (४ १ ७)। दूसरी तरफ अज्ञान की तद्रूपता दिखायी गयी है कुटिल या विपम

---

[1] विश्वेषामदितिर्यज्ञियाना विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्।
अग्निर्देवानामव आवृणान सुमृळीको भवतु जातवेदा ॥ ४।१।२०

[2] चित्तिमचित्ति चिनवद् वि विद्वान् पृष्ठेव वीता वृजिना च मर्तान्।
राये च न स्वपत्याय देव दिति च रास्वादितिमुरुष्य ॥ ४।२।११

पृष्ठों' से जो कि मर्त्यों को अदर वन्द करते है और इसीलिये यह सीमित विभक्त मर्त्य सत्ता है। इसके अतिरिक्त यह स्पष्ट है कि यह **अज्ञान** ही अगले मत्रार्ध का दिति है, **दितिं च रास्व अदितिम् उरुष्य,** और **ज्ञान** है **अदिति**। 'दिति' का, जिसे कि 'दानु' भी कहा गया है, अर्थ है विभाग और वाधक शक्तिया या 'वृत्र' है उसकी सताने जिन्हे कि दानव, दानवा, दैत्या कहा गया है जव कि **अदिति** है वह सत्ता जो अपनी असीमता में रहती है और देवो की माता है। ऋषि एक ऐसे सुख की कामना कर रहा है जो कि सतान मे सुफल हो, अर्थात् दिव्य कार्यो और उनके फलो में, और यह सुख प्राप्त किया जाना है एक तो इस प्रकार कि उन सव ऐश्वर्यों को जीता जाय जिन्हे कि हमारी विभक्त मर्त्य सत्ता ने अपने अदर रखा हुआ है पर 'वृत्र' तथा 'पणियो' ने जिन्हे हमसे छीन लिया है, और दूसरे इस प्रकार कि उन्हे असीम दिव्य सत्ता मे धारित किया जाय। उन ऐश्वर्यों के धारण को हमें अपनी मानवीय सत्ता की सामान्य प्रवृत्ति से, 'दनु' या 'दिति' के पुत्रो की अधीनता से वचाना होगा, रक्षित रखना होगा। यह विचार स्पष्ट ही ईश उपनिषद् के उस विचार से मिलता है जिसमे यह कहा गया है कि **ज्ञान** (विद्या) और **अज्ञान** (अविद्या), एकता और वहुरूपता ये दोनो एक ब्रह्म मे निहित है और इनका इस प्रकार धारण करना अमरता की प्राप्ति की शर्त है।[2]

इसके वाद हम सात दिव्य द्रष्टाओ पर आते है। "अपराजित द्रष्टाओ ने **द्रष्टा** को (**देव** को, **अग्नि** को) कहा, उसे अदर मानव सत्ता के घरो में धारण करते हुए, यहासे (इस शरीरधारी मानव सत्ता से) हे अग्ने! कर्म द्वारा अभीप्सा

---

[1]'वृजिना' का अर्थ है कुटिल, और यह वेद में अनृत की कुटिलता को सूचित करने के लिये प्रयुक्त हुआ है जो कि **सत्य** की सरलता (ऋजुता) से विपरीत है, पर यहा कवि स्पष्ट ही अपने मन के अन्दर 'वृज्' के धात्वर्थ को रखे हुए है, अर्थात् पृथक् करना, पर्दा डालकर विभक्त करना और इससे वने विशेषण-शब्द 'वृजिन' का यही शाब्दिक अर्थ है जो 'मर्तान्' को विशेषित करता है।

[2]**विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद् वेदोभय सह।**
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ईश ११

करता हुआ (अर्थ), तू अपनी उन्नतिशील गतियो से उन्हे देख सके जिनका कि तुझे दर्शन (Vision) प्राप्त करना चाहिये, जो कि सबसे अतिक्रान्त, अद्भुत है, (देव के देवत्व है)।"

कविं शशासु कवयोऽदब्धा., निधारयन्तो दुर्यास्वायो ।

अतस्त्वं दृश्यां अग्न एतान् पड्भि पश्येरद्भुतां अर्य एवैः ॥(४ २ १२)

अब यह पुन देवत्व के दर्शन (Vision) की यात्रा है। "तू, हे अग्ने! सर्वाधिक युवा शक्तिवाले! उसके लिये जो कि शब्द का गान करता है और सोम की हवि देता है और यज्ञ का आदेश देता है, (उस यात्रा में) पूर्ण पथ-प्रदर्शक है, उस आरोचमान के लिये जो कि कर्म को पूर्ण करता है, तू सुख को ला, जो सुख उसके आगे बढने के लिये बृहत् आनद मे युक्त हो, कर्म के कर्ता को (या, मनुष्य को, **चर्षणिप्रा**) तुष्टि देनेवाला हो।१३[1]। अब, ओ अग्ने! उस सबको जिसे कि हमने अपने हाथो से और अपने पैरो मे और अपने शरीरो मे रचा है, सच्चे विचारक (अगिरस्) इस रूप में कर देते है, मानो कि, यह तेरा रथ है, जो कि दो भुजाओ के (द्यौ और पृथिवी के, **भुरिजो**) व्यापार द्वारा बना है, सत्य को अधिगत करना चाहते हुए उन्होने इसके प्रति अपने मार्ग को बना लिया है, (या इस सत्य पर वश प्राप्त किया है) **ऋतं येमु सुध्य आशुपाणा** ॥१४॥[2] अब उषा माता के सात द्रष्टा, (यज्ञ के) सर्वोत्कृष्ट विनियोक्ता, हम पैदा हो जाय, जो अपने-आपमे देव है, हम अगिरस्, द्यौ के पुत्र, बन जाय, पवित्र रूप मे चमकते हुए धन-दौलत से भरपूर पहाडी को तोड डाले[3]।१५।" यहा हम बहुत ही स्पष्ट रूप में सात दिव्य द्रष्टाओं को इस रूप मे पाते है कि वे विश्व-यज्ञ के सर्वोत्तम

---

[1]त्वमग्ने वाघते सुप्रणीति सुतसोमाय विधते यविष्ठ।
रत्नं भर शशमानाय घृष्वे पृथुश्चन्द्रमवसे चर्षणिप्रा ॥(४.२ १३)

[2]अधा ह यद् वयमग्ने त्वाया पड्भिर्हस्तेभिश्चकृमा तनूभि ।
रथं न क्रन्तो अपसा भुरिजोर्ऋतं येमु सुध्य आशुपाणा ॥ (४ २.१४)

[3]अधा मातुरुषस सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसो नॄन्।
दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाऽद्रिं रुजेम धनिन शुचन्त ॥ (४ २ १५)

विधायक है और इस विचार को पाते है कि मनुष्य ये सात द्रष्टा "बन जाता है", अर्थात् वह उन द्रष्टाओ को अपने अदर रचता है और स्वय उनके रूप मे परिणत हो जाता है, ठीक वैसे ही जैसे कि वह द्यौ और पृथिवी तथा अन्य देव बन जाता है, अथवा जैसा कि इसे दूसरे रूप में यो प्रतिपादित किया गया है कि, वह अपनी स्वकीय सत्ता मे दिव्य जन्मो को पैदा कर लेता है, रच लेता है या निर्मित कर लेता है, (जन, कृ, तन्)।

आगे इस रूप मे मानवीय पितरो का उदाहरण दिया गया है कि उन्होने इस महान् "बन जाने" के और इस महाप्राप्ति व महाकार्य के आदिम आदर्श (नमूने) को उपस्थित किया है। "अब भी, हे अग्ने! जैसे कि हमारे उत्कृष्ट पूर्व पितरो ने, सत्य को अधिगत करना चाहते हुए, शब्द को अभिव्यक्त करते हुए, पवित्रता और प्रकाश की ओर यात्रा की थी, उन्होने पृथिवी को (भौतिक सत्ता को) तोडकर उनको जो कि अरुण थी (उषाओ को, गौओ को) खोल दिया।१६।[1] पूर्ण कर्मोवाले तथा पूर्ण प्रकाशवाले, दिव्यताओ को पाना चाहते हुए, वे देव, जन्मो को लोहे के समान घडते हुए (या दिव्य जन्मो को लोहे के समान घडते हुए), 'अग्नि' को एक विशुद्ध ज्वाला बनाते हुए, 'इन्द्र' को बढाते हुए, वे प्रकाश के विस्तार को (गौओ के विस्तार को, गव्यम् ऊर्वम्) पहुच गये और उन्होने उसे पा लिया।१७[2]। जो कि अदर देवों के जन्म है वे दर्शन (Vision) मे अभिव्यक्त हो गये, मानो ऐश्वर्यों के खेत मे गौओ के झुण्ड हो, ओ शक्तिशालिन्, (उन देवो ने दोनो कार्य किये) मर्त्यों के विशाल सुखभोगो को (या उनकी इच्छाओ को) पूर्ण किया और उच्चतर सत्ताकी वृद्धि के लिये भी अभीप्सुके तौर पर कार्य किया"

आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद्देवाना यज्जनिमान्त्युग्र।
मर्तानां चिदुर्वशीरकृप्रन्, वृधे चिदर्य उपरस्यायो ॥ (ऋ ४ २ १८)

---

[1]अधा यथा न पितरः परास प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणा।
शुचीदयन् दीधितिमुक्थशास क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन्॥ (४ २ १६)

[2]सुकर्माण सुरुचो देवयन्तोऽयो न देवा जनिमा धमन्त।
शुचन्तो अग्नि ववृधन्त इन्द्रमूर्व गव्य परि षदन्तो अग्मन् ॥(ऋ ४ २ १७)

स्पष्ट ही यह इस द्विविध विचार की पुनरुक्ति है, जो कि दूसरे शब्दो मे रख दी गयी है, कि दिति के ऐश्वर्यों को धारण करना, तो भी अदिति को सुरक्षित रखना। "हमने तेरे लिये कर्म किया है, हम कर्मों में पूर्ण हो गये हैं, खुली चमकती हुई उषाओ ने सत्य मे अपना घर कर लिया है, (या सत्य के चोगे से अपने आपको आच्छादित कर लिया है), अग्नि की परिपूर्णता में और उसके बहुगुणित आनद मे, अपनी सपूर्ण चमक मे युक्त जो देव की चमकती हुई आख है, उसमे (उन्होंने अपना घर बना लिया है)* ।१९।"

४ ३ ११ ऋचा मे फिर अगिरसो का उल्लेख आया है, और जो वर्णन इस ऋचा तक हमें ले जाते है उनमेंसे कुछ विशेष ध्यान देने योग्य है, क्योकि इस बात को जितना दोहराया जाय उतना थोडा है कि वेद की कोई भी ऋचा तबतक भली प्रकार नही समझी जा सकती जबतक कि इसका प्रकरण न मालूम हो, सूक्त के विचार मे उसका क्या स्थान है यह न मालूम हो, उसके पहले और पीछे जो कुछ वर्णन आता है वह सब न मालूम हो। सूक्त इस प्रकार प्रारभ होता है कि मनुष्यो को पुकारकर कहा गया है कि वे उस 'अग्नि' को रचे जो कि सत्य मे यज्ञ करता है, उसे उसके सुनहरी प्रकाश के रूप मे रचे, (हिरण्यरूपम्, हिरण्य सर्वत्र सत्य के सौर प्रकाश, ऋत ज्योति, के लिये प्रतीक के तौर पर आया है) इससे पहले कि अज्ञान अपने-आपको रच सके, पुरा तनयित्नोरचित्तात् (४-३-१)। इस अग्निदेव को कहा गया है कि वह मनुष्य के कर्म के प्रति और इसके अदर जो सत्य है उसके प्रति जागृत हो, क्योकि वह स्वय 'ऋतचित्' है, सत्य-चेतनामय है, विचार को यथार्थ रूप से धारण करनेवाला है, ऋतस्य बोधि ऋतचित् स्वाधी (४-३-४)—क्योकि सारा अनृत केवल सत्य का एक अयथार्थ धारण ही है। उसे मनुष्य के अदर के सब दोष और पाप और न्यूनताओ को विभिन्न देवत्वो या परम देव की दिव्य शक्तियो को सौंपना होता है, जिससे कि उन्हे दूर किया जा सके ताकि अतत मनुष्य को असीम माता के सम्मुख निर्दोष घोषित किया जा सके—

---

*अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभाती।
अनूनमग्निं पुरुधा सुश्चन्द्रं देवस्य मर्मृजतश्चारु चक्षु ॥ (ऋ. ४ २.१९)

अदितये अनागस, अथवा 'असीम सत्ता' के लिये, जैसा कि इसे अन्यत्र प्रकट किया गया है।

इसके बाद नौवी तथा दसवी ऋचा में हम, अनेकविध सूत्रो मे प्रकट किये गये, सयुक्त मानवीय तथा दिव्य सत्ता के, 'दिति' और 'अदिति' के विचार को पाते हैं जिनमेंसे पिछली अर्थात् अदिति अपने साथ पहली अर्थात् दिति को स्थित करती है, नियन्त्रित करती है और अपने प्रवाह से आपूरित करती है। 'सत्य जो कि सत्य से नियमित है, उसे मैं चाहता हू (अभिप्राय है, मानवीय सत्य जो कि दिव्य सत्य से नियमित है), गौ की अपक्व वस्तुए और उसकी परिपक्व तथा मधुमय देन (पुन, अभिप्राय यह होता है कि अपूर्ण मानवीय फल तथा विराट् चेतना व सत्ता के पूर्ण और आनदमय दिव्य फल) एक साथ हो, वह (गौ) काली (अधेरी और विभक्त सत्ता, दिति) होती हुई आधार के चमकीले जल द्वारा, सहचरी धाराओ के जल द्वारा (जामर्यण पयसा) पालित होती है।[1]। सत्य के द्वारा 'अग्नि' वृषभ, नर, अपने पृष्ठो के जल से सिक्त हुआ-हुआ, न कापता हुआ, विस्तार को (विशाल स्थान या अभिव्यक्ति को) स्थापित करता हुआ विचरता है, चितकबरा बैल विशुद्ध चमकीले स्तन को दुहता है।[2]।' उस एक की जो कि स्रोत है, आसन-स्थान है, आधार है, चमकीली सुफेद पवित्रता और त्रिविध लोक मे अभिव्यक्त हुए जीवन की चितकबरी रगत—इन दोनो के बीच प्रतीकरूप मे विशेषवर्णन वेद में जगह-जगह आता है, इसलिये चितकबरे बैल का और विशुद्ध चमकीले ऊधस या जलो के स्रोत का यह अलकार, अन्य अलकारो की तरह, केवल मानवीय जीवन के बहुरूप अनेकविध अभिव्यक्तीकरण के विचार को ही दोहराता है,—मानवीय जीवन के जो कि पवित्र, अपनी क्रियाओ मे शान्ति-युक्त एव सत्य और असीमता के जलो से परिपुष्ट है।

---

[1]ऋतेन ऋत नियतमीळ आ गोरामा सचा मधुमत् पक्वमग्ने।
कृष्णा सती रुशता धासिनैषा जामर्येण पयसा पीपाय॥ (ऋ ४।३।९)

[2]ऋतेन हि ष्मा वृषभश्चिदक्त पुमाँ अग्नि पयसा पृष्ठ्येन।
अस्पन्दमानो अचरद् वयोधा वृषा शुक्र दुदुहे पृश्निरूध ॥ (ऋ ४ ३ १०)

अत मे ऋषि प्रकाशमय गौओ और जलों का इकट्ठा जोडकर वर्णन (जैसा वर्णन वेद मे वार-बार और जगह-जगह हुआ है) करने लगता है, "सत्य के द्वारा अगिरसो ने पहाडी को तोडकर खोल दिया और उछालकर अलग फेंक दिया और गौओ के साथ वे सयुक्त हो गये, उन मानवीय आत्माओ ने सुखमयी उषा में अपना निवास बनाया, 'स्व' अभिव्यक्त हो गया जब कि अग्नि पैदा हुआ।११[1]। सत्य के द्वारा दिव्य अमर जल, जो कि मृदित नही थे, अपनी मधुमय बाढ मे युक्त, हे अग्ने, एक शाश्वत प्रवाह मे प्रवाहित हो पडे, जैसे कि अपनी सरपट चाल में तेजी से दौडता हुआ घोडा[2]।१२।" ये चार (९ १० ११ १२) ऋचाए वास्तव मे अमरता-प्राप्ति के महाकार्य की प्रारभिक शर्त्तो को बनाने के लिये अभिप्रेत है। ये महान् गाथा के प्रतीक है, रहस्यवादियो की उस गाथा के जिसके अदर उन्होने अपने अत्युच्च आध्यात्मिक अनुभव को अधार्मिको से छिपाकर रखा था, पर जो, शोक से कहना पडता है, उनकी सतति से भी काफी अच्छी तरह से छिपा रहा। ये रहस्यमय प्रतीक थे, अलकार थे, जिनमे कि उस सत्य को व्यक्त करना अभिप्रेत था जिसकी उन्होने अन्य सबसे रक्षा की थी और केवल दीक्षित को, ज्ञानी को, द्रष्टा को देना चाहते थे, इस बात को वामदेव स्वय इसी सूक्त की अतिम ऋचा मे अत्यधिक सरल और जोरदार भाषा मे हमे कहता है—"ये सब रहस्यमय शब्द है जिनको कि मैंने तेरे प्रति उच्चारण किया है, जो तू ज्ञानी है, हे अग्ने ! हे विनियोजक ! जो आगे ले जानेवाले शब्द है, द्रष्टा-ज्ञानके शब्द है, जो कि द्रष्टा के लिये अपने अभिप्राय को प्रकट करते है,—मैंने उन्हे अपने शब्दो और अपने विचारो में प्रकाशित होकर बोला है।"

एता विश्वा विदुषे तुभ्य वेधो नीथान्यग्ने निण्या वचासि।
निवचना कवये काव्यान्यशसिष मतिभि विप्र उक्थै ॥ (ऋ ४ ३ १६)

---

[1]ऋतेनाद्रि व्यसन् भिदन्त. समङ्गिरसो नवन्त गोभि ।
शुन नर परि षदन्नुषासमावि स्वरभवज्जाते अग्नौ ॥ (ऋ ४.३ ११)

[2]ऋतेन देवीरमृता अमृक्ता अर्णोभिरापो मधुमद्भिरग्ने।
वाजी न सर्गेषु प्रस्तुभान प्र सदमित् स्रवितये दधन्यु ॥ (ऋ ४ ३ १२)

ये रहस्यमय शब्द हैं, जिन्होंने कि सचमुच रहस्यार्थ को अपने अदर रखा हुआ है, जो रहस्यार्थ पुरोहित, कर्मकाण्डी, वैयाकरण, पडित, ऐतिहासिक, गाथाशास्त्री द्वारा उपेक्षित और अज्ञात रहा है, जिनके लिये कि वे शब्द अधकार के शब्द सिद्ध हुए है या अस्तव्यस्तता की मुहरे साबित हुई है, न कि वैसे जैसे कि वे महान् प्राचीन पूर्वपितरो और उनकी प्रकाशपूर्ण सतति के लिये थे, **निण्या वचासि नीथानि निवचना काव्यानि** (अर्थात् रहस्यमय शब्द जो कि आगे ले जानेवाले है, अपने अभिप्राय को प्रकट कर देनेवाले, द्रष्टा-ज्ञान से युक्त शब्द)।

इक्कीसवां अध्याय

देवशुनी सरमा

अब भी अंगिरसो के कथानक के दो स्थिरभूत अंग अवशिष्ट हैं जिनके कि सम्बन्ध में हमें थोडा और अधिक प्रकाश प्राप्त करने की आवश्यकता है, जिससे कि हम सत्य के, और प्राचीन पितरो के द्वारा उषा की ज्योतियो की पुन -प्राप्ति के इस वैदिक विचार को पूर्णतया प्रवीणतापूर्वक समझ सकें, अर्थात् हमें सरमा के स्वरूप को और पणियो के ठीक-ठीक व्यापार को नियत करना है, जो दो वैदिक व्याख्या की ऐसी समस्याए हैं जो कि घनिष्ठता के साथ परस्पर-सम्बद्ध है। यह कि सरमा प्रकाश की और सभवत उषा की कोई शक्ति है बहुत ही स्पष्ट है, क्योकि एक वार जब हम यह जान लेते है कि वह सघर्ष जिसमे इन्द्र तथा आदिम आर्य-ऋषि एक तरफ थे और 'गुफा' के पुत्र दूसरी तरफ थे कोई आदिकालीन भारतीय इतिहास का अनोखा विकृत रूप नही है बल्कि यह प्रकाश और अधकार की शक्तियो के बीच होनेवाला एक आलकारिक युद्ध है, तो सरमा जो कि जगमगानेवाली गौओ की खोज मे आगे-आगे जाती है और मार्ग तथा पर्वत का गुप्त दुर्ग इन दोनो को खोज लेती है, अवश्यमेव मानवीय मन के अन्दर सत्य की उषा की अग्रदूती होनी चाहिये। और यदि हम अपने-आपसे पूछे कि सत्यान्वेषिणी कार्यशक्तियो में से वह कौनसी शक्ति है जो कि इस प्रकार हमारी सत्ता में अज्ञान के अन्धकार में छिपे पडे हुए सत्य को वहा से खोज लाती है तो तुरन्त हमे अन्तर्ज्ञान (Intuition) का स्मरण आयेगा। क्योकि 'सरमा' सरस्वती नही है, वह अन्त प्रेरणा (Inspiration) नही है, यद्यपि ये दोनो नाम हैं सजातीय से। सरस्वती देती है ज्ञान के पूर्ण प्रवाह को, वह महती धारा, 'महो अर्ण' है, या महती धारा को जगानेवाली है और वह प्रचुरता के साथ सब विचारो को प्रकाशित कर देती है, 'विश्वा धियो विराजति।' 'सरस्वती' सत्य के प्रवाह से युक्त है और स्वय सत्य का

प्रवाह है, 'सरमा' है सत्य के मार्ग पर यात्रा करनेवाली और इसे खोजनेवाली, जो कि स्वय उससे युक्त नही है वल्कि जो खोया हुआ है उसे ढूढकर पानेवाली है। नाही वह 'इळा' देवी के समान, स्वत प्रकाश-ज्ञान (Revelation) की सम्पूर्ण वाणी, मनुष्य की **शिक्षिका** है, क्योकि जिसे वह खोजना चाहती है उसका पता पा लेने के वाद भी वह उसे अधिगत नही कर लेती, वल्कि सिर्फ यह खवर ऋषियो को तथा उनके दिव्य सहायको को पहुचा देती है, जिन्हें कि उस प्रकाश को जिसका कि पता लग गया है अधिगत करने के लिये फिर भी युद्ध करना पडता है।

तो भी हम देखते है कि वेद स्वय सरमा के वारे में क्या कहता है ? सूक्त १-१०४ में एक ऋचा (५वी) है जिसमे कि सरमा के नाम का उल्लेख नही है, नाही वह सूक्त स्वय अगिरसो या पणियो के विषय मे है, तो भी वह पक्ति ठीक उसी बात का वर्णन कर रही है जो कि वेद मे सरमा का कार्य वताया गया है– "जब कि यह पथप्रदर्शक प्रत्यक्ष हो गया, वह, जानती हुई, उस सदन की तरफ गयी जो कि मानो 'दस्यु' का घर था।"

प्रति यत् स्या नीथादर्शि दस्योरोको नाच्छा सदन जानती गात्।

सरमा के ये दो स्वरूप है (१) ज्ञान उसे प्रथम ही, दर्शन से पहिले, हो जाता है, न्यूनतम सकेतमात्र पर सहज रूप से वह उसे उद्भासित हो जाता है, तथा (२) उस ज्ञान से वह वाकी की कार्यशक्तियो का और दिव्य-शक्तियो का जो कि उस ज्ञान को खोजने मे लगी होती है पथप्रदर्शन करती है। और वह उस स्थान **'सवनम्'** को, **विनाशकों** के घर को ले जाती है जो कि **सत्य** के स्थान, **'सदनम् ऋतस्य'**, की अपेक्षा सत्ता के दूसरे ध्रुव (Pole) पर है जो अन्धकार की गुफा या गुह्यस्थान में–गुहायाम्–है, ठीक वैसे ही जैसे कि देवो का घर प्रकाश की गुफा या गुह्यता में है। दूसरे शब्दो में, वह एक शक्ति है जो कि पराचेतन **सत्य** (Superconscient Truth) से अवतीर्ण होकर आयी है, जो कि हमें उस प्रकाश तक ले जाती है जो हमारे अन्दर अवचेतन (Subconscient) में छिपा पडा है। ये सव विशेषगुण अन्तर्ज्ञान (Intuition) पर बिल्कुल घटते है।

सरमा नाम लेकर वेद के बहुत थोडे सूक्तो मे उल्लिखित हुई है और वह नियत रूप से अंगिरसो के महाकार्य के या सत्ता के सर्वोच्च स्तरो की विजय के साथ सम्बद्ध होकर आयी है। इन सूक्तो मे सबसे अधिक आवश्यक सूक्त है अत्रियो का सूक्त ५-४५, जिसके विषय मे हम नवग्वा तथा दशग्वा अगिरसो की अपनी परीक्षा के प्रसग मे पहले भी ध्यान दे चुके हैं। प्रथम तीन ऋचाए उस महाकार्य को सक्षेप मे वर्णित करती है–"शब्दो के द्वारा द्यौ की पहाडी का भेदन करके उसने उन्हे पा लिया, हा, आती हुई उषा की चमकीली (ज्योतिया) खुलकर फैल गयी, उसने उन्हे खोल दिया जो कि बाडे के अन्दर थी, स्व ऊपर उठ गया, एक देव ने मानवीय द्वारो को खोल दिया[1] ॥१॥ सूर्य ने बल और शोभा को प्रचुर रूप मे पा लिया, गौओ की माता (उषा) जानती हुई विस्तीर्णता (के स्थान) से आयी, नदिया तीव्र प्रवाह हो गयी, वे प्रवाह जिन्होने कि (अपनी प्रणाली को) काटकर बना लिया, द्यौ एक सुघड स्तम्भ के समान दृढ हो गया[2] ॥२॥ इस शब्द के प्रति गर्भिणी पहाडी के गर्भ महतियो के (नदियो के या अपेक्षाकृत कम सभव है कि उषाओ के) उच्च जन्म के लिये (बाहर निकल पडे)। पहाडी पृथक्-पृथक् विभक्त हो गयी, द्यौ पूर्ण हो गया (या उसने अपने-आपको सिद्ध कर लिया), वे (पृथिवी पर) बस गये और उन्होने विशालता को बाट दिया[3] ॥३॥" ये इन्द्र तथा अगिरस् है जिनके सबध मे ऋषि कह रहा है, जैसा कि बाकी सारा सूक्त दर्शाता है और जैसा कि वस्तुत ही प्रयोग किये गये मुहावरो से स्पष्ट हो जाता है, क्योकि ये आगिरस गाथा मे आम तौर से प्रयुक्त होनेवाले सूत्र है और ये ठीक उन्ही मुहावरोको दोहरा

---

[1] विदा दिवो विष्यन्नद्रिमुक्थैरायत्या उषसो अर्चिनो गु।
अपावृत व्रजिनीरुत् स्वर्गाद् वि दुरो मानुषीर्देव आव ॥ ५ ४५.१ ॥

[2] वि सूर्यो अमतिं न श्रियं सादोर्वाद् गवां माता जानती गात्।
धन्वर्णसो नद्य खादोअर्णा. स्थूणेव सुमिता दृंहत द्यौ ॥ ५.४५ २ ॥

[3] अस्मा उक्थाय पर्वतस्य गर्भो महीना जनुषे पूर्व्याय।
वि पर्वतो जिहीत साधत द्यौराविवासन्तो दसयन्त भूम ॥ ५.४५.३ ॥

रहे है, जो मुहावरे उन सूक्तो में सतत रूप से प्रयुक्त हुए है जो कि उषा, गौओ और सूर्य की मुक्ति के सूक्त है।

इनका अभिप्राय क्या है, यह हम पहले से ही जानते है। हमारी पहले से बनी हुई त्रिगुण (मन प्राणशरीरात्मक) सत्ता की पहाडी, जो कि अपने शिखरो से आकाश (द्यौ) में उठी हुई है, इन्द्र द्वारा विदीर्ण कर दी जाती है और उसमे छिपी हुई ज्योतिया खुली फैल जाती है, 'स्व', पराचेतना का उच्चतर लोक, चमकीली गौओ (ज्योतियो) के ऊर्ध्वमुख प्रवाह के द्वारा अभिव्यक्त हो जाता है। **सत्य** का सूर्य अपने प्रकाश की सपूर्ण शक्ति और शोभा को प्रसृत कर देता है, आन्तरिक उषा ज्ञान से भरी हुई प्रकाशमान विस्तीर्णता से उदित होती है,–'जानती गात्' यह वही वाक्याश है जो कि, १ १०४ ५ मे उसके लिये प्रयुक्त हुआ है जो कि 'दस्यु' के घर को ले जाती है, और ३ ३१ ६ मे सरमा के लिये,– **सत्य** की नदिया जो कि इसकी सत्ता तथा इसकी गति के वहि प्रवाह (ऋतस्य प्रेषा) को सूचित करती है अपनी द्रुत धाराओ में नीचे उतरती है और अपने जलो के लिये यहा एक प्रणाली का निर्माण करती है, द्यौ, मानसिक सत्ता, पूर्ण बन जाती है और एक सुघड स्तम्भ की न्याई सुदृढ हो जाती है जिससे कि वह उस उच्चतर या अमर जीवन के बृहत् **सत्य** को थाम सके जो कि अब अभिव्यक्त कर दिया गया है और उस **सत्य** की विशालता यहा सारी भौतिक सत्ता के अदर बस गयी है। पहाडी के गर्भो, **'पर्वतस्य गर्भ'** का जन्म, उन ज्योतियो का जन्म जो कि सात-सिरोवाले विचार, **'ऋतस्य धीति'** को निर्मित करती है और जो कि अन्त प्रेरित शब्द के प्रत्युत्तर मे निकलती है, उन सात महान् नदियो के उच्च जन्म को प्राप्त कराता है जो नदिया क्रियाशील गति मे वर्तमान **सत्य** के सार-तत्त्व, **'ऋतस्य प्रेषा'** को निर्मित करती है।

फिर इन्द्र और अग्नि का आवाहन करके 'पूर्ण वाणी के उन शब्दो द्वारा जो कि देवो को प्रिय है'–क्योकि इन्ही शब्दो द्वारा मरुत्* यज्ञो को करते है, उन द्रष्टाओ के रूप में जो कि अपने द्रष्टृ-ज्ञान द्वारा यज्ञिय कर्म को सुचारु रूप से करते है

---

*जीवन की विचार-साधक शक्तिया, जैसा कि आगे चलकर प्रकट हो जायगा।

(उक्थेभिर्हि ष्मा कवय सुयज्ञा मरुतो यजन्ति ।४।)—ऋषि इसके बाद मनुष्यों के मुख मे एक उद्बोधन और पारस्परिक प्रोत्साहन के वचन कहलाता है कि वे भी क्यो न पितरो के समान कार्य करे और उन्ही दिव्य फलो को प्राप्त कर ले। 'अब आ जाओ, आज हम विचार में पूर्ण हो जाय, कष्ट और असुविधा को नष्ट कर डाले, उच्चतर सुख अपनायें',

एतो न्वद्य सुध्यो भवाम प्र दुच्छुना मिनवामा वरीय ।

'सब प्रतिकूल वस्तुओ को (उन सब वस्तुओ को जो कि आक्रमण करती और विभक्त कर देती हैं, द्वेषासि) अपनेसे सदा बहुत दूर रखे, हम यज्ञके पति की तरफ आगे बढ़ें ॥५॥[1] आओ, मित्रो, हम विचार को रचे (स्पष्ट ही जो कि सात-सिरोवाला अगिरसो का विचार है), जो कि माता (अदिति या उषा) है और जो कि गौ के आवरण करनेवाले बाडे को हटा देता है[2]।' अभिप्राय पर्याप्त स्पष्ट है, यह ऐसे ही सदर्भो मे होता है जैसे कि ये है कि वेद का आन्तरिक आशय अपने-आपको प्रतीक के आवरण मे आधा मुक्त कर लेता है।

इसके बाद ऋषि उस महान् और प्राचीन उदाहरण का उल्लेख करता है जिसके लिये मनुष्यो को पुकारा गया है कि वे उसे दोहराये, वह है अगिरसो का उदाहरण, सरमा का महापराक्रमकार्य। "यहा पत्थर गतिमय किया गया, जिसके द्वारा नवग्वा दस महीनो तक मत्र का गान करते रहे, सरमा ने सत्य के पास जाकर गौओ को पा लिया, अगिरसो ने सब वस्तुओ को सत्य कर दिया[3] ॥७॥ जब कि इस एक महती (उषा जो कि असीम अदिति को सूचित करती है, माता गवामदिते-रनीकम्) के उदय मे सब अगिरस् गौओ के साथ (अथवा इसकी अपेक्षा शायद यह ठीक हो कि 'प्रकाशो के द्वारा', जो प्रकाश कि गौओ या किरणो के प्रतीक मे सूचित होते है) मिलकर इकट्ठे हो गये, इन (प्रकाशो) का स्रोत उच्च लोक में

---

[1]आरे द्वेषासि सनुतर्दधाम, अयाम प्राञ्चो यजमानमच्छ ॥५॥

[2]एता धिय कृणवामा सखायोऽप या माता ऋणुत व्रज गो. ॥६॥

[3]अनूनोदत्र हस्तयतो अद्रिरार्चन् येन दश मासो नवग्वा ।
ऋत यती सरमा गा अविन्दद् विश्वानि सत्याङ्गिराश्चकार ॥ ५.४५.७ ॥

था, सत्य के मार्ग द्वारा सरमा ने गौओ को पा लिया* ॥८॥" यहा हम देखते है कि सरमा की गति द्वारा, जो सरमा सत्य के मार्ग द्वारा सीधी सत्य को पहुच जाती है, यह हुआ है कि सात ऋषि, जो कि अयास्य और बृहस्पति के सात-सिरोवाले या सात-गौओवाले विचार के द्योतक है, सब छिपे हुए प्रकाशो को पा लेते है और इन प्रकाशों के बल से वे सब इकट्ठे मिल जाते है, जैसा कि हमे पहले ही वसिष्ठ कह चुका है कि, वे समविस्तार मे, 'समाने ऊर्वे' इकट्ठे होते है, जहासे कि उषा ज्ञान के साथ उतरकर आयी है, (अर्वाद् जानती गात्, ऋचा २) या जैसा कि यहा इस रूप मे प्रकट किया गया है कि इस एक महत्ती के उदय मे अर्थात् 'असीम चेतना' मे। वहा, जैसा कि वसिष्ठ कहता है, वे सयुक्त हुए-हुए ज्ञान मे सम्मत हो जाते है (इकट्ठे जानते है) और परस्पर प्रयत्न नही करते, 'सगतास सजानत न यतन्ते मियस्ते', अभिप्राय यह है कि वे सातो एक हो जाते है, जैसा कि एक दूसरी ऋचा मे सूचित किया गया है, वे सात-मुखो-वाला एक अगिरस् हो जाते है—यह ऐसा रूपक है जो कि सात-सिरोवाले विचार के रूपक के अनुसारी है—और यही अकेला सयुक्त अगिरस् है जो कि सरमा की खोज के फलस्वरूप सब वस्तुओ को सत्य कर देता है (ऋचा ७)। समस्वर हुआ-हुआ, सयुक्त, पूर्ण हुआ-हुआ द्रष्टा-सकल्प सब मिथ्यात्व और कुटिलता को ठीक कर देता है, और सब विचार, जीवन, क्रिया को सत्य के नियमो में परिणत कर देता है। इस सूक्त में भी सरमा का कार्य ठीक वही है जो कि अन्तर्ज्ञान (Intuition) का होता है, जो कि सीधा सत्य पर पहुचता है, सत्य के सरल मार्ग द्वारा न कि सशय और भ्राति के कुटिल मार्गों द्वारा और जो अधकार तथा मिथ्या प्रतीतियो के आवरण के अदर से सत्य को निकालकर मुक्त कर देता है, यह उस (सरमा) मे खोजे और पाये गये प्रकाशो द्वारा ही होता है कि द्रष्टा-मन सत्य के पूर्ण स्वत प्रकाश-ज्ञान (Revelation) को पाने मे समर्थ होता है।

सूक्त का अवशिष्ट-अश वर्णन करता है सात-घोडोवाले सूर्य के अपने उस खेत

---

*विश्वे अस्या व्युषि माहिनाया स यद् गोभिरङ्गिरसो नवन्त।
उत्स आसा परमे सधस्थ ऋतस्य पथा सरमा विदद् गा ॥ ५ ४५ ८ ॥

की ओर उदय होने का "जो खेत लम्बी यात्रा की समाप्ति पर उसके लिये विशाल होकर फैल जाता है", वेगवान् पक्षी (श्येन) की सोम-प्राप्ति का, और युवा द्रष्टा के द्वारा देदीप्यमान गौओवाले उस खेत को पा लिये जाने का, सूर्य के "प्रकाशमय समुद्र" पर आरोहण का, "विचारको द्वारा नीयमान जहाज की तरह" सूर्य के इस समुद्र को पार कर लेने का और अपनी पुकार के प्रत्युत्तर मे उस समुद्र के जलो का मनुष्य मे अवतरण होने का। उन जलो मे अगिरस् का सप्त-गुणित विचार मनुष्य द्रष्टा द्वारा स्थापित किया गया है। यदि हम यह याद रखे कि सूर्य द्योतक है पराचेतना या सत्यचेतनामय ज्ञान के प्रकाश का और 'प्रकाशमय समुद्र' द्योतक है माता अदिति के अपने त्रिगुणित सात स्थानो के साथ पराचेतन के लोको का, तो इन प्रतीकात्मक[1] उक्तियो का अभिप्राय समझ लेना मुश्किल नही होगा। यह उच्चतम प्राप्ति है उस परम लक्ष्य की जो कि अगिरसो की पूर्ण कार्यसिद्धि के बाद, सत्य के लोक पर उनके सयुक्त आरोहण के बाद प्राप्त होती है, ठीक वैसे ही जैसे कि वह कार्यसिद्धि सरमा के द्वारा गौओ का पता पा लिये जाने के बाद प्राप्त होती है।

एक और सूक्त जो कि इस सबध मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है तृतीय मण्डल का ३१वा सूक्त है, जिसका ऋषि विश्वामित्र है। "अग्नि (दिव्य-शक्ति) पैदा हो गया है, जो कि अरुष (आरोचमान, देव, रुद्र) के महान् पुत्रो के प्रति यज्ञ करने के लिये जो हवि दी गयी है उससे उठती हुई अपनी ज्वाला से कम्पायमान हो रहा है, उनका शिशु बडा महान् है, एक व्यापक जन्म हुआ है, चमकीले घोडो को हाकने-वाले की (इन्द्र की, दिव्य मन की) यज्ञो के द्वारा बडी महान् गति हो रही है[2] ॥३॥

---

[1]यही आशय है जिसमे कि हम सुगमता से वेद की अन्य अनेक अबतक धुधली दीखनेवाली उक्तियो को समझ सकते है, उदाहरणार्थ ८ ६८ ९ "हम अपने युद्धो मे तेरी सहायता से उस महान् दौलत को जीत लेवे जो कि जलो मे और सूर्य मे रखी है—अप्सु सूर्ये महद् धनम्"।

[2]अग्निर्जज्ञे जुह्वा३ रेजमानो महस्पुत्राँ अरुषस्य प्रयक्षे।
महान् गर्भो मह्या जातमेषा मही प्रवृद्धर्यश्वस्य यज्ञै ॥ ३.३१.३ ॥

विजेत्री (उषाए) स्पर्धा मे उसके साथ ससक्त हो गयी, वे ज्ञान द्वारा अधकार मे से एक महान् प्रकाश को छुडा लाती है, जानती हुई उषाए उसके प्रति उद्गत हो रही है, इन्द्र जगमगाती गौओ का एकमात्र स्वामी बन गया है[1] ।४। 'उन गौओ को जो कि (पणियो के) दृढ स्थान के अदर थी, विचारक विदीर्ण करके बाहर निकाल लाये, मन के द्वारा सात द्रष्टाओ ने आगे की ओर (या ऊपर उच्च लक्ष्य की ओर) उन्हे गति दी, उन्होने सत्य के सपूर्ण मार्ग (यात्रा के लक्ष्य-क्षेत्र) को पा लिया, उन (सत्य के परम स्थानो) को जानता हुआ इन्द्र नमन द्वारा उनके अदर प्रविष्ट हो गया।"

वीळौ सतीरभि धीरा अतृन्दन् प्राचाहिन्वन् मनसा सप्त विप्रा ।

विश्वामविन्दन् पथ्यामृतस्य प्रजानन्नित्ता नमसा विवेश ।। (ऋ ३ ३१ ५)

यह, जैसा कि सर्वत्र पाते है, महान् जन्म, महान् प्रकाश, सत्य ज्ञान की महान् दिव्यगति का वर्णन है, जिसके साथ लक्ष्य-प्राप्ति और देवो तथा द्रष्टाओ (ऋषियो) का ऊपर के उच्च स्तरो में प्रवेश भी वर्णित है। आगे हम इस कार्य में जो सरमा का भाग है उसका उल्लेख पाते है। "जब सरमा ने पहाडी के भग्न स्थान को ढूढकर पा लिया, तब उस इन्द्र ने (या सभव है, उस सरमा ने) महान् तथा उच्च लक्ष्य को सतत बना दिया। वह सुन्दर पैरोवाली सरमा उसे (इन्द्र को) अविनाश्य गौओ (उषा की अवध्य गौओ) के आगे ले गयी, प्रथम जानती हुई वह, उन गौओ के शब्द की तरफ गयी[2] ।।६।।" यह पुन अन्तर्ज्ञान (Intuition) है जो इस प्रकार पथप्रदर्शन करता है, जानती हुई वह तुरन्त और सबके सामने जा पहुचती है, बन्द पडे हुए प्रकाशो के शब्द की ओर—उस स्थान की ओर जहा कि खूब मजबूत बनी हुई और अभेद्य प्रतीत होनेवाली (वीळु, दृढ) पहाडी टूटी हुई है और जहा से अन्वेषक उसके अदर घुस सकते है।

---

[1]अभि जैत्रीरसचन्त स्पृधान महि ज्योतिस्तमसो निरजानन् ।
त जानती प्रत्युदायन्नुषास पतिर्गवामभवदेक इन्द्र ।। ३.३१ ४ ।।

[2]विदद् यदी सरमा रुग्णमद्रे र्महि पाथ पूर्व्यं सध्र्यक्क ।
अग्र नयत् सुपद्यक्षराणामच्छा रव प्रथमा जानती गात् ।। ३ ३१ ६ ।।

सूक्त का शेष भाग अंगिरसो और इन्द्र के इस पराक्रम-कार्य के वर्णन को जारी रखता है। "वह (इन्द्र) जो कि उन सबमे सबसे अधिक महान् द्रष्टा था, उनसे मित्रता करता हुआ गया, गर्भिता पहाडी ने अपने गर्भों को पूर्ण कर्मों के कर्ता के लिये बाहर की ओर प्रेरित कर दिया, मनुष्यत्व के बल में, युवा (अंगिरसो) के साथ ऐश्वर्यों की समृद्धि को चाहते हुए उसने (इन्द्र ने) उसे अधिगत कर लिया, तब प्रकाश के मन्त्र (अर्क) का गान करता हुआ वह तुरत अंगिरस हो गया'[1] ॥७॥ हमारे सामने प्रत्येक सत् वस्तु का रूप और माप होता हुआ, वह सारे जन्मो को जान लेता है, वह शुष्ण का वध कर देता है।[2]" अभिप्राय यह है कि दिव्य मन (इद्र) एक ऐसा रूप धारण करता है जो ससार की प्रत्येक सत् वस्तु के अनुरूप होता है और उसके सच्चे दिव्य रूप को तथा अभिप्राय को प्रकट करता है और उस मिथ्या-शक्ति को नष्ट कर देता है जो कि ज्ञान तथा क्रिया को विरूप, विकृत करनेवाली है। "गौओ का अन्वेष्टा, द्यौ के स्थान (पद) का यात्री, मन्त्रो का गान करता हुआ, वह सखा अपने सखाओ को (सच्ची आत्माभिव्यक्ति की) सारी कमियो से मुक्त कर देता है'[3] ॥८॥ उस मन के साथ जिसने कि प्रकाश को (गौओ को) खोजा था, वे प्रकाशक शब्दो द्वारा अपने स्थानो पर स्थित हो गये, अमरता की ओर मार्ग बनाते हुए (नि गव्यता मनसा सेदुरर्कैः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्)। यह है उनका वह विशाल स्थान, वह सत्य, जिनके द्वारा उन्होने महीनो को (दशग्वाओ के दश मासो को) अधिगत किया था'[4] ॥९॥ दर्शन (Vision) मे समस्वर हुए (या पूर्णतया देखते हुए) वे अपने स्वकीय (घर, स्व) में आनन्दित

---

[1]अगच्छदु विप्रतम सखीयन्नसूदयत् सुकृते गर्भमद्रि।
ससान मर्यो युवभिर्मखस्यन्नथाभवदङ्गिरा सद्यो अर्चन्॥ ३.३१.७॥

[2]सत सत प्रतिमान पुरोभूर्विश्वा वेद जनिमा हन्ति शुष्णम्।

[3]प्र णो दिव पदवीर्गव्युरर्चन् त्सखा सखीरमुञ्चन्निरवद्यात्॥ ३.३१.८॥

[4]नि गव्यता मनसा सेदुरर्कै कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्।
इद चिन्नु सदन भूर्येषा येन मासाँ असिषासन्नृतेन॥ ३.३१.९॥

हुए, (वस्तुओ के) पुरातन वीज के दूध को दुहते हुए। उनके (शब्द की) आवाज ने सारे द्यावापृथिवी को तपा दिया (अभिप्राय है तपती हुई निर्मलता को, 'घर्म, तप्त घृत', रच दिया, जो कि सूर्य की गौओ की देन है), उसमें जो कि पैदा हो गया था, उन्होने उसे रखा जो दृढस्थित था और गौओ मे वीरो को (अभिप्राय है कि युद्ध-शक्ति ज्ञान के प्रकाश के अन्दर रखी गयी)[1] ॥१०॥

"वृत्रहा इद्र ने, उनके द्वारा जो कि पैदा हुए थे (यज्ञ के पुत्रो के द्वारा), हवियो के द्वारा, प्रकाश के मन्त्रो द्वारा, चमकीली गौओ को ऊपर की ओर मुक्त कर दिया, विस्तीर्ण और आनन्दमयी गौ (अदिति रूपी गौ, वृहत् तथा सुखमय उच्चतर चेतना) ने उसके लिये मधुर अन्न को, घृत-मिश्रित मधु को लाते हुए, अपने दूध के रूप में उसे प्रदान किया[2] ॥११॥ इस पिता के लिये (द्यौ के लिये) भी उन्होने विस्तीर्ण तथा चमकीले स्थान को रचा, पूर्ण कर्मों के करनेवाले उन्होने इसका सम्पूर्ण दर्शन (Vision) पा लिया। अपने अवलम्बन से मातापिताओ (पृथिवी और द्यौ) को खुला सहारा देते हुए वे उस उच्चलोक में स्थित हो गये और इसके सारे आनन्द से सरावोर हो गये[3] ॥१२॥ [4]जब (पाप और अनृत को) हटाने के लिये महान् विचार पृथिवी तथा द्यौ को व्याप्त करने के अपने कार्य मे एकदम वढते हुए उसको थामता है, धारण करता है—तव इन्द्र के लिये, जिसमें कि सम तथा निर्दोष वाणिया रहती है,

---

[1]सपश्यमाना अमदन्नभि स्व पय प्रत्नस्य रेतसो दुधाना।
वि रोदसी अतपद् घोष एषा जाते निष्ठामवधुर्गोषु वीरान् ॥३ ३१.१०॥

[2]स जातेभिर्वृत्रहा सेदु हव्यैरुदुस्रिया असृजदिन्द्रो अर्कै।
उरूच्यस्मै घृतवद् भरन्ती मधु स्वाद्म दुदुहे जेन्या गौ ॥३.३१ ११॥

[3]पित्रे चिच्चक्रु सदन समस्मै महि त्विषीमत् सुकृतो वि हि ख्यन्।
विष्कभ्नन्त स्कम्भनेना जनित्री आसीना ऊर्ध्वं रभस वि मिन्वन् ॥३.३१.१२॥

[4]मही यदि धिषणा शिश्नथे धात् सद्योवृध विभ्व रोदस्यो.।
गिरो यस्मिन्ननवद्या समीचीर्विश्वा इन्द्राय तविषीरनुत्ता ॥३.३१.१३॥

सब अवृष्य शक्तिया प्राप्त हो जाती है ॥१३॥ उसने महान्, बहु-रूप और सुखमय खेत को (गौओ के विशाल खेत को, स्व को) पा लिया है, और उसने एक साथ सारे गतिमय गोव्रज को अपने सखाओ के लिये प्रेरित कर दिया है। इन्द्र ने मानवीय आत्माओ (अगिरसो) द्वारा देदीप्यमान होकर एक साथ सूर्य को, उषा को, मार्ग को और ज्वाला को पैदा कर दिया है ॥१५॥[1]"

अवशिष्ट ऋचाओ मे यही अलकार जारी है, केवल वर्षा का वह सुप्रसिद्ध रूपक और बीच मे आ गया है जो कि इतना अधिक गलत तौर पर समझा जाता रहा है। "प्राचीन पैदा हुए-हुए को मै नवीन बनाता हू जिसमे कि मै विजयी हो सकू। तू अवश्य हमारे अनेक अदिव्य घातको को हटा दे और स्व को हमारे अधिगत करने के लिये धारण कर ॥१९॥[2] पवित्र करनेवाली वर्षाए हमारे सामने (जलो के रूप मे) फैल गयी है, हमे सुख की अवस्था को तू ले जा जो कि उनका परला किनारा है। हे इन्द्र! अपने रथ मे बैठकर युद्ध करता हुआ तू शत्रु से हमारी रक्षा कर, शीघ्रातिशी[illegible] हमे गौओ का विजेता बना दे ॥२०॥[3] वृत्र के वधकर्ता, गौओ के स्वामी ने (मनुष्यो को) गौओ का दर्शन करा दिया, अपने चमकते हुए नियमो (या दीप्तियो) के साथ वह उनके अन्दर जा घुसा है जो कि काले है (प्रकाश से खाली है, जैसे कि पणि), सत्यो को (सत्य की गौओ को) दिखाकर सत्य के द्वारा उसने अपने सारे द्वारो को खोल दिया है, [4]प्र सूनृता दिशमान ऋतेन दुरश्च विश्वा

---

[1]महि क्षेत्र पुरु श्चन्द्र विविद्वानादित् सखिभ्यश्चरथ समैरत्।
इन्द्रो नृभिरजनद् दीद्यान साक सूर्यमुषस गातुमग्निम् ॥३ ३१.१५॥

[2]तमङ्गिरस्वन्नमसा सपर्यन् नव्य कृणोमि सन्य सेपुराजाम्।
द्रुहो वि याहि बहुला अदेवी स्वश्च नो मघवन् त्सातये धा ॥३ ३१ १९॥

[3]मिह पावका प्रतता अभूवन् त्स्वस्ति न पिपृहि पारमासाम्।
इन्द्र त्व रथिर पाहि नो रिषो मक्षूमक्षू कृणुहि गोजितो न ॥३.३१ २०॥

[4]अदेदिष्ट वृत्रहा गोपतिर्गा अन्त कृष्णा अरुषैर्धामभिर्गात्।
प्र सूनृता दिशमान ऋतेन दुरश्च विश्वा अवृणोदप स्वा. ॥३.३१ २१॥

अवृणोदप स्वा ॥२१॥" अभिप्राय यह है कि वह अपने निज लोक, स्व के द्वारो को खोल देता है, उसके वाद जव कि हमारे अन्धकार के अन्दर उसके प्रवेश द्वारा (अन्त कृष्णान् गात्) 'मानवीय द्वार' जिन्हे कि पणियो ने बन्द कर रखा था टूटकर खुल पडते है।

सो यह है वर्णन इस अद्भुत सूक्त का, जिसके कि अधिकाश का मैंने अनुवाद कर दिया है क्योकि यह वैदिक कविता के रहस्यवादी तथा पूर्णतया आध्यात्मिक दोनो ही प्रकार के स्वरूप को चामत्कारिक रूप मे खोलकर सामने रख देता है और ऐसा करते हुए यह उस रूपक के स्वरूप को भी स्पष्टतया प्रकट कर देता है जिसके वीच मे सरमा का अलकार आया है। सरमा के विपय में ऋग्वेद में जो अन्य उल्लेख आते है वे इस विचार मे कोई विशेष महत्त्व की वात नही जोडते। एक सक्षिप्त उल्लेख हम ४-१६-८ मे पाते है, 'जव तू हे इन्द्र (पुरुहूत) पहाडी का विदारण करके उसके अन्दर से जलो को निकाल लाया तव तेरे सामने सरमा आविर्भूत हुई, इसी प्रकार हमारा नेता वनकर अगिरसो से स्तुति किया जाता हुआ तू वाडो को तोडकर हमारे लिये वहुतसी दौलत को निकाल ला'*। यह अन्तर्ज्ञान (Intuition) है जो कि **दिव्य मन** के सामने इसके अग्रदूत के रूप मे आविर्भूत होता है, जव कि जलो का, **सत्य** की उन प्रवाह-रूप गतियो का प्रादुर्भाव होता है जो कि इस पहाडी को तोडकर निकलती है जिसमें कि वे वृत्र द्वारा दृढता से बन्द की हुई थीं (ऋचा ७), और यह इस **अन्तर्ज्ञान** द्वारा ही होता है कि यह देव (दिव्य मन, इन्द्र) हमारा नेता वनता है, इसके लिये कि वह **प्रकाश** को मुक्त कराये और उस वहुत सी दौलत को अधिगत कराये जो कि पणियो के दुर्गद्वारो के पीछे चट्टान के अन्दर छिपी पडी है।

सरमा का एक और उल्लेख हम पराशर शाक्त्य के एक सूक्त, ऋ १ ७२ में पाते है। यह सूक्त उन सूक्तो मे से है जो कि वैदिक कल्पना के आशय को अत्यधिक स्पष्टता के साथ प्रकट कर देते है, नि सदेह पराशर के अन्य वहुत से सूक्तो की ही

***अपो यदद्रि पुरुहूत दर्दराविर्भुवत् सरमा पूर्व्यं ते।**
स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणान. ॥४ १६.८॥

भाति, जो पराशर कि बहुत विशद-प्रकाश-युक्त कवि है और जिसे यह सदा प्रिय है कि रहस्यवादी के पर्दे के एक कोने को ही नही किंतु कुछ अधिक को हटाकर वर्णन करे। यह सूक्त छोटा-सा है और मै इस पूरे का ही अनुवाद करूगा।

नि काव्या वेधस शश्वतस्कर्हस्ते दधानो नर्या पुरूणि।

अग्निर्भुवद् रयिपती रयीणां सत्रा चक्राणो अमृतानि विश्वा ॥ (ऋ० १.७२.१)

उसने, अपने अदर, वस्तुओ के शाश्वत विधाता के द्रष्टा-ज्ञानो को रखा है, अपने हाथ मे अनेक शक्तियो को, दिव्य पुरुषो की शक्तियो को, (नर्या पुरूणि) धारण करते हुए, अग्नि अपने साथ सारी अमरताओ को रचता हुआ (दिव्य) ऐश्वर्यो का स्वामी हो जाता है ॥ १ ॥

अस्मे वत्स परि षन्त न विन्दन्निच्छन्तो विश्वे अमृता अमूरा ।

श्रमयुव पदव्यो धियंधास्तस्थु पदे परमे चार्वग्ने ॥ २ ॥

सब अमर्त्यो ने, उन्होने जो कि (अज्ञान द्वारा) सीमित नही है, इच्छा करते हुए, उसे हमारे अदर पा लिया, मानो कि (अदिति रूपी गौ का) बछडा हो, जो सर्वत्र विद्यमान है, श्रम करते हुए, स्थान की ओर यात्रा करते हुए, विचार को धारण करते हुए उन्होने परम स्थान मे 'अग्नि' की जगमगाती हुई (शोभा) को अधिगत कर लिया ॥ २ ॥

तिस्रो यदग्ने शरदस्त्वामिच्छुचि घृतेन शुचय सपर्यान्।

नामानि चिद् दधिरे यज्ञियान्यसूदयन्त तन्व सुजाता ॥ ३ ॥

हे अग्ने ! जब तीन वर्षो (तीन प्रतीकरूप ऋतुओ या काल-विभागो जो कि सभवत तीन मानसिक लोको मे से गुजरने के काल के अनुसार है) तक उन पवित्रो ने तुझ पवित्र की 'घृत' से सेवा की, तब उन्होने यज्ञिय नामो को धारण किया और सुजात रूपो को (उच्च लोक की ओर) गति दी ॥ ३ ॥

आ रोदसी बृहती वेविदाना प्र रुद्रिया जभ्रिरे यज्ञियास ।

विदन्मर्तो नेमधिता चिकित्वानग्नि पदे परमे तस्थिवासम् ॥ ४ ॥

वे महान् द्यावापृथिवी का ज्ञान रखते थे और उन रुद्र के पुत्रो, यज्ञ के अधिपतियो ने उन्हे आगे की ओर धारण किया, मर्त्य दर्शन (Vision) के प्रति जाग गया और उसने अग्नि को पा लिया, जो अग्नि परम स्थान में स्थित था ॥४॥

सजानाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्य नमस्यन् ।

रिरिक्वासस्तन्व कृण्वत स्वा सखा सख्युर्निमिषि रक्षमाणा ॥ ५ ॥

पूर्णतया (या समस्वरता के साथ) जानते हुए उन्होने उसके प्रति घुटने टेक दिये, उन्होने अपनी पत्नियो (देवो की स्त्रीलिगी शक्तियो) सहित उन नमस्य को नमस्कार किया, अपने-आपको पवित्र करने हुए (या सभव है, यह अर्थ हो कि द्यौ और पृथ्वी की सीमाओ को अतिक्रमण करते हुए) उन्होने अपने निज (अपने असली या दिव्य) रूपो को रचा, निर्निमेष दृष्टि से रक्षा की, इस प्रकार कि प्रत्येक सखा ने सखा की ॥ ५ ॥

त्रि सप्त यद् गुह्यानि त्वे इत्पदाविदन्निहिता यज्ञियास ।

तेभी रक्षन्ते अमृत सजोषा पशूञ्च स्थातॄञ्चरथ च पाहि ॥ ६ ॥

तेरे अदर यज्ञके देवो ने अदर छिपे हुए त्रिगुणित सात गुह्य स्थानो को पा लिया, वे एक हृदयवाले होकर, उनके द्वारा अमरता की रक्षा करते है। रक्षा कर तू उन पशुओ की जो स्थित है और उसकी जो कि गतिमय है ॥ ६ ॥

विद्वाँ अग्ने वयुनानि क्षितीना व्यानुषक्छुरुधो जीवसे धा ।

अन्तर्विद्वाँ अध्वनो देवयानानतन्द्रो दूतो अभवो हविर्वाट् ॥ ७ ॥

हे अग्ने ! लोको में सब अभिव्यक्तियो (या जन्मो) के ज्ञान को रखता हुआ (अथवा मनुष्यो के सारे ज्ञान को जानता हुआ), तू अपनी शक्तियो को सतत रूप से जीवन के लिये धारण कर। अदर, देवो की यात्रा के मार्गों को जानता हुआ, तू उनका अतन्द्र दूत और हवियो का वाहक हो जाता है ॥७॥

स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन् ।

विदद् गव्य सरमा दृळ्हमूर्वं येना नु क मानुषी भोजते विट् ॥ ८ ॥

विचार को यथार्थ रूप से धारण करती हुई, सत्य को जानती हुई द्युलोक की सात शक्तिशाली (नदियो) ने आनद (सम्पत्) के द्वारो को जान लिया, सरमा ने गौओ की दृढता को, विस्तीर्णता को पा लिया, जिसके द्वारा अब मानुषी प्रजा (उच्च ऐश्वर्यों का) आनद लेती है ॥ ८ ॥

आ ये विश्वा स्वपत्यानि तस्थु कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम् ।

मह्ना महद्भि पृथिवी वि तस्थे माता पुत्रैरदितिर्धायसे वे ॥ ९ ॥

उन्होंने जो कि उन सब वस्तुओं पर आस्थित हुए थे जो कि यथार्थ फल (अपत्य) वाली हैं, अमरता की ओर मार्ग बनाया, महान् (देवों) के द्वारा और महत्ता के द्वारा पृथिवी विस्तृत रूप में स्थित हुई, माता अदिति, अपने पुत्रों के साथ, धारण करने के लिये आयी ॥ ९ ॥

अधि श्रियं नि दधुश्चारुमस्मिन् दिवो यदक्षी अमृता अकृण्वन्।

अध क्षरन्ति सिन्धवो न सृष्टाः प्र नीचीरग्ने अरुषीरजानन् ॥१०॥

अमर्त्यों ने उसके अंदर चमकती हुई शोभा को निहित किया, जब कि उन्होंने द्यौ की दो आंखों को (जो कि संभवत सूर्य की दो दर्शन-शक्तियां, इन्द्र के दो घोड़ों के तद्रूप हैं) बनाया, नदियां, मानो वे मुक्त हुई-हुई हों, नीचे को प्रवाहित हुईं, आरोचमान (गौओं) ने, जो यहां नीचे थीं, जान लिया है अग्ने ! ॥ १० ॥

यह है पराशर का सूक्त जिसका कि मैंने यथासंभव अधिक-से-अधिक शब्दश अनुवाद किया है, यहां तक कि इसके लिये भाषा में कुछ थोड़े से अभीष्ठव को भी सहन करना पड़ा है। प्रथम दृष्टि में ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सारे-के-सारे सूक्त में ज्ञान का, सत्य का दिव्य ज्वाला का प्रतिपादन है, जो (ज्वाला) मुश्किल से ही सर्वोच्च देव से भिन्न हो सकती है, इसमें अमरता का, और इस बात का प्रतिपादन है कि देव (अर्थात् दिव्य शक्तियां) यज्ञ द्वारा आरोहण करके अपने देवत्वको, अपने परम नामोंको, अपने वास्तविक रूपोंको, दिव्यता के अपने त्रिगुणित सात स्थानों सहित परमावस्था की जो जगमगाती हुई शोभा है उसको, पहुंच जाते हैं। इस प्रकार के आरोहण का सिवाय इसके कोई दूसरा अर्थ नहीं हो सकता कि यह मनुष्य के अंदर की दिव्य शक्तियों का, जगत् में उनके जो सामान्यतया रूप दिखायी देते हैं उनसे उठकर, परे जगमगाते हुए सत्य की तरफ आरोहण है, जैसा कि सचमुच पराशर स्वयं ही हमें कहता है कि देवों की इस क्रिया द्वारा मर्त्य मनुष्य ज्ञान के प्रति जागृत हो जाता है और परम पद में स्थित अग्नि को पा लेता है,

विदन् मर्तो नेमधिता चिकित्वान् अग्निम् पदे परमे तस्थिवांसम्।

इस प्रकार के सूक्त में सरमा का और क्या मतलब है, यदि वह सत्य की कोई शक्ति नहीं है, यदि उसकी गौएं प्रकाश की दिव्य उषा की किरणें नहीं

है ? प्राचीन लडाकू जातियो की गायो का तथा हमारे आर्य और द्रवीडी पूर्वजो के अपनी पारस्परिक लूटो और पशुहरणो पर किये जानेवाले रक्तपातमय कलहो का अमरता तथा देवत्व के इस जगमगाते हुए स्वत प्रकाश ज्ञान से क्या सवध हो सकता है ? अथवा ये नदिया क्या होगी जो विचार करती है और सत्य को जानती है और छिपे हुए द्वारो का पता लगा लेती है ? या क्या अव भी हम यही कहेगे कि ये पजाव की नदिया थी जिन्हे द्रवीडियो ने वाध लगाकर रोक दिया था, या जो अनावृष्टि के कारण रुक गयी थी और सरमा आर्यों के दूत-कर्म के लिये एक गाथा की पात्री थी, या केवल भौतिक उपा थी ?

दशम मण्डल में एक सूक्त पूरा-का-पूरा सरमा के इस "दूत-कर्म" का वर्णन करता है, यह सरमा और पणियो का सवाद है, परतु सरमा के विपय मे जितना हम पहले से जानते है उसमें यह कुछ और विशेप नयी वात नही जोडता और इस सूक्त का महत्त्व इसमें है कि यह गुफा के खजाने के जो स्वामी है उनके वारे मे विचार वनाने मे हमे सहायता देता है। तो भी, हम यह देख सकते है कि न तो इस सूक्त मे, न ही दूसरे सूक्तो में जिन्हे कि हम देख चुके है, सरमा के देवशुनी (द्युलोक की कुतिया) रूप से चित्रण का जरा भी निर्देश हमे मिलता है, जो कि सभव है कि वैदिक कल्पना के वाद मे होनेवाले विकास मे सरमा के साथ सवद्ध हो गया होगा। यह निश्चित ही चमकीली सुन्दर-पैरो-वाली देवी है, जिसकी ओर पणि आकृष्ट हुए है और जिसे वे अपनी वहिन बना लेना चाहते है—इस रूप में नही कि वह एक कुतिया है जो अनेक पशुओ की रखवाली करेगी, वल्कि एक ऐसी देवी के रूप में जो उनके ऐश्वर्यों की प्राप्ति मे हिस्सा लेगी। तो भी इसका द्युलोक की कुतिया के रूपक द्वारा वर्णन अत्यधिक उपयुक्त और चित्ताकर्पक है और कथानक मे से उसका विकसित हो जाना अनिवार्य था।

प्राचीनतर सूक्तो मे से एक में सचमुच हम एक पुत्र का उल्लेख पाते है जिसके लिये सरमा ने "भोजन प्राप्त कर लिया था",—यह अर्थ उस एक प्राचीन व्याख्या के अनुसार है जो इस शव्दावली की व्याख्या के लिये एक कहानी प्रस्तुत करती है कि सरमा ने कहा था कि मै खोयी हुई गौओ को तो ढूढ लूगी पर शर्त यह है कि यज्ञ में मेरी सतान को भोजन मिलना चाहिये। पर यह स्पष्ट ही कल्पना मात्र है

जो कि इस व्याख्या को प्रमाणित करने के लिये गढ ली गयी है और जिसका स्वय ऋग्वेद मे किसी स्थान पर उल्लेख नही आता। जिसमे उपर्युक्त शब्दावली आयी है वह ऋचा इस प्रकार है—

इन्द्रस्याङ्गिरसा चेष्टौ विदत् सरमा तनयाय धासिम्। (ऋ १-६२-३)

इसमे वेद कहता है "यज्ञ मे—या अधिक सभवत इसका यह अर्थ है कि इन्द्र और अगिरसो की (गौओ के लिये की जानेवाली) खोज मे—सरमा ने पुत्र के लिये एक आधारको ढूढ लिया", (**विदद् सरमा तनयाय धासिम्**), क्योकि यहा 'धासिम्' शब्द का आशय अधिक सभवत 'आधार' ही प्रतीत होता है। यह पुत्र, पूरी सभावना है कि, वह पुत्र है जो यज्ञ से पैदा हुआ है, जो कि वैदिक कल्पना का एक स्थिर तत्त्व है, न कि यह कि पुत्र से अभिप्राय यहा सरमा से पैदा हुई कुत्तो की सतति हो। वेद मे इस जैसे वाक्याश और भी आते है, जैसे ऋ १ ९६ ४ मे '**स मातरिश्वा पुरुवारपुष्टिर्विदद् गातु तनयाय स्वर्वित्।** मातरिश्वा (प्राण के देवता, वायु) ने बहुत से वरणीय पदार्थों को (जीवन के उच्चतर विषयो को) बढाते हुए, पुत्र के लिये मार्ग को ढूढ लिया, स्व को ढूढ लिया।" यहा विषय स्पष्ट ही वही है, पर पुत्र का किसी पिल्लो की सन्तति से कुछ सम्बन्ध नही है।

दशम मण्डल मे एक बाद के सूक्त मे यम के दूतो के रूप मे दो सारमेय कुत्तो का उल्लेख आता है, पर उनकी माता के रूप मे सरमा का वहा कोई सकेत नही है। यह आता है प्रसिद्ध 'अन्त्येष्टिसूक्त' (१०-१४) में और यहा पर ध्यान देने योग्य है कि 'यम' का तथा उसके दो कुत्तो का ऋग्वेद मे वास्तविक स्वरूप क्या है? बाद के विचारो मे यम 'मृत्यु' का देवता है और उसका एक अपना विशेष लोक है, पर ऋग्वेद मे प्रारभत यह सूर्य का एक रूप रहा प्रतीत होता है, यहातक कि इतनी पीछे जाकर भी जब कि ईशोपनिषद् की रचना हुई, इस नाम को हम सूर्यवाची नाम के रूप मे प्रयुक्त किया गया पाते है,—और फिर सत्य के अतिरोचमान देव के युगल शिशुओ (यम-यमी) मे से एक। यह धर्म का सरक्षक है, उस सत्य के नियम, सत्यधर्म का जो कि अमरता की शर्त है और इसलिये वह स्वय अमरता का ही सरक्षक है। इसका लोक है स्व जो अमरता का लोक है, 'अमृते लोके अक्षिते', जैसा कि हमे ९-११३-७ मे

कहा गया है, जहा अजस्र ज्योति है, जहा स्व स्थित है, 'यत्र ज्योतिरज यस्मिन् लोके स्वर्हितम्। सू १०-१४ वास्तव मे उतना मृत्यु का सूक्त नही जितना कि जीवन और अमरता का सूक्त है। यम ने और पूर्वपितरो मार्ग को ढूढ लिया है जो मार्ग उस लोक को जाता है जो लोक गौओ व चरागाह है, जहा से कि शत्रु उन चमकती हुई गौओ को हरण नही कर सकता

यमो नो गातु प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ, यत्रा न पूर्वे पितर परेयु
(१०-१४-२

द्यौ के प्रति आरोहण करते हुए मर्त्य के आत्मा को आदेश दिया गया है ि 'चार आखोवाले, चितकबरे दो सारमेय कुत्तो को उत्तम (या, कार्यसाधक मार्ग पर दौडकर अतिक्रमण कर जा''। द्यौ को जानेवाले उस मार्ग के चार आखोवाले सरक्षक है, वे अपने दिव्य दर्शन द्वारा उस मार्ग पर मनुष्यो क रक्षा करते है,

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ। (१०.१४ ११

और यम को कहा गया है कि वह इन्हे अपने मार्ग पर जाते हुए आत्मा के लि रक्षक के तौर पर देवे। ये कुत्ते है "विशाल गतिवाले, आसानी से तृप्त न होने वाले" और **नियम** के **देवता** (**यम**) के दूतो के तौर पर ये मनुष्यो के अन्दर विचरते है[2]। और सूक्त में प्रार्थना है कि 'वे (कुत्ते) हमें यहा असुख मय (लोक) मे फिर मे सुख प्राप्त करा देवे जिससे कि हम **सूर्य** को देख सके'[3]

यहा फिर हम प्राचीन वैदिक विचारो के क्रम को पाते है, **प्रकाश** और सुख और **अमरता**, और ये सारमेय कुत्ते सरमा के प्रधानभूत गुणो को रखते है अर्थात् दिव्य दर्शन, विशाल रूप से विचरण करनेवाली गति, जिस मार्ग द्वारा लक्ष्य पर पहुचा जाता है उस मार्ग पर यात्रा करने की शक्ति। सरमा गौओ के विस्तार की तरफ ले जाती है, ये कुत्ते आत्मा की रक्षा करते है जब कि व

---

[1]**अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शवलौ साधुना पथा।** (१० १४ १०)
[2]**उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।** (१० १४.१२) (क
[3]**तावस्मभ्य दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्॥** (१० १४.१२) (ख)

चमकीली और अनश्वर गौओ के दुर्जेय चरागाह, खेत (क्षेत्र) की यात्रा कर रहा होता है। सरमा हमे सत्य को प्राप्त कराती है, सूर्य के दर्शन को प्राप्त कराती है जो कि सुख को पाने का मार्ग है, ये कुत्ते दुःख-पीडा के इस लोक में पडे हुए मनुष्य के लिये चैन लाते है ताकि वह सूर्य के दर्शन को पा ले। चाहे सरमा इस रूप मे चित्रित की जाय कि वह सुन्दर पैरोवाली देवी है जो मार्ग पर तेजी से जाती है और सफलता प्राप्त कराती है, चाहे इस रूप में कि वह देवशुनी है जो मार्ग के इन विशाल गतिवाले सरक्षको (सारमेयो) की माता है, विचार एक ही है कि वह सत्य की एक शक्ति है, जो खोजती है और पता पा लेती है, जो अन्तर्दृष्टि की एक दिव्य शक्ति द्वारा छिपे हुए प्रकाश का और अप्राप्य अमरता का पता लगा देती है। पर यह खोजना और पता पा लेना ही है जिसतक कि उसका व्यापार सीमित है।

बाईसवा अध्याय

अन्धकार के पुत्र

एक १।८ नही बल्कि बार-बार हम यह देख चुके है कि यह सम्भव ही नहीं है कि अगिरसो, इन्द्र और सरमा की कहानी मे हम पणियो की गुफा मे **उषा, सूर्य** व **गौओ** की विजय करने का यह अर्थ लगावे कि यह आर्य आक्राताओ तथा गुफा-निवासी द्रविडियो के बीच होनेवाले राजनैतिक व सैनिक सघर्ष का वर्णन है। यह तो वह सघर्ष है जो **प्रकाश** के अन्वेष्टाओ और **अधकार** की शक्तियो के बीच होता है, गौए है **सूर्य** तथा **उषा** की ज्योतिया, वे भौतिक गाये नही हो सकती, गौओ का विशाल भयरहित खेत जिसे इन्द्र ने आर्यो के लिये जीता 'स्व' का विशाल लोक है, सौर **प्रकाश** का लोक है, द्यौ का त्रिगुण प्रकाशमय प्रदेश है। इसलिये इसके अनुरूप ही पणियो को इस रूप मे लेना चाहिये कि वे अन्धकार-गुहा की शक्तिया है। यह बिलकुल सच है कि पणि 'दस्यु' या 'दास' है, इस नाम से उनका वर्णन सतत रूप से देखने में आता है, उनके लिये यह वर्णन मिलता है कि वे **आर्य-वर्ण** के प्रतिकूल **दास-वर्ण** है, और रगवाची 'वर्ण' शब्द ब्राह्मणग्रथो में तथा पीछे के लेखो मे जाति या श्रेणी के लिये प्रयुक्त हुआ है, यद्यपि इससे यह परिणाम नही निकलता कि ऋग्वेद मे इसका यह अर्थ है। दस्यु है पवित्र **वाणी** से घृणा करनेवाले, ये वे है जो हवि को या सोमरस को देवो के लिये अर्पित नही करते, जो गौओ व घोडो की दौलत को तथा अन्य खजानो को अपने ही लिये रख लेते है और उन चीजो को द्रष्टाओ (ऋषियो) के लिये नही देते, ये वे है जो यज्ञ नही करते। यदि हम चाहे तो यह भी कल्पना कर सकते है कि भारत में दो ऐसे विभिन्न सम्प्रदायो के बीच एक सघर्ष हुआ करता था और इन सम्प्रदायो के मानवीय प्रतिनिधियो के बीच होनेवाले इस भौतिक सघर्ष को देखकर उससे ही ऋषियो ने अपने प्रतीको को लिया तथा उन्हे आध्यात्मिक सघर्ष में प्रयुक्त कर दिया, वैसे ही जैसे उन्होने अपने भौतिक

जीवन के अन्य अंग-उपांगों को आध्यात्मिक यज्ञ, आध्यात्मिक दौलत और आध्यात्मिक युद्ध व यात्रा के लिये प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया। यह कल्पना ठीक हो या न हो, इतना तो पूर्णतया निश्चित है कि ऋग्वेद में कम-से-कम जिस युद्ध और विजय का वर्णन हुआ है वह कोई भौतिक युद्ध और लूटमार नहीं है बल्कि एक आध्यात्मिक संघर्ष और आध्यात्मिक विजय है।

यदि हम इक्के-दुक्के संदर्भों को लेकर उन्हें कोई-सा एक विशेष अर्थ दे डालें जो केवल उसी जगह ठीक लग सके जब कि हम उन बहुत से अन्य संदर्भों की उपेक्षा कर देते हों जिनमें वह अर्थ स्पष्ट ही अनुपपन्न ठहरता है तो अर्थ करने की यह प्रणाली या तो विचारतुला पर ठीक न उतरनेवाली होगी या एक कपट-पूर्ण प्रणाली होगी। हमें इकट्ठे रूप से वेद के उन सभी उल्लेखों को लेना चाहिये जिनमें पणियों का, उनकी दौलत का, उनके विशेष गुणों का और उन पणियों पर प्राप्त की गयी देवों, द्रष्टाओं तथा आर्यों की विजय का वर्णन है और इस प्रकार उन सभी संदर्भों को इकट्ठा लेकर देखने में जो परिणाम निकले उसे एकविध रूप से स्वीकार करना चाहिये। जब हम इस प्रणाली का अनुसरण करते हैं तो हम देखते हैं कि इन संदर्भों में से कई संदर्भ ऐसे हैं जिनमें पणियों के सम्बन्ध में यह विचार कि ये मानवप्राणी हैं पूर्णतया असम्भव लगता है और इन सन्दर्भों से यह प्रतीत होता है कि पणि या तो भौतिक अन्धकार की या आध्यात्मिक अन्धकार की शक्तियां हैं, दूसरे कुछ सन्दर्भ ऐसे हैं जिनमें पणि भौतिक अन्धकार की शक्तियां सर्वथा नहीं हो सकते, या तो वे देवान्वेषकों और यज्ञकर्ताओं के मानवीय शत्रु हो सकते हैं या आध्यात्मिक प्रकाश के शत्रु, फिर अन्य कुछ संदर्भ हमें ऐसे मिलते हैं जिनमें वे न तो मानवीय शत्रु हो सकते हैं न भौतिक प्रकाश के शत्रु, बल्कि निश्चित तौर पर वे आध्यात्मिक प्रकाश, दिव्य सत्य और दिव्य विचार के शत्रु हैं। इन तथ्यों से केवल एक ही परिणाम निकल सकता है कि पणि वेद में सदा आध्यात्मिक प्रकाश के और केवल आध्यात्मिक प्रकाश के शत्रु हैं।

इन दस्युओं के सामान्य स्वरूप को बतलानेवाले मूलसूत्र के तौर पर हम ऋक् ५.१४.४ को ले सकते हैं, "अग्नि पैदा होकर चमका, ज्योति से दस्युओं को, अंध-

कार को हनन करता हुआ, उसने **गौओ** को, **जलों** को, **स्व** को पा लिया।"

अग्निर्जातो अरोचत, घ्नन् दस्यूञ्ज्योतिषा तम ।

अविन्दद् गा अप स्व ।। (५-१४-४)

दस्युओ के दो वडे विभाग है, एक तो 'पणि' जो गौओ तथा जलो दोनो को अवरुद्ध करते है पर मुख्यत जिनका सबंध गौओ के रुन्धन से है, दूसरे 'वृत्र' जो जलो को और प्रकाश को अवरुद्ध करते है पर मुख्य रूप से जलो के रुन्धन से जिनका सबध है, सभी दस्यु निरपवाद रूप से 'स्व' को आरोहण करने के मार्ग मे आकर खडे हो जाते है और वे आर्य द्रष्टाओ द्वारा की जानेवाली दौलत की प्राप्ति का विरोध करते है। प्रकाश के रुन्धन से अभिप्राय है उन द्वारा 'स्व' के दर्शन, **स्वर्दृश्**, और सूर्य के दर्शन का, ज्ञान के उच्च दर्शन, **उपना केतु.** (५-३४-९ तथा ७-३०-३) का विरोध, जलो के रुन्धन से अभिप्राय है उन द्वारा 'स्व' की विपुल गति '**स्वर्वती अप**' का, सत्य की गति या प्रवाहो, **ऋतस्य प्रेषा, ऋतस्य धारा**, का विरोध, दौलत प्राप्ति मे विरोध का अभिप्राय है 'स्व' के विपुल सारपदार्थ **वसु, धन, वाज, हिरण्य** का उन द्वारा रुन्धन, उस महान् सपत्ति का रुन्धन जो सपत्ति सूर्य मे और जलो में निहित है, (**अप्सु सूर्ये महद् धनम्**)। तो भी क्योकि सारी लडाई **प्रकाश** और **अधकार** के बीच, **सत्य** और **अनृत** के बीच, दिव्य **माया** और अदिव्य माया के बीच है, इसलिये सभी दस्यु यहा एकसमान अधकार से अभिन्नरूप मान लिये गये है, और यह अग्नि के पैदा होने और चमकने लगने पर होता है कि **ज्योति** उत्पन्न हो जाती है जिसके कि द्वारा वह दस्युओ का और अधकार का हनन करता है। ऐतिहासिक व्याख्या से यहा बिल्कुल भी काम नही चलेगा, यद्यपि प्रकृतिवादी व्याख्या को रास्ता मिल सकता है यदि हम इस सदर्भ को अन्य वर्णन से जुदा रूप में ही देखें और यह मान ले कि यज्ञिय अग्नि को प्रज्वलित करना दैनिक सूर्योदय का कारण होता है, पर हमे वेद के तुलनात्मक अध्ययन से किसी निर्णय पर पहुचना है न कि जुदा-जुदा सदर्भों के बल पर।

आर्यों और पणियो या दस्युओ के बीच का विरोध पाचवें मण्डल के एक अन्य सूक्त (५।३४) मे स्पष्ट हो गया है, और ३।३४ में हमें **आर्यवर्ण** यह प्रयोग मिलता है। यह हमें अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि 'दस्यु' अधकार से अभिन्न-

रूप बताये गये हैं, इसलिये आर्यों का सबध प्रकाश से होना चाहिये, और वस्तुत ही हम पाते हैं कि स्पष्टतया **दास-अंधकार** की कल्पना के मुकाबले मे सूर्य के प्रकाश को वेद मे **आर्य-प्रकाश** कहा गया है। वसिष्ठ भी तीन आर्यजनो का वर्णन करता है जो कि "ज्योतिरग्रा" अर्थात् प्रकाश को अपना नेता बनानेवाले हैं, प्रकाश को जो अपने आगे-आगे रखते हैं (७-३३-७)। आर्य-दस्यु प्रश्न पर यथोचित रूप से तभी विचार हो सकता है यदि एक व्यापक विवाद चलाया जाय जिसमे सभी प्रसगप्राप्त सदर्भों की परीक्षा की जाय और जो कठिनाइया आवे उनका मुकाबला किया जाय। परतु मेरे वर्तमान प्रयोजन के लिये यह प्रारभिक-बिन्दु पर्याप्त है। हमे यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वेद मे हमे 'ऋत ज्योति', 'हिरण्य ज्योति', 'सत्य प्रकाश', 'सुनहला प्रकाश' ये मुहाविरे मिलते है जो हमारे हाथ में एक और सूत्र पकडाते है। अब सौर प्रकाश के ये तीन विशेषण, आर्य, ऋत, हिरण्य मेरी राय मे परस्पर एक दूसरे के अर्थद्योतक है और लगभग समानार्थक हैं। सूर्य सत्य का देवता है, इसलिये इसका प्रकाश 'ऋत ज्योति' है, यह सत्य का प्रकाश वह है जिसे आर्य, वह देव हो या मनुष्य, धारण करता है और जिससे उसका आर्यत्व बनता है, फिर 'सूर्य' के लिये 'सुनहला' यह विशेषण सतत रूप से प्रयुक्त हुआ है और 'सोना' वेद मे सभवत सत्य के सार का प्रतीक है, क्योकि सत्य का सार है प्रकाश, जो वह सुनहली दौलत है जो सूर्य मे और 'स्व.' के जलो में (अप्सु सूर्ये) पायी गयी है,–इसलिये हम 'हिरण्य ज्योति' यह विशेषण पाते है। यह सुनहला या चमकीला प्रकाश सत्य का रग, 'वर्ण' है, साथ ही यह उन विचारो का भी रग है जो विचार उस प्रकाश से परिपूर्ण है जिसे आर्यो ने जीता था, वे गौए जो रग में चमकीली, शुभ्र, श्वेत है, वैसी जैसा कि प्रकाश का रग होता है, जब कि दस्यु, क्योकि वह अधकार की एक शक्ति है, रग मे काला है। मेरी सम्मति में सत्य के प्रकाश का, आर्यज्योति का, चमकीलापन ही आर्यवर्ण है अर्थात् उन आर्यो का वर्ण जो 'ज्योतिरग्रा' है, अज्ञान की रात्रि का कालापन पणियो का रग है, दासवर्ण। इस प्रकार प्राय 'वर्ण' का अर्थ होगा 'स्वभाव' अथवा वे सब जो उस विशेष स्वभाववाले है, क्योकि रग स्वभाव का द्योतक है, और यह बात कि यह विचार प्राचीन आर्यो के अदर एक प्रचलित

विचार था मुझे इससे पुष्ट होती प्रतीत होती है कि वाद के काल में भिन्न-भिन्न रग–सफेद, लाल, पीला, काला–चार जातियो (वर्णों) में भेद करने के लिये व्यवहृत हुए है।

ऋ ५।३४ का सदर्भ निम्न प्रकार है–

"वह (इन्द्र) पाच के साथ और दस के साथ आरोहण करने की इच्छा नही करता, वह उसके साथ सयुक्त नही होता जो सोम की हवि नही देता है, चाहे वह वृद्धि को ही क्यो न प्राप्त हो रहा हो, वह उसे पराजित कर देता है या वह अपनी वेगयुक्त गति से उसका वध कर देता है, वह देवत्व के अभिलाषी (देवयु) को उसके सुखभोग के लिये गौओ से परिपूर्ण वाडे को देता है।" (मत्र ५)

"युद्ध-सघट्ट में (शत्रु का) विदारण करनेवाला, चक्र (या पहिये) को दृढता से थामनेवाला, जो सोमरस अर्पित नही करता उससे पराङ्मुख, पर सोमरस अर्पित करनेवाले को वढानेवाला, वह इन्द्र वडा भीषण है और सवको दमन करनेवाला है, वह 'आर्य' इन्द्र 'दास' को पूर्णतया अपने वश में कर लेता है।" (मत्र ६)

"पणि के इस सुखभोग को चलित करता हुआ, अपहरण करता हुआ वह (इन्द्र) आता है और वह देनेवाले को (दाशुषे) उसके सुख के लिये 'सूनर वसु' वाटता है अर्थात् वह दौलत वाटता है जो कि वीर-शक्तियो से (शब्दार्थ में, मनुष्यो से) समृद्ध है (यहा 'सूनर' का अर्थ 'वीर-शक्तियो से समृद्ध' यह किया है, क्योकि 'वीर' और 'नृ' बहुवा पर्यायरूप में प्रयुक्त होते है)। वह मनुष्य जो इन्द्र के वल को क्रुद्ध करता है एक दुर्गम यात्रा में अनेकरूप से रुकावटो को पाता है।" ('दुर्गे चन ध्रियते आ पुरु) (मत्र ७)।

"जव मघवा (इन्द्र) ने चमकीली गौओ के अदर उन दो (जनो) को जान लिया जो भरपूर दौलतवाले (सुवनौ) और सव वलो से युक्त (विश्वशर्धसौ)

'ऋषि देवो से सदा यह प्रार्थना करते है कि वे 'सर्वोच्च सुख' की ओर उनका मार्ग वना देवे जो मार्ग सुगम और अकण्टक 'सुग' हो, 'दुर्ग' इस सुगम का उलटा है, यह वह मार्ग है जो अनेकविध (पुरु) आपत्तियो और कष्टो व कठिनाइयो से भरा पडा है।

है, तब वह ज्ञान मे बढ़ता हुआ एक तीसरे (जन) को अपना सहायक बनाता है और तेजी से गति करता हुआ अपने योद्धाओ की सहायता से गौओ के समुदाय को (गव्यम्) ऊपर की तरफ खोल देता है।" (मन्त्र ८)[1]

और इस सूक्त की अंतिम ऋचा आर्य (चाहे वह देव हो या मनुष्य) के विषय मे यह वर्णन करती है कि वह आर्य सर्वोच्च ज्ञानदर्शन पर पहुंच जाता है (उपमा केतु अर्य), जल अपने सगमो मे उसे पालित करते है और उसके अदर बलवती तथा जाज्वल्यमान सग्राम-शक्ति (क्षत्रम् अमवत् त्वेषम्) रहती है[2]।

जितना कुछ इन प्रतीको के बारे मे हम पहले से ही जानते है उतनेसे हम इस सूक्त के आन्तरिक आशय को सुगमता से समझ सकते है। इन्द्र, जो दिव्य मन-शक्ति है, अज्ञान की शक्तियो के पास से उनकी छिपाकर रखी हुई दौलत को ले लेता है और तब भी जब कि वे अज्ञान-शक्तिया प्रचुर और पुष्टियुक्त होती है वह उनसे सबध स्थापित करने को तैयार नही होता, वह प्रकाशमयी उषा की दन्द पड़ी गौओ को उस यज्ञ करनेवाले को दे देता है जो देवत्वो का अभिलाषी है। वह (इन्द्र) स्वय आर्य है जो अज्ञान के जीवन को पूर्ण तौर से उच्चतर जीवन के वश मे कर देता है जिससे कि यह अज्ञान का जीवन उस सारी दौलत को जो इसके कब्जे मे थी इस उच्चतर जीवन के हाथ मे सौंप देता है। देवो को निरूपित

---

[1]न पञ्चभिर्दशभिर्वष्ट्यारभं नासुन्वता सचते पुष्यता चन।
जिनाति वेदमुया हन्ति वा धुनिरा देवयुं भजति गोमति व्रजे ॥ ५ ॥
वित्वक्षणः समृतौ चक्रमासजोऽसुन्वतो विषुणः सुन्वतो वृधः।
इन्द्रो विश्वस्य दमिता विभीषणो यथावशं नयति दासमार्यः ॥ ६ ॥
समीं पणेरजति भोजनं मुषे वि दाशुषे भजति सूनरं वसु।
दुर्गे चन ध्रियते विश्व आ पुरु जनो यो अस्य तविषीमचुक्रुधत् ॥ ७ ॥
स यज्जनौ सुधनौ विश्वशर्धसाववेदिन्द्रो मघवा गोषु शुभ्रिषु।
युजं ह्यन्यमकृत प्रवेपन्युदीं गव्यं सृजते सत्वभिर्धुनिः ॥ ८ ॥ (ऋ ५।३४)

[2]सहस्रसामाग्निवेशिं गृणीषे शत्रिमग्न उपमां केतुमर्यः।
तस्मा आपः संयतः पीपयन्त तस्मिन् क्षत्रममवत्त्वेषमस्तु ॥ ९ ॥ (ऋ. ५ ३४)

करने के लिये 'आर्य' तथा 'अर्य' शब्दो का प्रयोग, न केवल यही पर बल्कि अन्य सदर्भो मे भी, अपने-आपमें यह दर्शाने की प्रवृत्ति रखता है कि **आर्य** तथा **दस्यु** का विरोध एक राष्ट्रीय या जातिगत अथवा केवलमात्र मानवीय भेद नही है, बल्कि इसका एक गभीरतर अर्थ है।

योद्धा यहा निश्चित ही सात अगिरस् है, क्योकि वे ही, न कि 'मरुन्' जैसा कि सायण ने 'सत्वभि' का अर्थ लिया है, गौओ की मुक्ति मे इन्द्र के सहायक होते है। पर जिनको इन्द्र चमकीली गौओ के अदर प्रविष्ट होकर अर्थात् **विचार** के पुञ्जीभूत प्रकाशो को अधिगत करके पाता है या जानता है, वे तीन जन यहा कौन है निश्चय कर सकना अधिक कठिन है। बहुत अधिक सभव यह है कि ये वे तीन है जिनके द्वारा अगिरस् ज्ञान की सात किरणे बढकर दस हो जाती है, जिससे कि अगिरस् सफलतापूर्वक दस महीनो को पार कर लेते है और सूर्य तथा गौओ को मुक्त करा लेते है, क्योकि यहा भी दो (जनो) को पा लेने या जान लेने और तीसरे (जन) की मदद पा लेने के बाद ही यह होता है कि इन्द्र पणियो के पास से गौओ को छुडा पाता है। इन तीन जनो का सम्बन्ध प्रकाश को नेता बनानेवाले (ज्योतिरग्रा) तीन आर्यजनो (७-३३-७) के प्रतीकवाद के साथ तथा 'स्व' के तीन प्रकाशमान लोको के प्रतीकवाद के साथ भी जुड सकता है, क्योकि सर्वोच्च ज्ञान-दर्शन (**उपमा केतु**) की उपलब्धि उनकी क्रिया का अन्तिम परिणाम है और यह सर्वोच्च ज्ञान वह है जो 'स्व' के दर्शन से युक्त है तथा अपने तीन प्रकाशमान लोको (**रोचनानि**) मे स्थित है जैसा कि हम ३-२-१४ में पाते है, **स्वर्दृश केतु दिवो रोचनस्थामुषर्बुधम्**, "वह ज्ञान-दर्शन जो 'स्व' को देखता है, जो प्रकाशमान लोको में स्थित है, जो उषा में जागृत होता है।"

ऋ ३-३४ में विश्वामित्र ने 'आर्यवर्ण' यह पदप्रयोग किया है और साथ ही वहा उसने इसके अध्यात्मपरक अर्थ की कुञ्जी भी हमें दे दी है। इस सूक्त की (८ से १० तक) तीन ऋचाए निम्न प्रकार से है–

सत्रासाह वरेण्य सहोदा ससवास स्वरपश्च देवी ।
ससान य पृथिवीं द्यामुतेमामिन्द्र मदन्त्यनु धीरणास ॥ ८ ॥

"(वे स्तुति करते हैं) अतिशय वाछनीय, सदा अभिभव करनेवाले, बल के देनेवाले, 'स्व' तथा दिव्य जलो को जीतकर अधिगत करनेवाले (इन्द्र) की, विचारक लोग इन्द्र के आनन्द मे आनन्दित होते हैं, जो इन्द्र पृथिवी तथा द्यौ को अधिकृत कर लेनेवाला है" ॥८॥

ससानात्यां उत सूर्यं ससानेन्द्र ससान पुरुभोजस गाम्।
हिरण्ययमुत भोग ससान हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् ॥ ९ ॥

"इन्द्र घोडो को अधिगत कर लेता है, सूर्य को अधिगत कर लेता है, अनेक सुख-भोगोवाली गौ को अधिगत कर लेता है, वह सुनहले सुख-भोगो को जीत लेता है, दस्युओ का वध करके वह 'आर्य वर्ण' की पालना करता है (या रक्षा करता है)" ॥९॥

इन्द्र ओषधीरसनोदहानि वनस्पतींरसनोदन्तरिक्षम्।
बिभेद वलं नुनुदे विवाचोऽथाभवद् दमिताभिक्रतूनाम् ॥ १० ॥

"इन्द्र ओषधियो को और दिनो को जीत लेता है, वनस्पतियो को और अन्तरिक्ष को जीत लेता है, वह 'वल' का भेदन कर डालता है और वाणियो के वक्ता को आगे की तरफ प्रेरणा दे देता है, इस प्रकार वह उनका दमन-कर्ता बन जाता है जो उसके विरुद्ध कर्मो के करने का सकल्प रखनेवाले हैं (अभि-क्रतूनाम्)" ॥१०॥

यहा हम देखते हैं कि उस सारी दौलत के प्रतीकमय तत्त्व आ गये है जिसे कि इन्द्र ने आर्य के लिये जीता है और उस दौलत मे सम्मिलित हैं सूर्य, दिन, पृथिवी, द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, घोडे, पार्थिव उपचय, ओषधिया और वनस्पतिया ('वनस्पतीन्' यहा द्वयर्थक रूप मे है, वन के अधिपति और सुखभोग के अधिपति), और 'वल' तथा उसके सहायक दस्युओ के विरोधी रूप मे यहा हम 'आर्यवर्ण' को पाते है।

परन्तु इससे पूर्ववर्ती ऋचाओ मे (८-९ मे) पहले ही 'वर्ण' शब्द इस अर्थ मे आ चुका है कि यह आर्य के विचारो का रग है, उन विचारो का जो सच्चे तथा प्रकाश मे परिपूर्ण हैं। 'स्व' के विजेता इन्द्र ने, दिनो को पैदा करके, उशिजो (अगिरसो) को साथ लेकर (दस्युओ की) इन सेनाओ पर आक्रमण किया

और उन्हे जीत लिया, उसने मनुष्य के लिये दिनो के ज्ञान-दर्शन को (केतुम् अह्ना) प्रकाशित कर दिया, उसने विशाल आनन्द के लिये प्रकाश को पा लिया (ऋचा ४)। उसने अपने उपासक के लिये इन विचारो को ज्ञान-चेतना से युक्त किया, जागृत किया, उसने इन (विचारो) के चमकीले 'वर्ण' को आगे (दस्युओ की बाधा से परे) पहुचा दिया (**अचेतयद् धिय इमा जरित्रे प्रेम वर्णमतिरच्छुक्रमासाम्**) (ऋचा ५)। वे महान् इन्द्र के अनेक महान् और पूर्ण कर्मों को क्रिया में लाते है (या उनकी स्तुति करते है), अपने बल से, अपनी अभिभूत कर देनेवाली शक्ति मे भरकर, अपनी ज्ञान की क्रियाओ द्वारा (मायाभि) वह कुटिल दस्युओ को पीस डालता है (ऋचा ६)'।*

यहा हम 'केतुम् अह्नान्' अर्थात् 'दिनो का ज्ञान-दर्शन' इस वैदिक मुहावरे को पाते है, जिससे सत्य के सूर्य का वह प्रकाश अभिप्रेत है जो विशाल दिव्य आनन्द को प्राप्त कराता है, क्योकि 'दिन' वे है जो मनुष्य के लिये इन्द्र से की गयी 'स्व' की विजय द्वारा उत्पन्न किये गये है उस समय जब कि, जैसा कि हम जानते है, इन्द्र ने पहले उत्पन्न अगिरसो की सहायता से पणि-सेनाओ का विनाश कर लिया तथा सूर्य और प्रकाशमय गौओ का उदयन हो चुका। देव यह सब कुछ मनुष्य के लिये और मनुष्य की शक्तियो का रूप धारण करके करते है, न कि स्वय अपने लिये क्योकि वे तो पहले से ही इन दौलतो मे युक्त है,—मनुष्य के लिये वह इन्द्र 'नृ' अर्थात् दिव्य मनुष्य या पुरुष बनकर उस पौरुष के अनेक बलो को धारण करता है (**नृवद् .. नर्या पुरूणि—मन्त्र ५**), मनुष्य को वह इसके

---

*इन्द्र स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भि पृतना अभिष्टि।
प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय ॥४॥
(इन्द्रस्तुजो बर्हणा आ विवेश नृवद् दधानो नर्या पुरूणि)।
अचेतयद् धिय इमा जरित्रे प्रेम वर्णमतिरच्छुक्रमासाम् ॥५॥
महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि।
वृजनेन वृजिनान् त्स पिपेष मायाभिर्दस्यूँरभिभूत्योजा ॥६॥ (ऋ. ३।३४।४-६)

जागृत करता है कि वह इन विचारो का ज्ञान प्राप्त करे, जिन विचारो
ाहा प्रतीकरूप मे पणियो के पास से छुडायी गयी चमकदार गौए कहा गया
और इन विचारो का चमकीला रग (शुक्र वर्णमामाम्) स्पष्टत वही
ाे 'शुक्र' या 'श्वेत' आर्य-रग है, जिसका नौवी ऋचा मे उल्लेख हुआ
इन्द्र इन विचारो के 'रग' को आगे ले जाकर या वृद्धिगत करके
...यो के विरोध से परे कर देता है (प्र वर्णमतिरच्छुक्रम्), ऐसा करके वह
दस्युओ को मार डालता है और आर्य के 'रग' की रक्षा करता है या पालना
करता है और वृद्धि करता है, (हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् ।९।) । इसके
अतिरिक्त एक बात यह है कि ये दस्यु कुटिल है (वृजिनान्), तथा ये
जीते जाते है इन्द्र के कर्मो या ज्ञान के रूपो द्वारा, उसकी 'मायाओ' द्वारा, जिन
मायाओ से, जैसा कि अन्य कई स्थानो पर कहा मिलता है, वह इन्द्र दस्युओ की,
'वृत्र' की या 'वल' की विरोधिनी 'मायाओ' को अभिभूत करता है। 'ऋजु'
और 'कुटिल' ये वेद मे सततरूप से क्रमश 'सत्य' और 'अनृत' के पर्यायवाची के
तौर पर आते है। इसलिये यह स्पष्ट है कि ये 'पणि' 'दस्यु' अनृत और अज्ञान
की कुटिल शक्तिया है जो अपने मिथ्या ज्ञान को, अपने मिथ्या बल, सकल्प और
कर्मो को देवो तथा आर्यो के सच्चे ज्ञान, सच्चे बल, सच्चे सकल्प और कर्मो के
विरोध मे लगाती है। प्रकाश की विजय का अभिप्राय है इस मिथ्या ज्ञान या
दानवीय ज्ञान पर सत्य के दिव्य ज्ञान की विजय, और उस विजय का मतलब
है सूर्य का ऊर्ध्वारोहण, दिनो का जन्म, उषा का उदय, प्रकाशमान किरणो रूपी
गौओ की मुक्ति और उन गौओ का प्रकाश के लोक मे चढना।

ये गौए सत्य के विचार है, यह हमें सोम देवता के एक सूक्त ९-१११ मे पर्याप्त
स्पष्ट रूप मे बता दिया गया है।

'इस जगमगानेवाले प्रकाश से अपने को पवित्र करता हुआ, अपने स्वय जुते
घोडो द्वारा वह सब विद्वेषिणी शक्तियो को चीरकर पार निकल जाता है, मानो
उसके वे घोडे सूर्य के स्वय जुते घोडे हो। निचोडे हुए सोम की धारारूप, अपने
को पवित्र करता हुआ, आरोचमान, जगमगानेवाला वह चमक उठता है, जब कि
वह ऋक् के वक्ताओ के साथ, सात-मुखो-वाले ऋक् के वचनाओ (अनिन्नू शक्ति-

यो) के साथ, (वस्तुओ के) सब रूपो को चारो ओर से घेरता है।' (ऋचा १)

'तू, हे सोम ! पणियो की उस दौलत को पा लेता है, तू अपने आपको 'माता-ओ' के द्वारा (अर्थात् पणियो की गौओ के द्वारा, क्योकि दूसरे सूक्तो मे पणियो की गौओ को 'माता' यह नाम कई जगह दिया गया है) अपने स्वकीय घर (स्व) में चमका लेता है, 'सत्य के विचारों' के द्वारा अपने घर मे (चमका लेता है), **समातृभिर्मर्जयसि, स्व आ दमे, ऋतस्य धीतिभिर्दमे।** मानो उच्चतर लोक का (परावत) 'साम' (समतापूर्ण निष्पत्ति या सिद्धि, [मगाने ऊर्वे], समतल विस्तार में) वह (स्व) है जहा (सत्य के) विचार आनद लेते हैं। त्रिगुण लोक में रहनेवाली (या तीन मूलतत्त्वोवाली) उन आरोचमान (गौओ) द्वारा वह (ज्ञान की) विशाल अभिव्यक्ति को धारण करता है, वह जगमगाता हुआ विशाल अभिव्यक्तियो को धारण करता है'। (ऋचा २)[1]

यहा हम देखते है कि पणियो की गौए वे विचार है जो सत्य को प्राप्त कर लेते है। पणियो की जिन गौओ के विषय में यहा यह कहा गया है कि इनके द्वारा सोम अपने निज घर में [अर्थात् उस घर में जो 'अग्नि' तथा अन्य देवो का घर है और जिस घर से हम इस रूप में परिचित है कि वह 'स्व ' का वृहत् सत्य (ऋत वृहत्) है] साफ और चमकीला हो जाता है और यह कहा गया है कि ये जग-मगानेवाली गौए अपने अदर सर्वोच्च लोक के त्रिगुण स्वभाव को रखती है (त्रि-धातुभि अरुषीभि) और जिनके द्वारा सोम उस सत्य के जन्म को या उसकी

---

[1]अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषासि तरति स्वयुग्वभि
सूरो न स्वयुग्वभि ।
धारा सुतस्य रोचते पुनानो अरुषो हरि ।
विश्वा यद्रूपा परियात्यृक्वभि सप्तास्येभिर्ऋक्वभि ॥१॥
त्व त्यत् पणीना विदो वसु स मातृभिर्मर्जयसि स्व आ दम
ऋतस्य धीतिभिर्दमे ।
परावतो न साम तद् यत्रा रणन्ति धीतय ।
त्रिधातुभिररुषीभिर्वयो दधे रोचमानो वयो दधे ॥२॥ (ऋ. ९।१११)

विशाल अभिव्यक्ति* को धारण करता है, उन गौओ से अभिप्रेत वे विचार है जो सत्य को प्राप्त कर लेते है। यह 'स्व', जो उन तीन प्रकाशमान लोकोवाला है जिनकी विशालता में "त्रिधातु" की समतापूर्ण निष्पन्नता रहती है ('त्रिधातु' यह मुहावरा प्राय उस त्रिविध परम तत्त्व के लिये प्रयुक्त हुआ है जिससे त्रिगुणित सर्वोच्च लोक, तिस्र परावत बना है), अन्यत्र इस रूप मे वर्णित किया गया है कि यह विशाल तथा भयरहित चरागाह है जिसमे गौए इच्छानुसार विचरण करती है और आनद लेती है (रण्यति) और यहा भी यह (स्व) वह प्रदेश है जहा सत्य के विचार आनद लेते है (यत्र रणन्ति धीतय)। और अगली (तीसरी) ऋचा मे यह कहा गया है कि 'सोम' का दिव्य रथ ज्ञान को प्राप्त करता हुआ, प्रकृष्ट (परम) दिशा का अनुसरण करता है और दर्शन (Vision) से युक्त होकर किरणो द्वारा आगे बढने का यत्न करता है, (पूर्वामनु प्रदिश याति चेकितत् स रश्मिभिर्यतते दर्शतो रथो दैव्यो दर्शतो रथ)। यह परम दिशा स्पष्ट ही दिव्य या बृहत् सत्य की दिशा है, ये किरणे स्पष्टत दिव्य उषा की या सत्य के सूर्य की किरणे है, वे गौए है जिन्हे पणियो ने छिपा रखा है, ये है प्रकाशमान विचार, चमकीले रग की 'धिय', 'ऋतस्य धीतय'।

वेद की सारी अन्त साक्षी जहा कही भी पणियो, गौओ, अगिरसो का उल्लेख हुआ है, नियत रूप मे इसी परिणाम को सपुष्ट करती है, स्थापित करती है। पणि है सत्य के विचारो के अवरोधक, ज्ञान-रहित अधकार (तमो अवयुनम्) मे निवास करनेवाले, जिस अधकार को इन्द्र और अगिरस् दिव्य शब्द के द्वारा, सूर्य के द्वारा हटाकर उसके स्थान मे प्रकाश को ले आते है, ताकि जहा पहले अधकार

---

*वय, तुलना करो ६ २१ २-३ से, जहा यह कहा गया है कि जो इन्द्र ज्ञानी है और जो हमारे शब्दो (वाणियो) को वहन करता है और उन शब्दो द्वारा यज्ञ में प्रवृद्ध होता है (इन्द्र यो विदानो गिर्वाहस गोर्भिर्यज्ञवृद्धम्), वह इन्द्र उस अधकार को जो ज्ञान से शून्य फैला पडा था सूर्य के द्वारा उस रूप में परिणत कर देता है जो ज्ञान की अभिव्यक्ति से युक्त है, (स इत्तमोऽवयुन ततन्वत् सूर्येण वयुनवच्चकार)।

था वहा सत्य का विस्तार अभिव्यक्त हो जाय। इन्द्र पणियो के साथ भौतिक आयुधो से नही वल्कि शब्दो से युद्ध करता है (देखो ऋ ६ ३९ २), **पर्णीर्वचोभि अभि योधदिन्द्र** । जिस सूक्त में यह् वाक्याश आया है उस सूक्त (६ ३९) का विना कोई टिप्पणी किये केवल अनुवाद कर देना पर्याप्त होगा, जिसमे कि इस प्रतीकवाद का स्वरूप अतिम रुप से प्रकट हो जाय।

'उस दिव्य और आनदमग्न क्रान्तदर्शी (सोम) की, उसकी जो यज्ञ का वाहक है, उसकी जो प्रकाशमान विचारवाला मधुमय वक्ता है, प्रेरणाओ को, हे देव ! हमसे, शब्द के वक्ता से सयुक्त कर, जो प्रेरणाए प्रकाश की गौओ से पुर सृत (इपो गोअग्रा) है। (मत्र १)'

'यह था जिसने चमकीली (गौओ, 'उस्रा') को, जो पहाडी के चारो ओर थी चाहा, जो सत्य को जोतनेवाला, सत्य के विचारो मे अपने रथ को जोते हुए था (**ऋतधीतिभिर्ऋतयुग् युजान**)। (तव) इन्द्र ने 'वल' के अभग्न पहाडी सम प्रदेश (सानु) को तोडा, शब्दो के द्वारा उसने पणियो के साथ युद्ध किया।' (मत्र २)

'यह (सोम) था जिसने, **चन्द्र-शक्ति** (इन्दु) के रूप मे, दिन-रात लगकर और वर्षों मे, प्रकाशरहित रात्रियो को चमकाया, और वे (रात्रिया) दिनो के दर्शन (Vision, केतु) को धारण करने लग पडी, उसने **उषाओ** को रचा जो उषाए जन्म में पवित्र थी' (मत्र ३)।

'यह था जिसने आरोचमान होकर प्रकाशरहितो को प्रकाश से परिपू किया, उसने सत्य के द्वारा अनेको (उषाओ) को चमकाया, वह सत्य से जोते हु घोडो के साथ, 'स्व' को पा लेनेवाले पहिये के साथ चल पडा, कर्मो के कर्त्ता व (दौलत से) परितृप्त करता हुआ (चर्षणिप्रा)।' (मत्र ४)*

---

*मन्द्रस्य कवेर्दिव्यस्य वह्नेर्विप्रमन्मनो वचनस्य मध्व ।
अपा नस्तस्य सचनस्य देवेषो युवस्व गृणते गोअग्रा ॥१॥
अयमुशान पर्यद्रिमुस्रा ऋतधीतिभिर्ऋतयुग्युजान ।
रुजदरुग्ण वि वलस्य सानु पर्णीं र्वचोभिरभि योधदिन्द्र ॥२॥

यह सर्वत्र विचार है, सत्य है, शब्द है जो पणियो की गौओं के साथ संबद्ध पाया जाता है, दिव्य मन शक्ति रूप इन्द्र के शब्दो द्वारा वे जीते जाते है जो गौओ को अवरुद्ध करते हैं, वह जो कि अंधकारपूर्ण था प्रकाशमय हो जाता है, सत्य मे जोते गये घोड़ों मे खिचनेवाला रथ (ज्ञान के द्वारा, स्वर्विदा नाभिना) सत्ता की, चेतना की और आनद की प्रकाशमय विस्तीर्णता को पा लेता है जो कि अवतक हमारी दृष्टि से ओझल है। 'ब्रह्म' (विचार) के द्वारा इन्द्र 'वल' का भेदन करता है, अंधकार को ओझल करता है, 'स्व' को सुदृश्य करता है।

उद् गा आजद् अभिनद् ब्रह्मणा वलम्।

अगूहत्तमो व्यचक्षयत् स्व·।(ऋ २ २४ ३)

सारा ऋग्वेद प्रकाश की शक्तियो का एक विजयगीत है और गीत है प्रकाश की शक्तियो के ऊर्ध्वारोहण का, जो आरोहण सत्य के वल तथा दर्शन के द्वारा होता है और जो इस उद्देश्य से होता है कि सत्य के स्रोत व घर में, जहा कि सत्य अनृत के आक्रमण से स्वतत्र रहता है, पहुचकर उस सत्य को अधिगत कर लिया जाय। 'सत्य के द्वारा गौए (प्रकाशमान विचार) सत्य मे प्रविष्ट होती है, सत्य की तरफ जाने का यत्न करता हुआ व्यक्ति सत्य को जीतता है, सत्य का अग्रगामी वल प्रकाश की गौओ को पाना चाहता है और (शत्रु को) बीच में से चीरता हुआ चला जाता है, सत्य के लिये दो विस्तृत (द्यौ व पृथिवी) वहुत और गभीर हो जाते है, सत्य के लिये दो परम माताए अपना दूध देती है।'

ऋतेन गाव ऋतमा विवेशु।

ऋत येमान ऋतमिद् वनोति, ऋतस्य शुष्मस्तुरया उ गव्यु।

ऋताय पृथ्वी वहुले गभीरे, ऋताय धेनू परमे दुहाते॥

(ऋ ४ २३ ९,१०)

अय द्योतयदद्युतो व्य१क्तून् दोषा वस्तोः शरद इन्दुरिन्द्र।

इम केतुमदधुर्नू चिदह्ना शुचिजन्मन उपसश्चकार॥३॥

अय रोचयदरुचो रुचानो३ऽय वासयद् व्यृ१तेन पूर्वी।

अयमीयत ऋतयुग्भिरश्वै स्वर्विदा नाभिना चर्षणिप्रा॥४॥

तेईसवा अध्याय

दस्युओं पर विजय

दस्यु आर्य-देवो तथा आर्य-ऋषियो दोनोके विरोध मे खडे होते है। देव पैदा हुए है 'अदिति' से वस्तुओ के उच्चतम (परम) **सत्य** में, दस्यु या दानव पैदा हुए है 'दिति' से निम्नतर (अवर) **अधकार** में, देव है **प्रकाश** के अधिपति तथा दस्यु **रात्रि** के अधिपति है और पृथिवी, द्यौ तथा मध्य के लोक (शरीर, मन तथा इनको जोडनेवाले जीवन-प्राण) इस त्रिगुण लोक के आरपार इन दोनोका आमना-सामना होता है। सूक्त १०।१०८ में सरमा सर्वोच्च लोक से, **पराकात्**, उतरती है, उसे 'रसा' के जलो को पार करना पडता है, उसे '**रात्रि**' मिलती है जो अपने अतिलघन किये जाने के भय से (**अतिष्कदो भियसा**) उसे स्थान दे देती है, वह दस्युओ के घर को पहुचती है, (**दस्योरोको न सदन**। १।१०४। ५), जिस घर को स्वय दस्युओ ने ही इस रूप मे वर्णित किया है कि वह '**रेकु पदम् अलकम्**' (१०।१०८।७) है, अर्थात् अनृत का लोक जो कि वस्तुओ की सीमा से परे है। है तो **उच्च लोक** भी वस्तुओ की सीमा से परे गया हुआ क्योकि वह इस सीमा से आगे वढा हुआ या इस सीमाको लाघे हुए है, है यह भी "**रेकु पदम्**", पर 'अलकम्' नही किंतु 'सत्यम्' है, **सत्य** का लोक है न कि अनृत का लोक। अनृत का लोक है अधकार जो कि ज्ञानरहित है, (तमो अवयुन ततन्वत्)। जब इन्द्र की विशालता बढकर द्यौ तथा पृथिवी और मध्यलोक (अन्तरिक्ष) को लाघ जाती है (रिरिचे), तब वह (इन्द्र) **आर्य** के लिये, इस (अनृतलोक) के विपरीत, सत्य के और ज्ञान के लोक (**वयुनवत्**) को रचता है, जो ज्ञान और सत्य का लोक इन तीन लोको से परे है और इसलिये '**रेकु पदम्**' है। इस अन्धकार को, इस अधोलोक को जो कि **रात्रि** और **अचेतना** का है (वस्तुओ की साकार सत्ता में इस रात्रि और अचेतना का प्रतीक के तौर पर इस रूप में वर्णन किया गया है कि यह वह पर्वत है जो पृथिवी के आभ्यन्तर से उठता है और द्यौ

के पृष्ठ तक जाता है) निरूपित किया गया है उस गुप्त गुफा ने जो पहाडी के अधोभाग में है, जो गुफा अन्धकार की गुफा है।

पर वह गुफा पणियो का केवल घर है, पणियो का क्रिया-क्षेत्र है पृथिवी तथा द्यौ और मध्य-लोक। पणि अचेतना के पुत्र है, पर स्वय अपनी क्रिया मे वे पूरे-पूरे अचेतन नही है, वे प्रतीयमान ज्ञान के रूपो (माया) को रखते है, पर ये रूप वस्तुत अज्ञान के रूप है जिनका सत्य अचेतन के अन्धकार में छिपा हुआ है और इनका उपरितल या अग्रभाग अनृत है, न कि सत्य। क्योकि ससार जैसा यह हमें दीखता है उस अन्धकार मे से निकला है जो कि अन्धकार में छिपा हुआ था (तम आसीत् तमसा गूढम्), उस गम्भीर तथा अगाध जल-प्रवाह मे से निकला है जिसने सब वस्तुओ को आच्छादित किया हुआ था, अचेतन समुद्र (अप्रकेत सलिलम्) मे से निकला है (देखो, १०-१२९-३[1])। उस असत् के अन्दर द्रष्टाओ (कवियो) ने हृदय मे इच्छा करके और मन में विचार के द्वारा उसे पाया जिससे कि सत्य सत्ता रचित होती है[2]। वस्तुओ के सत्य का यह 'असत्' उनका प्रथम रूप है, जो अचेतन समुद्र मे उद्भूत होता है, और इसका महान् अन्धकार ही वैदिक रात्रि है जो रात्रि 'जगतो निवेशनी' है, जगत् को तथा जगत् की सारी अव्यक्त सभाव्य वस्तुओ को अपने अन्धकार-मय हृदय (वक्षस्थल) मे धारण किये हुए है (रात्रिम् जगतो निवेशनीम्)। यह रात्रि हमारे इस त्रिगुण लोक पर अपने राज्य को फैलाती है और उस रात्रि के अन्दर से द्यौ मे, मानसिक सत्ता मे, उषा पैदा होती है जो उषा सूर्य को अन्धकार मे से छुडाती है जहा कि वह छिपा हुआ तथा ग्रहण को प्राप्त हुआ पडा था, और जो 'असत्' में, रात्रि मे, परम दिन के दर्शन को रचती है, (असति प्रकेतुम्)। इसलिये यह इन तीन लोको के अन्दर होता है कि प्रकाश के अधिपतियो (देवो) तथा अज्ञान के अधिपतियो (दस्युओ) के बीच युद्ध चलता है,

---

[1]तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेत सलिल सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहित यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥

[2]सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ (ऋ १०।१२९।४)

अपनी सतत परिवृत्तियो, पर्यायो मे से गुजरता हुआ चलता है।

'पणि' शब्द का अर्थ है व्यवहारी, व्यापारी जो कि 'पण' धातु से (तथा 'पन'* से, तुलना करो तामिल 'पण'– करना और ग्रीक 'पोनोस (Ponos)' – श्रम करना) बनता है और पणियो को हम सभवत यह समझ सकते है कि ये वे शक्तिया है जो जीवन की उन सामान्य अप्रकाशमान इन्द्रिय-क्रियाओ की अधिष्ठात्रिया है जिनका सनिकृष्ट मूल अन्धकारमय अवचेतन भौतिक सत्ता में होता है, न कि दिव्य मन मे। मनुष्य का सारा सघर्ष इसके लिये है कि वह इस क्रिया को हटाकर उसके स्थान मे मन और प्राण की प्रकाशयुक्त दिव्य क्रिया को ले आये जो कि ऊपर से और मानसिक सत्ता के द्वारा आती है। जो कोई इस प्रकार की अभीप्सा रखता है, इसके लिये यत्न करता है, युद्ध करता है, यात्रा करता है, जीवन की पहाडी पर आरोहण करता है, वह है **आर्य** (आर्य, अर्य, अरि के अनेक अर्थ है, श्रम करना, लडना, चढना या उदय होना, यात्रा करना, यज्ञ रचना)। आर्य का कर्म है यज्ञ, जो कि एक साथ एक युद्ध और एक आरोहण तथा एक यात्रा है, एक युद्ध है अन्धकार की शक्तियो के विरुद्ध, एक आरोहण है पर्वत की उन उच्चतम चोटियो पर जो द्यावापृथिवी से परे 'स्व' के अन्दर चली गयी है, एक यात्रा है नदियो तथा समुद्र के परले पार की, वस्तुओ की सुदूरतम **असीमता** के अन्दर। **आर्य** में इस कर्म के लिये सकल्प होता है, वह इस कर्म का कर्ता (कारु, किरि इत्यादि) है, देव जो कि उसके कर्म में अपने बल को प्रदान करते है 'सुक्रतु' है, यज्ञ के लिये अपेक्षित शक्ति में पूर्ण है, **दस्यु** या **पणि** इन दोनो से विपरीत है, वह 'अक्रतु' है।

---

*सायण 'पन' धातु का अर्थ वेद में 'स्तुति करना' यह लेता है, पर एक स्थान पर उसने 'व्यवहार' अर्थ भी स्वीकार किया है। मुझे प्रतीत होता है कि अधिकाश सन्दर्भों मे इसका अर्थ 'क्रिया' है। क्रियार्थक 'पण' से ही, हम देखते हैं, कर्मेंद्रियो के प्राचीन नाम बने हुए है, जैसे 'पाणि' अर्थात् हाथ, पैर या खुर, लैटिन पेनिस (Penis), इसके साथ 'पायु' की भी तुलना कर सकते है।

आर्य है यज्ञकर्ता 'यजमान' 'यज्यु', देव जो कि उसके यज्ञ को ग्रहण करते है, धारण करते है, प्रेरित करते है 'यजत' 'यजत्र' है, यज्ञ की शक्तिया है; दस्यु इन दोनो से विपरीत है, वह 'अयज्यु' है।

आर्य यज्ञ में दिव्य शब्द, गौ, मन्त्र, ब्रह्म, उक्थ को प्राप्त करता है, वह ब्रह्मा अर्थात् शब्द का गायक है, देव शब्द मे आनन्द लेते है और शब्द को धारित करते है (गीर्वाहस, गिर्वणस)। दस्यु शब्द से द्वेष करनेवाले और उसके विनाशक है (ब्रह्मद्विष), वाणी को दूषित या विकृत करनेवाले है (मृध्रवचस)। दस्युओ के पास दिव्य प्राण की शक्ति नही है या मुख नही है जिससे कि वे शब्द को बोल सके, वे अनास (५-२९-१०) है और उनके पास शब्द को तथा शब्द के अन्दर जो सत्य रहता है उसे विचारने की, मनोमय करने की शक्ति नही है 'अमन्यमाना' है, पर आर्य शब्द के विचारक है, 'मन्यमाना' है, विचार को, विचारशील मन को और द्रष्टा-ज्ञान को धारण करनेवाले 'धीर, मनीषी, कवि' है, साथ ही देव भी विचार के अत्युच्च विचारक है (प्रथमो मनोता धिय, काव्य)। आर्य देवत्वो के इच्छुक (देवयु, उशिज) है, वे यज्ञ द्वारा, शब्द द्वारा, विचार द्वारा, अपनी सत्ता को तथा अपने अन्दर के देवत्वो को वृद्धिगत करना चाहते है। दस्यु है देवो के द्वेषी (देवद्विष), देवत्व के बाधक (देवनिद), जो कि किसी वृद्धि को नही चाहते (अवृध)। 'देव' आर्य पर दौलत बरसाते है आर्य अपनी दौलत देवो को देता है, दस्यु अपनी दौलत को आर्य के पास जाने से रोकता है जबतक कि वह उससे जबर्दस्ती नही छीन ली जाती, और वह देवो के लिये अमृतरूप सोम-रस को नही निचोडता जो देव इस सोम के आनद को मनुष्य के अदर पैदा करना चाहते है, यद्यपि वह 'रेवान्' है, यद्यपि उसकी गुफा गौओ से और घोडो से और खजानो से भरी पडी है (गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्न्यृष्टम्), तो भी वह अराधस् है, क्योकि उसकी दौलत मनुष्य को या स्वय उसे किसी प्रकार की समृद्धि या आनद नही देती—पणि सत्ता का कृपण है। और आर्य तथा दस्यु के बीच सघर्ष मे पणि सदा आर्य की प्रकाशमान गौओ को लूट लेना और नष्ट कर देना, चुरा लेना तथा उन्हें फिर से गुफा के

अंधकार मे छिपा देना चाहता है। "भक्षक को, पणि को, मार डालो, क्योकि वह भेडिया है (विदारक, 'वृक' है)*।"

यह स्पष्ट है कि ये वर्णन आसानी के साथ मानवीय शत्रुओ की ओर भी लगाये जा सकते है और यह कहा जा सकता है कि दस्यु या पणि मानवीय शत्रु थे जो आर्य के सप्रदाय से तथा उसके देवो से द्वेष किया करते थे, पर हम देखेंगे कि इस प्रकार की कोई व्याख्या विल्कुल असभव है, क्योकि सूक्त १ ३३ में जहा कि ये विभेद अत्यधिक स्पष्टता के साथ चित्रित किये गये है और जहा इन्द्र तथा उसके मानवीय सखाओ का दस्युओ के साथ युद्ध वडे यत्नपूर्वक वर्णित किया गया है, यह सभव नही है कि ये दस्यु, पणि और वृत्र मानवीय योद्धा, मानवीय जातिया या मानवीय लुटेरे हो सके। हिरण्यस्तूप आगिरसके इस सूक्त में पहिली दस ऋचाए स्पष्टतया गौओं के लिये होनेवाले युद्ध के विषय मे है और अतएव पणियो के विपय में है।

"एतायामोप गव्यन्त इन्द्रमस्माक सु प्रमति वावृधाति।

अनामृण कुविदादस्य रायो गवा केत परमावर्जते न ॥ (१ ३३ १)

आओ, गौओकी इच्छा रखते हुए हम इन्द्रके पास चले, क्योकि वही है जो हमारे अदर विचारको प्रवृद्ध करता है, वह अजेय है और उसकी सुख-समृद्धिया (राय) पूर्ण है, वह प्रकाशमान गौओके उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शनको हमारे लिये मुक्त कर देता है (अधकार से जुदा कर देता है)। **गवा केत परमावर्जते न** (ऋचा १)।

उपेवह धनदामप्रतीत जुष्टा न श्येनो वसति पतामि।

इन्द्र नमस्यन्नुपमेभिरर्कै यं स्तोतृभ्यो हव्यो अस्ति यामन्॥ (१ ३३. २)

मै अधर्षणीय ऐश्वर्यप्रदाता (इन्द्र) की ओर शीघ्रता से जाता हू, जैसे कोई पक्षी अपने प्यारे घोसले की ओर उडकर जाता है, प्रकाश के परम शब्दो के साथ इन्द्र के प्रति नत होता हुआ, उस इन्द्र के प्रति जो कि अपने स्तोताओ द्वारा अपनी यात्रा में अवश्य पुकारा जाता है (ऋचा २)

नि सर्वसेन इषुधीरसक्त समर्यो गा अजति यस्य वष्टि।

चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वाम मा पणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध ॥(१. ३३ ३)

***जही न्यत्रिण पणि वृको हि ष ॥ ६-५१-१४**

वह (इन्द्र) अपनी सब सेनाओं के साथ आता है और उसने अपने तूणीरों को दृढता से बांध रखा है, वह योद्धा है (आर्य है) जो कि जिसके लिये चाहता है गौओं को ला देता है। (हमारे शब्द द्वारा) प्रवृद्ध हुए-हुए ओ इन्द्र! अपने प्रचुर आनंद को हमसे अपने लिये मत रोक रख, हमारे अंदर पणि मत बन। चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वाम मा पणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध (ऋचा ३)।"

यह अंत का वाक्यांश सहसा ध्यान खींचनेवाला है। पर प्रचलित व्याख्या में इसे यह अर्थ देकर कि "हमारे लिये तू कृपण मत हो" इसके वास्तविक बल को खो दिया गया है। इस अर्थ मे यह तथ्य ध्यान में नहीं आता कि पणि दौलत के अवरोधक हैं, वे दौलत को अपने लिये रख लेते हैं और इस दौलत को न वे देव को देते हैं न ही मनुष्य को। इस वाक्यांश का अभिप्राय स्पष्टतः यही है कि "आनंद की अपनी भरपूर दौलत को रखता हुआ तू पणि मत बन, अर्थात् ऐसा मत बन जैसा कि पणि होता है कि वह अपने हाथ में आयी दौलतों को केवल अपने ही लिये रखता है और मनुष्य के पास जाने से बचाता है, अभिप्राय हुआ कि आनंद को हमसे दूर छिपाकर अपनी पराचेतन गुहा में मत रख जैसे कि पणि अपनी अवचेतन गुफा में रखे रखता है।"

इसके बाद सूक्त पणि का, दस्यु का तथा पृथिवी और द्यौ को अधिगत करने के लिये उस पणि या दस्यु के साथ इन्द्र के युद्ध का वर्णन करता है।

"वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेन एकश्चरन्नुपशाकेभिरिन्द्र।
धनोरधि विषुणक् ते व्यायन्नयज्वानः सनकाः प्रेतिमीयुः ॥(१.३३.४)

नहीं, अपनी उन शक्तियों के साथ जो कि तेरे कार्य को सिद्ध करती हैं अकेला विचरता हुआ तू, हे इन्द्र! अपने वज्र द्वारा दौलत से भरे दस्यु का वध कर डालता है, वे जो (बाणरूप शक्तियां) तेरे धनुष पर चढ़ी हुई थीं पृथक्-पृथक् सब दिशाओं में तेजी से गयीं और वे जो दौलतवाले थे फिर भी यज्ञ नहीं करते थे अपनी मौत मारे गये। (ऋचा ४)

परा चिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्राऽयज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः।
प्र यद् दिवो हरिवः स्थातरुग्र निरव्रताँ अधमो रोदस्योः ॥ (१.३३.५)

वे जो कि स्वयं यज्ञ नहीं करते थे और यज्ञकर्ताओं से स्पर्धा करते थे उनके

सिर उनसे अलग होकर दूर जा पडे, जब कि, ओ चमकीले घोडो के स्वामिन्! ओ द्यौ में दृढता से स्थित होनेवाले! तूने द्यावापृथिवी से उन्हे बाहर निकाला जो तेरी क्रिया के नियम को पालन नही करते (अव्रतान्)। (ऋचा ५)

अयुयुत्सन्ननवद्यस्य सेनामयातयन्त क्षितयो नवग्वा ।

वृषायुधो न वध्रयो निरष्टा प्रवद्भिरिन्द्राच्चितयन्त आयन् ॥(१.३३.६)

उन्होने निर्दोष (इन्द्र) की सेना से युद्ध ठाना था, नवग्वाओ ने उस (इन्द्र) को प्रयाण में प्रवृत्त किया, उन बधिया बैलो की तरह जो कि साड (वृषा) से लडते है वे बाहर निकाल दिये गये, वे जान गये कि इन्द्र क्या है और ढलानो से उसके पास से नीचे भाग आये। (ऋचा ६)

त्वमेतान् रुदतो जक्षतश्चायोधयो रजस इन्द्र पारे ।

अवादहो दिव आ दस्युमुच्चा प्र सुन्वत स्तुवत शसमाव ॥ (१-३३-७)

ओ इन्द्र! तूने उनसे युद्ध किया जो मध्यलोक के परले किनारे पर (**रजस पारे**, अर्थात् द्यौ के सिरे पर) हस रहे थे और रो रहे थे, तूने उच्च द्यौ से दस्यु को बाहर निकालकर जला डाला, तूने उसके कथन की पालना की जो तेरी स्तुति करता है और सोम अर्पित करता है। (ऋचा ७)

चक्राणास परीणह पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमाना ।

न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्र परि स्पशो अदधात् सूर्येण ॥ (१ ३३ ८)

पृथिवी के चारो ओर चक्र बनाते हुए वे सुनहरी मणि ('मणि' यह सूर्य के लिये एक प्रतीक-शब्द है) के प्रकाश मे चमकने लगे, पर अपनी सारी दौड-धूप करते हुए भी वे इन्द्र को लाघकर आगे नही जा सके, क्योकि उस (इन्द्र) ने सूर्य द्वारा चारो तरफ गुप्तचर बैठा रखे थे। (ऋचा ८)

परि यदिन्द्र रोदसी उभे अबुभोजी महिना विश्वत सीम् ।

अमन्यमानाँ अभि मन्यमानैर्निर्ब्रह्मभिरधमो दस्युमिन्द्र ॥ (१ ३३ ९)

जब तूने द्यावापृथिवी को चारो तरफ अपनी महत्ता से व्याप्त कर लिया तब जो (**सत्य** को) नही विचार सकते उनपर विचार करनेवालो द्वारा आक्रमण करके (**अमन्यमानान् अभि मन्यमानै.**) तूने ओ इन्द्र! **शब्द** के वक्ताओ द्वारा (ब्रह्मभि) दस्यु को बाहर निकाल दिया। (ऋचा ९)

न ये दिवः पृथिव्या अन्तमापुर्न मायाभिर्धनदां पर्यभूवन्।
युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत्॥ (१. ३३ १०)

उन्होने द्यौ और पृथिवी के अंत को नही पाया और वे अपनी मायाओ से ऐश्वर्यप्रदाता (इन्द्र) को पराजित नही कर सके, वृषभ इन्द्र ने वज्र को अपना सहायक बनाया, प्रकाश द्वारा उसने जगमगाती गौओ को अंधकार मे से दुह लिया। (ऋचा १०)"

यह युद्ध पृथिवी पर नही किंतु अन्तरिक्ष के परले किनारे पर होता है, दस्यु वज्र की ज्वालाओ द्वारा द्यौ से बाहर निकाल दिये जाते है, वे पृथिवी का चक्कर काटते है और द्यौ तथा पृथिवी दोनो से बाहर निकाल दिये जाते है, क्योंकि वे द्यौ मे या पृथिवी मे कही भी जगह नही पा सकते, क्योंकि द्यावापृथिवी सारा-का-सारा अब इन्द्र की महत्ता से व्याप्त हो गया है, न ही वे इन्द्र के वज्रो से बचकर कही छिप सकते हैं, क्योंकि सूर्य अपनी किरणो से इन्द्र को गुप्तचर दे देता है और उन गुप्तचरो को वह इन्द्र चारो तरफ नियुक्त कर देता है, और उन किरणो की चमक मे पणि ढूढ लिये जाते है। यह आर्य तथा द्राविड जातियो के बीच हुए किसी पार्थिव युद्ध का वर्णन नही हो सकता, न यह वज्र ही भौतिक वज्र हो सकता है क्योंकि भौतिक वज्र का तो रात्रि की शक्तियो के विनाश से तथा अंधकार मे से उषा की गौओ के दुहे जाने से कोई संबंध नही है। तब यह स्पष्ट है कि ये यज्ञ न करनेवाले ये शब्द के द्वेषी जो कि इसके विचारने तक मे असमर्थ है, कोई आर्य संप्रदाय के मानवीय शत्रु नही हैं। ये तो शक्तियां है जो स्वयं मनुष्य के ही अंदर द्यौ तथा पृथिवी को अधिगत करने का यत्न करती है। ये दानव है, द्रविड़ नही।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि वे शक्तियां "पृथिवी तथा द्यौ की सीमा (अंत)" को पाने का यत्न तो करती है, पर पाने मे असफल रहती है, हम अनुमान कर सकते है कि ये शक्तियां पृथिवी तथा द्यौ से परे स्थित उस उच्चतर लोक को जो कि केवल शब्द और यज्ञ द्वारा ही जीता जा सकता है, शब्द या यज्ञ के बिना ही अधिगत कर लेना चाहती हैं। वे अज्ञान के नियम से शासित होकर सत्य को अधिगत करना चाहती है, पर पृथिवी या द्यौ की सीमा को पाने मे असमर्थ

जिस ऐसे अकुश को तू धारण करता है जो शब्द को उठने के लिये प्रेरित करने-वाला है उससे, हे प्रकाशमान पूषन्! तू सबके हृदयो पर अपना लेख लिख दे और उन हृदयो को छितरा हुआ कर दे, (इस प्रकार उन्हे हमारे वश कर दे)। (मत्र ८)

या ते अष्ट्रा गोओपशाऽऽघृणे पशुसाधनी।

तस्यास्ते सुम्नमीमहे॥ (६ ५३ ९)

जो तेरा अकुश ऐसा है जिसमें तेरी किरण नोक का काम करती है और जो पशुओ को पूर्ण बनानेवाला है (अभिप्राय है, ज्ञान-दर्शन के पशुओ को, **पशुसाधनी**, तुलना करो चतुर्थ ऋचा में आये "**साधन्ता धिय**" से) उस (अकुश) के आनद को हम चाहते है। (मत्र ९)

उत नो गोषणि धियमश्वसा वाजसामुत।

नृवत् कृणुहि वीतये॥ (६ ५३.१०)

हमारे लिये उस विचार को रच, जो गौ को जीत लेनेवाला है, जो घोडे को जीत लेनेवाला है और जो दौलत की पूर्णता को जीत लेनेवाला है।" (मत्र १०)

पणियो के इस प्रतीक की हमने जो व्याख्या की है यदि वह ठीक है तब इस सूक्त में वर्णित विचार पर्याप्त रूप से समझ में आ सकते है और इसके लिये ऐसी आवश्यकता नही है, जैसा कि सायण ने किया है, कि पणि शब्द मे जो सामान्य आशय अन्तर्निहित है उसे अलग कर दिया जाय और पणि का अर्थ केवल 'कृपण, लुब्ध मनुष्य' इतना ही समझा जाय और यह समझा जाय कि इस कृपण के ही सबध में भूख से मारा हुआ कवि इस प्रकार दीनतापूर्वक **सूर्य-देवता** से प्रार्थना कर रहा है कि तू इसे मृदु कर दे और देनेवाला बना दे। वैदिक विचार यह था कि अवचेतन अधकार के अदर तथा सामान्य अज्ञान के जीवन मे वे सब ऐश्वर्य छिपे पडे है जो दिव्य जीवन से सबध रखते है और इन गुप्त ऐश्वर्यों को फिर से प्राप्त किया जाना आवश्यक है और उसका उपाय यह है कि पहले तो अज्ञान की अनु-तापरहित शक्तियो का विनाश किया जाय और फिर निम्न जीवन को उच्च जीवन के अधीन किया जाय।

इन्द्र के सबध मे, जैसा कि हम देख चुके है, यह कहा गया है कि वह दस्यु का

या तो वध कर देता है या उसे जीत लेता है और उसकी दौलत आर्य को दिलवा देता है। इसी प्रकार सरमा भी पणियों के साथ बंधुत्व कायम कर संधि कर लेने से इन्कार कर देती है, बल्कि उन्हें यह सलाह देती है कि तुम अपने-आपको समर्पण कर दो और देवों तथा आर्यों के आगे झुक जाओ, और कैद की हुई गौओं को ऊपर आरोहण करने के लिये छोड दो और तुम स्वय इस अधकार को छोडकर किसी प्रशस्त स्थान को चले जाओ (आ वरीय)। और यह प्रकाशमान द्रष्टा, सत्य के अधिपति पूषा का जो अकुश है उसके अविरत स्पर्श से होता है कि पणि का हृदय-परिवर्तन हो जाता है—उस अकुश के जो कि बन्द हृदय को भग्न कर खोल देता है और इसकी गहराइयों से पवित्र शब्द को उठने देता है, उस चमकीली नोक-वाले अकुश के जो कि जगमगाती गौओं को पूर्ण बनाता है, प्रकाशमान विचारों को सिद्ध करता है, तब सत्य का देवता इस पणि के अधकारपूर्ण हृदय में भी उसीकी इच्छा करने लगता है जिसकी आर्य इच्छा करता है। इस प्रकार प्रकाश तथा सत्य की इस गहराई तक पहुचनेवाली क्रिया द्वारा यह होता है कि सामान्य अज्ञान-मय इन्द्रिय-क्रिया की शक्तिया आर्य के वशवर्ती हो जाती हैं।

परतु साधारणत पणि आर्य के शत्रु, दास हैं। 'दास' अधीनता या सेवा के अर्थ में नही बल्कि विनाश या क्षति के अर्थ मे (दास का अर्थ सेवक भी है जब कि वह करणार्थक 'दस्' से बनता है, 'दास' या 'दस्यु' का दूसरा अर्थ है शत्रु, लुटेरा और यह उस 'दस्' धातु से बनता है जिसका अर्थ है विभक्त करना, चोट मारना, क्षति पहुचाना, पणि आर्य के दास इस दूसरे अर्थ में ही हैं)। पणि लुटेरा है जो कि प्रकाश की गौओं को, वेग के घोडो को और दिव्य ऐश्वर्य के खजानों को बलपूर्वक छीन ले जाता है, वह भेडिया है, भक्षक है, 'वृक' है, 'अत्रि' है, वह शब्द को बाधा डालकर रोकनेवाला (निद्) और शब्द को विकृत करनेवाला है। वह शत्रु है, चोर है, झूठा या बुरा विचार करनेवाला है जो कि अपनी लूटमारों से और बाधाओं से मार्ग को दुर्गम बना देता है, "शत्रु को, चोर को, कुटिल को जो कि विचार को झूठे रूप में स्थापित करता है, हमसे बहुत दूर बिलकुल परे कर दे, हे सत्ता के पति! हमारे मार्ग को आसान यात्रावाला कर दे। पणि का वध कर दे, क्योंकि वह भेडिया है जो

कि खा जानेवाला है।"[1] (६ ५१ १३, १४)।

यह आवश्यक है कि उसका आक्रमण के लिये उठना देवो के द्वारा रोका जाय। "इस देव (सोम) ने जन्म पाकर, सहायक के रूप में इन्द्र को साथ लेकर बल के जोर से पणि को रोक दिया"[2] और स्व को, सूर्य को तथा सब ऐश्वर्यों को जीत लिया (६-४४)। पणियो को मार डालना या भगा देना अभीष्ट है जिससे कि उनके ऐश्वर्य उनसे छीने जा सके तथा उच्चतर जीवन को समर्पित किये जा सके। "तू जिसने कि पणि को लगातार भिन्न-भिन्न श्रेणियो में विभक्त कर दिया, तेरे ही ये जबर्दस्त दान है, हे सरस्वति। सरस्वति! देवो के बाधको को कुचल डाल"[3] (६-६१)। "हे अग्नि और सोम! तब तुम्हारी शक्ति जागृत हुई थी जब कि तुमने पणि के पास से गौए लूटी थी और बहुतो के लिये एक ज्योति को पा लिया था।"[4] (१-९३-४)

जब कि देव यज्ञ के लिये उषा में जागृत होते है तब कही ऐसा न हो कि पणि भी यज्ञ की सफल प्रगति मे बाधा डालने के लिये जाग उठें, सो उन्हें अपनी गुफा के अन्धकार में सोया पडा रहने दो। "हे ऐश्वर्यों की सम्राज्ञी उष! उन्हे तू जगा दे जो हमे परिपूर्ण करते हैं (अर्थात् जो देव है), पर पणियो को न जगाते हुए सोया पडा रहने दे। हे ऐश्वर्यों की सम्राज्ञी! ऐश्वर्य के अधिपतियो के लिये तू ऐश्वर्यों को साथ लेकर उदित हो, हे सत्यमयी उष! उसके लिये तू ऐश्वर्यों को साथ लेकर (उदित) हो जो तेरा स्तोता है। यौवन में भरी हुई वह (उषा) हमारे आगे चमक रही है, उसने अरुण गौओ के समूह को रच

---

[1]अप त्य वृजिन रिपु स्तेनमग्ने दुराध्यम्। दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम्॥
.. .. जही न्यत्रिण पणि वृको हि ष ॥ (६।५१।१३, १४)

[2]"अय देव· सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तभायत्"। (६ ४४.२२)

[3]या शश्वन्तमाचखादावस पणि ता ते दात्राणि तविषा सरस्वति।
सरस्वति देवनिदो निबर्हय॥ (६.६१.१, ३)

[4]अग्नीषोमा चेति तद् वीर्यं वा यदमुष्णीतमवस पणि गा।
(अवातिरत बृसयस्य शेष) अविन्दत ज्योतिरेकं बहुभ्य ॥ (१.९३.४)

लिया है, असत् में दर्शन विशाल रूप में उदित हो गया है"[1] (१-१२८-१० -११)। या फिर इसी बात को ४-५१ में देख सकते हैं—"देखो, हमारे आगे वह ज्ञान से परिपूर्ण श्रेष्ठतम प्रकाश अन्धकार में से उदित हो गया है, द्यौ की पुत्रियां विशाल रूप में चमक रही हैं, इन उषाओं ने मनुष्य के लिये मार्ग रच दिया है (मन्त्र १)। उषाएं हमारे आगे खड़ी हुई हैं जैसे कि यज्ञों में स्तम्भ, विशुद्ध रूप में उदित होती हुई और पवित्र करनेवाली उन (उषाओं) ने बाड़े के, अन्धकार के द्वारों को खोल दिया है (मन्त्र २)। आज उदित होती हुई उषाएं सुख-भोक्ताओं को समृद्ध आनन्द देने के लिये ज्ञान में जागृत कर रही हैं, अन्धकार के मध्य में जहां कि प्रकाश क्रीड़ा नहीं करता पणि न जागते हुए सोये पड़े रहें (मन्त्र ३)[2]।" इसी निम्न अन्धकार के अन्दर वे पणि उच्च लोकों से निकाल कर डाल दिये जाने चाहियें और उषाओं को जिन्हें कि पणियों ने उस रात्रि में कैद कर रखा है चढ़ाकर सर्वोच्च लोकों में पहुंचा देना चाहिये। इसलिये वेद में कहा है—

न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणींरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्।
प्रप्र तान् दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून् ॥ (७-६-३)

"जो पणि कुटिलता की गांठ पैदा करनेवाले हैं, जो कर्मों को करने का संकल्प

---

[1] प्र बोधयोषः पृणतो मघोन्यबुध्यमानाः पणयः ससन्तु।
रेवदुच्छ मघवद्भ्यो मघोनि रेवत् स्तोत्रे सूनृते जारयन्ती ॥१०॥
अवेयमश्वैद् युवतिः पुरस्ताद् युङ्क्ते गवामरुणानामनीकम्।
वि नूनमुच्छादसति प्र केतुः (गृहं गृहमुप तिष्ठाते अग्निः) ॥११॥ (ऋ. १-१२८)

[2] इदमु त्यत् पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात्।
नूनं दिवो दुहितरो विभातीर्गातुं कृणवन्नुषसो जनाय ॥
अस्थुरु चित्रा उषसः पुरस्तान्मिता इव स्वरवोऽध्वरेषु।
व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीरव्रञ्छुचयः पावकाः ॥
उच्छन्तीरद्य चितयन्त भोजान् राधोदेयायोषसो मघोनीः।
अचित्रे अन्तः पणयः ससन्त्वबुध्यमानास्तमसो विमध्ये ॥ ४।५१।१, २, ३

नही रखते, जो वाणी को विकृत करनेवाले है, जो श्रद्धा नही रखते, जो वृद्धि को नही प्राप्त होते, जो यज्ञ नही करते, उन पणियो को **अग्नि** ने दूर, बहुत दूर खदेड दिया, उस पूर्व अर्थात् प्रकृष्ट या उच्च (अग्नि) ने जो यज्ञ नही करना चाहते उन (पणियो) को सबसे नीचे अपर कर दिया ॥३॥

यो अपाचीने तमसि मदन्ती प्राचीश्चकार नृतम· शचीभि ...।

और उनको (**गौओ** को, **उषाओ** को) जो कि निम्न अन्धकार में आनन्द ले रही थी, अपनी शक्तियो से उस नृतम (अग्नि) ने सर्वोच्च (लोक) की तरफ प्रेरित कर दिया ॥४॥

यो देह्यो अनमयद् वधस्नैर्यो अर्यपत्नीरुषसश्चकार।

उसने अपने आघातो से उन दीवारो को जो कि सीमित करनेवाली थी तोड गिराया, उसने **उषाओको** आर्यकी सहचारिणी, **अर्यपत्नी** कर दिया ॥५॥" **नदिया** और उषाए जब 'वृत्र' या 'वल' के कब्जे में होती है तब वे 'दासपत्नी' कही गयी है, देवोकी क्रिया द्वारा वे 'अर्यपत्नी' बन जाती है, आर्यकी सहचारिणी हो जाती है।

अज्ञान के अधिपतियो का वध कर देना चाहिये या उन्हे सत्य का और सत्य के अन्वेष्टाओ का दास बना देना चाहिये, परन्तु पणियो के पास जो दौलत है उसे पा लेना मानवीय परिपूर्णता के लिये अनिवार्य है, इन्द्र मानो "पणि के दौलत से अधिकतम भरे मूर्धा पर" खडा हो जाता है, (**पणीना वर्षिष्ठे मूर्धन्नस्थात्।** ऋ ६-४५-३१)। वह स्वयमेव **प्रकाश** की **गौ** और **वेग** का **घोडा** बन जाता है[1] और सदा प्रवृद्ध होती रहनेवाली सहस्रो गुणा दौलत को बरसा देता है[2]। पणिवाली उस प्रकाशमान दौलत की परिपूर्णता और द्यौ की तरफ आरोहण, जैसा कि हमें पहले से ही मालूम है, **अमरत्व** का **मार्ग** है और **अमरत्व** का जन्म है। "अगिरा ने (सत्य की) सर्वोच्च अभिव्यक्ति (वय) को धारण किया, उन (अगिरसो) ने जिन्होने कर्म की पूर्ण सिद्धि द्वारा अग्नि को प्रज्वलित किया था, उन्होने पणि के सारे सुख-भोग को, इसके घोडोवाले और

---

[1] **गौरसि वीर गव्यते, अश्वो अश्वायते भव।** (ऋ. ६।४५।२६)

[2] **यस्य वायोरिव द्रवद् भद्रा रातिः सहस्रिणी।** (६।४५।३२)

गौओंवाले पशु-समूह को, अपने हस्तगत कर लिया (१८३ ४)। यज्ञों द्वारा सर्वप्रथम अथर्वा ने पथ का निर्माण किया, उसके बाद सूर्य पैदा हुआ जो कि 'व्रतपा' और 'वेन' अर्थात् नियम का रक्षक और आनन्दमय है (तत सूर्यो व्रतपा वेन आजनि)। उशना काव्य ने गौओं को ऊपर की तरफ हाक दिया। इनके साथ हम चाहते हैं कि यज्ञ द्वारा उस अमरत्व को पा सकें जो कि नियम के अधिपति के पुत्र के तौर पर उत्पन्न हुआ है (१८३ ५)'" यमस्य जातममृत यजामहे।

अगिरा द्रष्टा-सकल्प (Seer-Will) का द्योतक ऋषि है, अथर्वा दिव्य पथ पर यात्रा का ऋषि है, उशना काव्य उस द्युमुखी इच्छा का ऋषि है जो इच्छा द्रष्टा-ज्ञान में से पैदा होती है। अगिरस उन ज्योतियों की दौलत को और सत्य की शक्तियों को जीतते हैं जो कि निम्न जीवन के तथा निम्न जीवन की कुटिलताओं के पीछे छिपी पड़ी थीं, अथर्वा उनकी शक्ति से पथ का निर्माण कर देता है और तब प्रकाश का अधिपति सूर्य पैदा हो जाता है जो कि दिव्य नियम का तथा यम-शक्ति का सरक्षक है, उशना हमारे विचार की प्रकाशात्मक गौओं को सत्य के उस पथ पर हाकता हुआ ऊपर उस दिव्य आनन्द तक पहुचा देता है जो कि सूर्य में रहता है, इस प्रकार सत्य के नियम में से वह अमरत्व पैदा हो जाता है जिसको आर्य-आत्मा यज्ञ द्वारा अभीप्सा किया करता है।

'आदङ्गिरा प्रथम दधिरे वय इद्धाग्नय शम्या ये सुकृत्यया।
सर्व पणे समविन्दन्त भोजनमश्वावन्त गोमन्तमा पशु नर ॥४॥
यज्ञैरथर्वा प्रथम पथस्तते तत सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आ गा आजदुशना काव्य सचा यमस्य जातममृत यजामहे ॥५॥

चौबीसवां अध्याय

परिणामों का सार

अब हम ऋग्वेद में आनेवाले अगिरस कथानक की, सभी सम्भव पहलुओ को लेकर तथा इसके मुख्य प्रतीको सहित, समीपता के साथ परीक्षा कर चुके है और अब इस स्थिति में है कि इससे हमने जिन परिणामो को निकाला है उन्हें यहा निश्चयात्मकता के साथ सक्षेप से वर्णित कर दें। जैसा कि मै पहले ही कह चुका हू, अगिरसो का कथानक तथा वृत्र की गाथा ये दो वेद के आधारभूत रूपक है, ये सारे वेद में पाये जाते है और वार-वार आते है, ये सूक्तो में इस रूप में आते है मानो ये प्रतीकात्मक अलकारवर्णना के दो घनिष्ठतया आपस मे जुडे हुए मुख्य तार है और इन्ही के चारों ओर अवशिष्ट मारा वैदिक प्रतीकवाद बाने की तरह ओतप्रोत हुआ-हुआ है। यही नही कि ये इसके केद्रभूत विचार है वल्कि ये इस प्राचीन रचना के मुख्य स्तम्भ है। जब हम इन दो प्रतीकात्मक रूपको के अभिप्राय को निश्चित कर लेते है तो मानो हमने सारी ही ऋक्-सहिता का अभिप्राय निश्चित कर लिया। क्योकि यदि वृत्र और जल बादल और वर्षा के तथा पञ्जाब की सात नदियो के प्रवाहित हो पडने के प्रतीक है और यदि अगिरस भौतिक उषा के लानेवाले है तो वेद प्राकृतिक घटनाओ का एक प्रतीकवाद है जिसमें कि इन प्राकृतिक घटनाओ को देवो और ऋषियो तथा उपद्रवी दानवो का सजीव रूप देकर वर्णन किया गया है। और यदि 'वृत्र' और 'वल' द्रवीडी देवता है तथा 'पणि' और 'वृत्रा' मानवीय शत्रु है तो वेद द्राविड भारत पर प्रकृतिपूजक जगलियो द्वारा किये गये आक्रमण का एक कविता-मय तथा कथात्मक उपाख्यान है। किन्तु इस सवके विपरीत यदि वेद **प्रकाश और अन्धकार, सत्य और अनृत, ज्ञान और अज्ञान, मृत्यु और अमरता** की आध्यात्मिक शक्तियो के मध्य होनेवाले सघर्ष का एक प्रतीकवाद है तो यही असली वेद है, यही सम्पूर्ण वेद का वास्तविक आशय है।

हमने यह परिणाम निकाला है कि अंगिरस ऋषि उषा के लानेवाले है, सूर्य को अन्धकार में से छुडानेवाले है, पर ये उषा, सूर्य, अन्धकार प्रतीकरूप है जो कि आध्यात्मिक अर्थ मे प्रयुक्त किये गये है। वेद का केन्द्रभूत विचार है अज्ञान के अन्धकार में से सत्य की विजय करना तथा सत्य की विजय द्वारा साथ मे अमरता की भी विजय कर लेना। क्योकि वैदिक ऋतम् जहा मनोवैज्ञानिक विचार है वहा आध्यात्मिक विचार भी है। यह 'ऋतम्' अग्नित्व का सत्य सत्, सत्य चैतन्य, सत्य आनन्द है जो कि इस शरीररूप पृथिवी, इस प्राणशक्तिरूप अन्तरिक्ष, इस मनरूप सामान्य आकाश या द्यौ से परे है। हमें इन सब स्तरो को पार करके आगे जाना है ताकि हम उस परचेतन सत्य के उच्च स्तर में पहुच सके जो कि देवो का स्वकीय घर है और अमरत्व का मूल है। यही 'स्व' का लोक है जिस तक पहुचने के लिये अंगिरसो ने अपनी आगे आनेवाली सन्ततियो के लाभार्थ मार्ग को ढूढा है।

अंगिरस एक साथ दोनो है, एक तो दिव्य द्रष्टा जो कि देवो के विश्वसम्बन्धी तथा मानवसम्बन्धी कार्यो मे सहायता करते है, और दूसरे उनके भूमिष्ठ प्रतिनिधि, पूर्वज पितर, जिन्होने कि सर्वप्रथम उस ज्ञान को पाया था जिसके वैदिक सूक्त गीत है, सस्मरण है और फिर से नवीन रूप में अनुभव करने योग्य सत्य है। सात दिव्य अंगिरस अग्नि के पुत्र या अग्नि की शक्तिया है, द्रष्टा-सकल्प की शक्तिया है और यह 'अग्नि' या 'द्रष्टा-सकल्प' है दिव्य शक्ति की दिव्य ज्ञान से उद्दीप्त वह ज्वाला जो विजय के लिये प्रज्वलित की जाती है। भृगुओ ने तो पार्थिव सत्ता की वृद्धियो (उपजो) मे छिपी हुई उस ज्वाला को ढूढा है, पर अंगिरस इस ज्वाला को यज्ञ की वेदी पर प्रज्वलित करते है और यज्ञ को यज्ञिय वर्ष के काल-विभागो मे लगातार जारी किये रखते है जो कि काल-विभाग उस दिव्य प्रयास के कालविभागो के प्रतीक है जिसके द्वारा सत्य का सूर्य अन्धकार मे से निकालकर पुन प्राप्त किया जाता है। वे जो इस वर्ष के नौ महीनो तक यज्ञ करते है नवग्वा है, नौ गौओ या किरणो के द्रष्टा है, जो कि सूर्य की गौओ की खोज को आरभ करते है और पणियो के साथ युद्ध करने के लिये इन्द्र को प्रयाण मे प्रवृत्त करते है। वे जो दस महीनो तक यज्ञ

करते है दशग्वा है, दस किरणो के द्रष्टा है, जो कि इन्द्र के साथ पणियो की गुफा के अन्दर घुसते है और खोयी हुई गौओ को वापिस ले आते है।

यज्ञ यह है कि मनुष्य के पास अपनी सत्ता मे जो कुछ है उमे वह उच्चतर या दिव्य स्वभाव को अर्पित कर दे, और इस यज्ञ का फल यह होता है कि उसका मनुष्यत्व देवो के मुक्तहस्त दान के द्वारा और अधिक समृद्ध हो जाता है। दौलत जो इस प्रकार यज्ञ करने से प्राप्त होती है आध्यात्मिक ऐश्वर्य, समृद्धि, आनन्द की अवस्था से निर्मित होती है और यह अवस्था स्वय यात्रा मे सहायक होने-वाली एक शक्ति है और युद्ध की एक शक्ति है। क्योकि यज्ञ एक यात्रा है, एक प्रगति है, यज्ञ स्वय यात्रा करता है जो उसकी यात्रा 'अग्नि' को नेता वना-कर दिव्य मार्ग से देवो के प्रति होती है और 'स्व' के दिव्य लोक के प्रति अगि-रस पितरो का आरोहण इसी यात्रा का आदर्श रूप (नमूना) है। अगिरस-पितरो की यह आदर्श यज्ञ-यात्रा एक युद्ध भी है क्योकि पणि, वृत्र तथा पाप और अनृत की अन्य शक्तिया इस यात्रा का विरोध किया करती है और इस युद्ध का इन्द्र तथा अगिरस ऋषियो की पणियो के साथ लडाई एक मुख्य कथाग है।

यज्ञ के प्रधान अग है दिव्य ज्वाला को प्रज्वलित करना, 'घृत' की तथा सोम-रस की हवि देना और पवित्र शब्द का गान करना। स्तुति तथा हवि के द्वारा देव प्रवृद्ध होते है, उनके लिये कहा गया है कि वे मनुष्य के अन्दर उत्पन्न होते है, रचे जाते है या अभिव्यक्त होते है, तथा यहा अपनी वृद्धि और महत्ता से वे पृथिवी और द्यौ को अर्थात् भौतिक और मानसिक सत्ता को इनका अधिक-से-अधिक जितना ग्रहणसामर्थ्य होता है उतना वढा देते है और फिर, इन्हे अति-क्रान्त करके, अवसर आने पर उच्चतर लोको या स्तरो की रचना करते है। उच्चतर सत्ता दिव्य है, असीम है, जिसका चमकीली **गौ**, असीम **माता**, **अदिति** प्रतीक है, निम्न सत्ता उसके अन्धकारमय रूप **दिति** के अधीन है।

यज्ञ का लक्ष्य है उच्च या दिव्य सत्ता को जीतना, और निम्न या मानवीय सत्ता को इस दिव्य सत्ता से युक्त कर देना तथा इसके नियम और सत्य के अधीन कर देना। यज्ञ का 'घृत' चमकीली **गौ** की देन है, यह 'घृत' मान-

वीय मनोवृत्ति के अन्दर और प्रकाश की निर्मलता या चमक है। 'सोमरस' है सत्ता का अमृतरूप आनन्द जो कि जलो मे और सोम नामक पौधे (लता) में निगूढ रहता है और देवो तथा मनुष्यो द्वारा पान करने के लिये निचोडा जाता है। शब्द है अन्त प्रेरित वाणी जो कि सत्य के उस विचार-प्रकाश को अभिव्यक्त करती है जो आत्मा में से उठता है, हृदय में निर्मित होता है और मन द्वारा आकृतियुक्त होता है। 'अग्नि' घृत से प्रवृद्ध होकर और 'इन्द्र' सोम की प्रकाशमय शक्ति से तथा आनन्द से सबल और शब्द द्वारा प्रवृद्ध होकर, सूर्य की गौओ को फिर से पा लेने मे अगिरसो की सहायता करता है।

बृहस्पति सर्जनकारी शब्द का अधिपति है। यदि अग्नि प्रथम अगिरा है, वह ज्वाला है जिससे कि अगिरस ऋषि पैदा हुए हैं तो बृहस्पति वह एक अगिरा है जो सातमुखवाला अर्थात् प्रकाशकारी विचार की सात किरणोवाला और इस विचार को अभिव्यक्त करनेवाले सात शब्दोवाला (एक अगिरा) है, जिसकी ये सात ऋषि (अगिरस्) उच्चारण-शक्तिया बने है। यह सत्य का सात सिरोवाला अर्थात् पूर्ण विचार है जो कि मनुष्य के लिये यज्ञ की लक्ष्यभूत पूर्ण आध्यात्मिक दौलत को जीतकर उसके लिये चौथे या दिव्य लोक को जीत लाता है। इसलिये अग्नि, इन्द्र, बृहस्पति, सोम सभी इस रूप मे वर्णित किये गये हैं कि ये सूर्य की गौओ को जीत लानेवाले है और उन दस्युओ के विनाशक है जो कि उन गौओ को छिपा लेते है और मनुष्य के पास आने मे रोकते है। सरस्वती भी, जो कि दिव्य शब्द की धारा या सत्य की अन्त प्रेरणा है, दस्युओ का वध करनेवाली और चमकीली गौओ को जीतनेवाली है, उन गौओ का पता है इन्द्र की अग्रदूती सरमा ने जो कि सूर्य की या उषा की एक देवी है और सत्य की अन्तर्ज्ञानमयी शक्ति की प्रतीक मालूम होती है। उषा एक साथ दोनो है, स्वय वह इस महान् विजय में एक कार्यकर्त्री भी है और पूर्ण रूप मे उसका आगमन इस विजय का उज्ज्वल परिणाम है।

उषा दिव्य अरुणोदय है, क्योकि सूर्य जो कि उसके आगमन के बाद प्रकट होता है पराचेतन सत्य का सूर्य है दिन जिसको वह सूर्य लाता है सत्यमय ज्ञान के अन्दर होनेवाला सत्यमय जीवन का दिन है, रात्रि जिसे वह विध्वस्त

करता है अज्ञान की रात्रि है जो कि अब तक उषा को अपने अन्दर छिपाये रखती है। उषा स्वय **सत्य** है, **सूनृता** है और सत्यो की माता है। दिव्य उषा के इन सत्यो को उषा की गौए, उषा के चमकीले पशु कहा गया है, जब कि **सत्य** के वेगवान् बलो को जो कि उन गौओ के साथ-साथ रहते है और जीवन को अधिष्ठित करते है उषा के घोडे कहा गया है। गौओ और घोडो के इस प्रतीक के चारो ओर वैदिक प्रतीकवाद का अधिकाश घूम रहा है, क्योकि ये ही उन सम्पत्तियो के मुख्य अग है, जिनको मनुष्य ने देवो से पाना चाहा है। उषा की गौओ को अन्धकार के अधिपति दानवो ने चुरा लिया है और ले जाकर गूढ अवचेतना की अपनी निम्नतर गुफा मे छिपा दिया है। वे गौए ज्ञान की ज्योतिया है, **सत्य** के विचार है (**गावो मतय**), जिन्हे उन की इस कैद से छुटकारा दिलाना है। उनके छुटकारे का अभिप्राय है दिव्य उषा की शक्तियो का वेग से ऊर्ध्वगमन होने लगना।

साथ ही इस छुटकारे का अभिप्राय उस **सूर्य** की पुन प्राप्ति भी है जो कि अन्धकार में छिपा पडा था, क्योकि यह कहा गया है कि **सूर्य** अर्थात् दिव्य सत्य, "सत्य तत्", ही वह वस्तु थी जिसे इन्द्र और अगिरसो ने पणियो की गुफा मे पाया था। उस गुफा के विदीर्ण हो जाने पर दिव्य उषा की गौए जो कि **सत्य** के **सूर्य** की किरणे है आरोहण करके सत्ता की पहाडी के ऊपर जा पहुचती है और **सूर्य** स्वय दिव्य सत्ता के प्रकाशमान ऊर्ध्व समुद्र में ऊपर चढता है, जो विचारक है वे जल में जहाज की तरह इस ऊर्ध्व समुद्र में इस सूर्य को आगे-आगे ले जाते है जबतक कि वह इसके दूरवर्ती परले तट पर नही पहुच जाता।

पणि जो कि गौओ को कैद कर लेनेवाले है, जो निम्न गुफा के अधिपति है, दस्युओ की एक श्रेणी में के है, जो दस्यु वैदिक प्रतीकवाद मे आर्य देवो और आर्य द्रष्टाओ तथा कार्यकर्ताओ के विरोध मे रखे गये है। आर्य वह है जो यज्ञ के कार्य को करता है, प्रकाश के पवित्र शब्द को प्राप्त करता है, देवो को चाहता है और उन्हे बढाता है तथा स्वय उनसे बढाया जाकर सच्चे अस्तित्व की विशालता को प्राप्त करता है, वह **प्रकाश** का योद्धा है और **सत्य** का यात्री है। 'दस्यु' है अदिव्य सत्ता जो किसी प्रकार का यज्ञ नही करती, दौलत को

बटोर-बटोरकर जमा तो कर लेती है पर उसका ठीक प्रकार उपयोग नही कर सकती, क्योकि वह शब्द को नही बोल सकती या पराचेतन सत्य को मनोगत नही कर सकती, शब्द से, देवो मे और यज्ञ मे द्वेष करती है और अपने-आप से कोई वस्तु उच्च सत्ताओ को नही देती, बल्कि आर्य की उनकी अपनी दौलत को उससे लूट लेती है और अपने पास रोक रखती है। वह चोर है, शत्रु है, भेडिया है, भक्षक है, विभाजक है, बाधक है, अवरोधक है। दस्यु अन्धकार और अज्ञान की शक्तिया है जो सत्य के तथा अमरत्व के अन्वेष्टा का विरोध करती है। देव है प्रकाश की शक्तिया, असीमता (अदिति) के पुत्र, एक परम देव के रूप और व्यक्तित्व जो अपनी सहायता के द्वारा तथा मनुष्य के अन्दर अपनी वृद्धि और मानुष व्यापारो के द्वारा मनुष्य को ऊचा उठाकर सत्य और अमरता तक पहुचा देते है।

इस प्रकार आगिरस-गाथा का स्पष्टीकरण हमे वेद के सम्पूर्ण रहस्य की कुञ्जी पकडा देता है। क्योकि वे गौए और घोडे जो आर्यो ने खो गये थे और जिन्हे उनके लिये देवो ने फिर से प्राप्त किया, वे गौए और घोडे जिनका इन्द्र स्वामी और प्रदाता है और वस्तुत स्वय गौ और घोडा है यदि भौतिक पशु नही है, यज्ञ द्वारा चाही गयी दौलत के ये अग यदि आध्यात्मिक सम्पत्तिया के प्रतीक है तो इसी प्रकार इसके अन्य अग पुत्र, मनुष्य, सुवर्ण, खजाना आदि भी जो कि सदा इनके साथ सम्बद्ध आते है, इन्ही अर्थो मे होने चाहिये। यदि गौ जिससे 'घृत' पैदा होना है कोई भौतिक गाय नही है बल्कि जगमगानेवाली माता है तो स्वय घृत को भी जो कि जलो मे पाया गया है और जिसके लिये यह कहा गया है कि पणियो ने उसे गौ के अन्दर त्रिविध रूप मे छिपा दिया था, भौतिक हवि नही होना चाहिये, न ही सोम का मधु-रस भौतिक हवि हो सकता है जिसके विषय मे यह भी कहा गया है कि वह नदियो मे होता है और समुद्र से एक मधुमय लहर के रूप म उठता है तथा ऊपर देवो के प्रति धारारूप मे प्रवाहित होता है। और यदि ये प्रतीकरूप है तो यज्ञ की अन्य हवियो को भी प्रतीकरूप ही होना चाहिये, स्वय बाह्य यज्ञ भी एक आन्तर प्रदान के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता। और यदि अगिरस ऋषि भी अतत प्रतीक-

रूप है या देवो के सदृश यज्ञ मे अर्ध-दिव्य कार्यकर्ता और सहायक है तो वैसे ही भृगुगण, अथर्वण, उशना और कुत्स तथा अन्य होने चाहियें जो कि उनके कार्य मे उनके साथ सम्बद्ध आते है। यदि अगिरसो की गाथा तथा दस्युओ के साथ युद्ध की कहानी एक रूपक है, तो वैसा ही अन्य आख्यायिकाओ को भी होना चाहिये जो कि ऋग्वेद मे उस सहायता के विषय मे पायी जाती है जो दानवो के विरुद्ध लडाई मे ऋषियो को देवो द्वारा प्रदान की गयी थी, क्योकि वे आख्या-यिकाए भी उन्ही जैसे शब्दो में वर्णित की गयी है और वैदिक कवियो ने उन्हे सतत रूप से अगिरसो के कथानक के साथ इस तरह एक श्रेणी मे रखा है जैसे कि ये इनके समान आधारवाली हो।

इसी प्रकार ये दस्यु जो दान और यज्ञ का निषेध करते है और शब्द से तथा देवो से द्वेष करते है और जिनके साथ आर्य निरन्तर युद्ध मे सलग्न रहते है, ये वृत्र, पणि व अन्य, यदि मानवीय शत्रु नही है, बल्कि अन्धकार, अनृत और पाप की शक्तिया है, तो आर्यों के युद्धो का, आर्य-राजाओ का तथा आर्यों की जातियो का सारा विचार आध्यात्मिक प्रतीक और आध्यात्मिक उपाख्यान का रूप धारण करने लगता है। वे अविकल रूप मे ऐसे है या केवल अशत यह अपेक्षा-कृत अधिक ब्यौरेवार परीक्षा के बिना निर्णीत नही किया जा सकता, और यह परीक्षा इस समय हमारा उद्देश्य नही है। हमारा वर्तमान उद्देश्य केवल यह देखना है कि हमारे पास हमारे इस विचार की पुष्टि के लिये प्राथमिक पर्याप्त सामग्री है या नही, जिसको लेकर हम चले है अर्थात् यह विचार कि वैदिक-सूक्त प्राचीन भारतीय रहस्यवादियो की प्रतीकात्मक पवित्र पुस्तके है और उनका अभिप्राय आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक है। इस प्रकार की प्राथमिक पर्याप्त सामग्री है यह हमने स्थापित कर दिया है, क्योकि अबतक हमने जितना विचार-विवेचन किया है उससे ही हमारे पास इसके लिये पर्याप्त आधार है कि वेद के पास हमें गभीरता के साथ इसी दृष्टिकोण को लेकर पहुचना चाहिये तथा वेद भावनामय काव्य में लिखे गये इसी प्रकार के प्रतीकवाद के ग्रथ है इस दृष्टि को ही सामने रखकर इनकी ब्यौरेवार व्याख्या करनी चाहिये।

तो भी अपने पक्ष को पूर्णतया सुदृढ करने के लिये यह अच्छा होगा कि वृत्र

तथा जलों सम्बन्धी दूसरी सहचरी गाथा की भी परीक्षा कर ली जाय जिसे हमने अंगिरसों तथा प्रकाश की गाथा के साथ इतना निकट रूप में सम्बद्ध पाया है। इस सम्बन्ध में पहली बात यह कि वृत्रहन्ता 'इन्द्र', अग्नि के साथ, वैदिक विश्वदेवतागण के मुख्य दो देवताओं में से एक है और उसका स्वरूप तथा उसके व्यापार यदि समुचित रूप से निर्धारित हो सकें तो आर्यों के देवों का सामान्य रूप सुदृढ़तया नियत हो जायगा। दूसरे यह कि मरुत् जो इन्द्र के सखा हैं, पवित्र गान के गायक हैं, वैदिक पूजा के विषय में प्रकृतिवादी मत के सबसे प्रबल साधक-बिन्दु हैं, वे निःसन्देह आँधी के देवता हैं और अन्य बड़े-बड़े वैदिक देवों में से दूसरे किसी का भी, अग्नि का या मित्र-वरुण का या त्वष्टा का और वैदिक देवियों का या यहाँतक कि सूर्य का भी या उषा का भी ऐसा कोई प्रत्यक्ष भौतिक स्वरूप नहीं है। यदि इन आँधी के देवताओं के विषय में यह दर्शाया जा सके कि ये एक आध्यात्मिक स्वरूप और प्रतीकवाद को रखे हुए हैं तब वैदिक-धर्म तथा वैदिक कर्मकाण्ड के गम्भीरतर अभिप्राय के सम्बन्ध में कोई सन्देह अवशिष्ट नहीं रह सकता। अन्तिम बात यह कि वृत्र और उसके सम्बद्ध दानव शुष्ण, नमुचि तथा अवशिष्ट अन्यों की निकट रूप से परीक्षा किये जाने पर यदि पता चले कि ये आध्यात्मिक अर्थ में दस्यु हैं तथा यदि वृत्र द्वारा रोके जानेवाले आकाशीय (दिव्य) जलों के अभिप्राय का और अधिक गहराई में जाकर अनुसन्धान किया जाय तब यह विचार कि वेद में ऋषियों और देव तथा दानवों की कहानियाँ रूपक हैं एक निश्चित आरम्भ-बिंदु को लेकर चलाया जा सकता है और वैदिक श्लोकों का प्रतीकवाद एवं सन्तोषजनक व्याख्या के अधिक समीप लाया जा सकता है।

इससे अधिक प्रयत्न करना इस समय हमारे लिये संभव नहीं, क्योंकि वैदिक प्रतीकवाद जैसा कि सूक्तों में प्रदर्शित किया गया है अपने अंग-उपांगों में अत्यधिक पेचीदा है, अपने दृष्टि-बिन्दुओं की अत्यधिक विविधता को रखता है, अपनी प्रतिच्छायाओं में और अवान्तर निर्देशों में व्याख्या करनेवाले के लिये अति ही अधिक अस्पष्टताओं तथा कठिनाइयों को उपस्थित करता है और सबसे बढ़कर यह कि विस्मृति और अन्यथाग्रहण के पिछले युगों द्वारा यह इतना

अधिक धुधला हो चुका है कि एक ही पुस्तक मे इसपर समुचित रूप से विचार कर सकना शक्य नही है। इस समय हम इतना ही कर सकते है कि मुख्य मुख्य मूलसूत्रो को ढूढ निकाले और जहातक हो सके उतना सुरक्षित रूप मे ठीक-ठीक आधारो को स्थापित कर दें।

इति

अन्तिम वक्तव्य

पाठक देखेंगे कि इस ग्रंथ का अंतिम अध्याय—अर्थात् यह ग्रंथ ही—इस प्रकार समाप्त हुआ है मानो कि यह अधूरा है, अपूर्ण है। एक प्रकार से यह बात ठीक भी है। क्योंकि श्रीअरविंद का विचार तब इस विषय पर और आगे भी लिखने का था। अपने अंग्रेजी मासिक पत्र 'आर्य' में पहिले दो वर्षों तक लगातार इस वेद-रहस्य (The Secret of the Veda) नामक लेख-माला को देकर इसे समाप्त करते हुए इसके अंतिम अध्याय की टिप्पणी में उन्होंने स्पष्ट इच्छा प्रकट की थी कि—

'इस समय तो 'वेद-रहस्य' लेखमाला को हम बन्द करते हैं जिससे कि 'आर्य' के तृतीय वर्ष में अन्य लेखों के लिये स्थान रिक्त हो सके, पर हमारा विचार है कि बाद में इस लेखमाला को हम फिर हाथ में लेंगे और इसे पूरा करेंगे।'

पर यह इच्छा तो उन्होंने सन् १९१६ में प्रकट की थी, उसके बाद चार वर्ष तक 'आर्य' भी प्रकाशित होता रहा किंतु वे उसमें वेद पर आगे कुछ और नहीं लिख सके। और उसके बाद अब तो ३० वर्ष और बीत गये हैं। अभी सन् १९४६ में उन्होंने अग्निदेवता के सूक्तों का एक सभाष्य संग्रह (Hymns to the Mystic Fire) अवश्य लिखा है और उसके प्रारंभ में एक ३६ पृष्ठों की विस्तृत भूमिका भी लिखी है (जिसे, जैसा कि प्राक्कथन में कहा गया है, हम पाठकों को वेद-रहस्य के तृतीय खण्ड में भेंट करेंगे)। पर इसके अतिरिक्त उन्होंने वेद पर गत ३० वर्षों में और कुछ नहीं लिखा है, जैसा कि उनका पहिले विचार था। प्रस्तुत पुस्तक के अन्तिम अध्याय में ही इन्द्र-सूर्य की तथा जलों की जिस सहचरी गाथा के विषय में गवेषणा करने की बात उन्हों-ने कही है और उसके लिये तीन विचारणीय विषय भी प्रस्तुत किये हैं, वह गवे-षणा श्रीअरविन्द की लेखनी द्वारा होनी अभी बाकी ही है। इसी प्रकार इस ग्रन्थ में उन्होंने अन्य कई जगह यह भाव प्रकट किया है कि वे इसमें ज्यादा अपनी

अधिक धुंधला हो चुका है कि एक ही पुस्तक मे इसपर समुचित रूप से विचार कर सकना शक्य नही है। इस समय हम इतना ही कर सकते हैं कि मुख्य मुख्य मूलसूत्रो को ढूढ निकाले और जहातक हो सके उतना सुरक्षित रूप मे ठीक-ठीक आधारो को स्थापित कर दे।

इति

अन्तिम वक्तव्य

पाठक देखेंगे कि इस ग्रंथ का अंतिम अध्याय–अर्थात् यह ग्रंथ ही–इस प्रकार समाप्त हुआ है मानो कि यह अधूरा है, अपूर्ण है। एक प्रकार से यह बात ठीक भी है। क्योंकि श्रीअरविंद का विचार तब इस विषय पर और आगे भी लिखने का था। अपने अंग्रेजी मासिक पत्र 'आर्य' में पहिले दो वर्षों तक लगातार इस वेद-रहस्य (The Secret of the Veda) नामक लेख-माला को देकर इसे समाप्त करते हुए इसके अंतिम अध्याय की टिप्पणी में उन्होंने स्पष्ट इच्छा प्रकट की थी कि–

'इस समय तो 'वेद-रहस्य' लेखमाला को हम बन्द करते हैं जिससे कि 'आर्य' के तृतीय वर्ष में अन्य लेखों के लिये स्थान रिक्त हो सके, पर हमारा विचार है कि बाद में इस लेखमाला को हम फिर हाथ में लेंगे और इसे पूरा करेंगे।'

पर यह इच्छा तो उन्होंने सन् १९१६ में प्रकट की थी, उसके बाद चार वर्ष तक 'आर्य' भी प्रकाशित होता रहा किंतु वे उसमें वेद पर आगे कुछ और नहीं लिख सके। और उसके बाद अब तो ३० वर्ष और बीत गये हैं। अभी सन् १९४६ में उन्होंने अग्निदेवता के सूक्तों का एक सभाष्य संग्रह (Hymns to the Mystic Fire) अवश्य लिखा है और उसके प्रारंभ में एक ३६ पृष्ठों की विस्तृत भूमिका भी लिखी है (जिसे, जैसा कि प्राक्कथन में कहा गया है, हम पाठकों को वेद-रहस्य के तृतीय खण्ड में भेंट करेंगे)। पर उसके अतिरिक्त उन्होंने वेद पर गत ३० वर्षों में और कुछ नहीं लिखा है, जैसा कि उनका पहिले विचार था। प्रस्तुत पुस्तक के अन्तिम अध्याय में ही इन्द्र-वृत्र की तथा जलों की जिस सहचरी गाथा के विषय में गवेषणा करने की बात उन्हों-ने कही है और उसके लिये तीन विचारणीय विषय भी प्रस्तुत किये हैं वह गवे-षणा श्रीअरविन्द की लेखनी द्वारा होनी अभी बाकी ही है। इसी प्रकार इस ग्रन्थ में उन्होंने अन्य कई जगह यह भाव प्रकट किया है कि वे इनमें [illegible]

मर्यादाओ के कारण विषय का पूरा-पूरा विस्तृत विवेचन नही कर रहे है, सातवे अध्याय में तो उन्होने 'वैदिक सत्य पर, वेद के देवताओ पर तथा वैदिक प्रतीको पर अपने अनुशीलन लिखने की' और इसके लिये 'सूक्ष्म तथा बडा प्रयास करने की' इच्छा प्रकट की है और इस पुस्तक को समाप्त करते हुए अत मे कहा ही है कि वेद का विषय इतना गहन है कि 'एक ही पुस्तक मे इस पर समुचित रूप से विचार कर सकना शक्य नही।' इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्रीअरविन्द का सदा यह विचार रहा है, और वह अब भी है, कि वेद के विषय मे वे फिर कभी विस्तार से और आगे लिखना चाहते है और सभवत लिख सकेगे।

वे आगे जब भी लिखेंगे उसे तो परमेश्वर की कृपा से हम पाठको को सुलभ कर ही देगे। पर यहा यह सब बात कहने का अभिप्राय यह है कि चूकि श्रीअरविन्द का विचार तब और आगे भी लिखने का था इसीलिये इस पुस्तक की समाप्ति अपूर्णता का-सा भाव लिये हुए है। हमने भी अनुवाद करते हुए उसे वैसा ही रहने दिया है जिससे कि श्रीअरविन्द का यह इरादा पाठको को विदित हो जाय। पर वैसे यह पुस्तक किसी प्रकार अधूरी नही है। इन चौबीस अध्यायो में 'वेद का प्रतिपाद्य क्या है' इस विषय पर श्रीअरविन्द का अपना विवेचन अच्छी तरह से आ गया है। "वैदिक सूक्त प्राचीन भारतीय रहस्यवादियो की प्रतीकात्मक पवित्र पुस्तके है और उनका अभिप्राय आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक है।" इस विचार को मानने के लिये पर्याप्त सामग्री तथा वेद की अन्त साक्षी है यह बात इन अध्यायो में अच्छी तरह स्थापित कर दी गयी है। अत 'इसी दृष्टिकोण को लेकर हमे वेद के पास पहुचना चाहिये' तथा 'इसी दृष्टि से वेद की ब्यौरेवार व्याख्या करनी चाहिये' यह भी स्पष्ट हो गया है। वेद के प्रतीकवाद का भी इसमे अच्छा दिग्दर्शन करा दिया गया है। अब आगे वैदिक 'देवताओ का स्वरूप' तथा 'अग्नि-स्तुति' के विषय मे श्रीअरविन्द के विचार पाठक 'वेद-रहस्य' के क्रमश द्वितीय और तृतीय खण्ड मे पढेगे।

—अभय

अनुक्रमणिका (१)

(इस ग्रंथ में आये विशिष्ट विषयों तथा उल्लेखों की)*

अग्नि ७।९–१२ ७३।७–११ ८५–८६ (७वा अध्याय) १५४–१५५

अग्नि (पुरोहित) ५५, ५६

अग्नि और अगिरस् २१७–२२४

अग्नि का अपना घर ८८।१६–८९

अग्नि का जन्म १५५–१५६

अगिरस् २५०, २५२–२५३ (सामान्यत १७–२० अध्याय)

अगिरस् ऋषि २१३–२३२

अगिरस् और अग्नि २१७–२२४

अगिरस् और इन्द्र २२७–२३०

अगिरस् और उषा २३०–२३२

अगिरस् और बृहस्पति २२४–२२७

अगिरस् और मरुत् २२९–२३०

अगिरा (अथर्वा) ३३७।८, ९

अथर्वा (अगिरा) ३३७।८, ९

अदिति १२८।१८–२८ १६०।१३–१६ १८२ २७१।५–१५

अद्रि १२१।७–९

अध्वर का रूप २५५

अध्वरयज्ञ २५३–२५८

अनन्त (साप) १८०

अन्तर्ज्ञान का युग १८।१३

अपोलो (Apollo) ६।१४

अमरता २७१।१५

अमरता की वृद्धि २७२।१२

अयास्य २३५।११–१६ २३७–२३८ २४३।१५–२१

अव ११३।२२–२५

अश्व ६३।१८–२८

अश्व (श्वेन) १३८।१२–२१

अश्विनौ १०३–११० १६९–१७० १७०।२८–१७१।१

अश्विनौ और वायु १०५।१६–२०

असुर और देव ६०

आगिरस कथा १८३।१–१२ (सामा-

*इस अनुक्रमणिका में प्रारम्भ में दिये अंक पृष्ठों को सूचित करते हैं, । इस चिह्न के उपरान्त दिये अंक पंक्तियों को। – इस चिह्न से क्रमिक सातत्य सूचित होता है जैसे ९–१२ का अर्थ है ९, १०, ११, १२।

न्यत १५वा अध्याय)
आत्म-समर्पण ८८।४–१०
आध्यात्मिक अर्थ ५१, ५२
आर्य और दस्यु ५११२–५ ३०८–३१७ ३२२–३२५
आर्यों का आक्रमण ४९।९ से ५०।६ तक
इडा (इळा) ४७।१४–२० ९४।२५ १२३–१२५
इडा-सरस्वती-सरमा २८९।१८ से २९०।८
इन्द्र १११।९ से ११२।५ २२८
इन्द्र और अगिरस २२७–२२८
इन्द्र-वायु ९५–९६
उपनिषद् ४।२१ से ५।११ १६।७–१२ १७–१९
उशना (काव्य) ३३७।९
उषा १६३।१८–१६४, १६५ १६८–१६९
उषा और अगिरस् २३०–२३२ २६७।१२–१६
उस्रा ११५।१४–२५
ऋक् २४९।१७, १८
ऋत ५२।४–८ ५८।२३ से ५९।५ ८७–८८
ऋत और सत्य ८४।१६, १७ ८५।२४–२७ ८७।७, ८
ऋत का रक्षक ८८।१२
ऋभु ८७।२–४ ११८।१७–१९
एलूसिनियन ५।१४ ८।३ ३५।३
ओपधि १५५।२५ से १५६।२
ऑर्फिक ५।१३ ८।३ ३५।३
कवि ५१।२३
कृष्टि ११४।१–५
ऋतु ८५।५–१०
क्षीर समुद्र १४०।१३–१७
क्षेत्र २६२।१७–२२ २६६।२१, २२
गाथाशास्त्र तुलनात्मक ३५–३७
गाव (सप्त) १६०।८–२०
गौ ५७ १३५।१७ से १३६।२ १४३।१–३
गौ (किरणे) १६१–१६३ (सामान्यत १३वा अध्याय)
गौ और अश्व ५८।३–१९
गौओ की पुन प्राप्ति २०६।१६ से २१२
गौओ की पुन प्राप्ति का व्यापक रूपक १९१।८–१५
गौओ की पुन प्राप्ति में सब देवो का सबध १९०।८–२०
गौ और विचार ३१७।१९ से ३२१
ग्रीस का गाथाशास्त्र ६।९–२०
ग्रीस की रहस्यविद्या ५।२०, २१
घर (घर वाचक शब्द) २६६।१९, २०

घृत ५६ ९७।२० से ९८।१०
घृत और मधु २६१–२६२
घृत (तीन प्रकार मे रखा हुआ) १३५।
 १७ मे १३६।१० २६२
चमम ७२।२२ से ७३।३
चर्पणि ११४।१–५
चार नदिया २४३।८–११
चार लोक–चौथा लोक २४०।५–१६
जल ११४।९–२६ १४३।६, ७
 १४३–१४६
जल और समुद्र ११४।१५–१७
टी परमशिव अय्यर ३९।४ ४०।२२
तामिल भाषा ५०।७–२६
तिलक महाराज की पुस्तक ४०।१५–
 २१ ४१।५
तीन जन ३१४।७–२२
दक्ष ५१।२७ ९२–९४
दक्षिणा ९४।१७ से ९५।२ २६२।२३
 से २६३।१८
दमम् ८८।२१ से ८९।५
दयानन्द भाष्य ४१।११ से ४२
दशग्वा २३४–२३८ (मातारिणन
 १८वा अध्याय)
दश मास २३५।१७ से २३६ २८२।
१०–१८ ३१४।११
दस्यु और आर्य ५१।२–५ ३०८–
 ३१७ ३२२–३२५
दस्यु (पणियो पर) विजय २३वा
 अध्याय
दास, दास वर्ण ३०८ ३३३।१५–१९
दिति और अदिति २८१।७ से २८२
दिव्य (अदिव्य से दिव्य) ८६।२८ से
 ८७।५
दीदिवि ८८।११–१५
दीर्घतमस् औचथ्य ७५।१९
दुरित (सुवित) ८७।१७–२२
 १७७।७–१७
दूत (अग्नि) ८६।७–१२
दृष्टि (और श्रुति) ११।१५–१८
 ८२।१४–१६ ८५।२
देवता (देव) ८६।१३–२३
देव दैत्य ६०
देवयान २६६।१३–२६
द्रष्टा ११।८–१५
द्राविड ३।१४, १५
द्राविड भाषा ५०।६–२६
द्राविड और आर्य ५।८, ९ ४८।१ से
 ५०।६
द्वयर्थक प्रणाली (श्रीअरविन्द की)
 ४३।१–३
द्यौ ५१।२० ५२।८–२० ९६।११–
 १३
धी (और मति) ९७।८–२१
धेनु ७१।२३, २८

नदिया (सात) १४७–१४८ १५३ १२वा अध्याय २७३।९ से २७४।११
नदी १४०।२०, २१
नमस् ८२।२३ से ८३।३
नवग्वा २३४–२३८
नासत्या १०५।१३–२४
नृ १०४।१७–२५
पदपाठ २२।१२
पणि १३६।११, १२, २० १८४ से १८५।९ १९३।१८ से १९४।११ ३१०–३१२ ३२२–३२४
पणि और वृत्र ३१०।४–६
पणि (दस्युओ पर विजय) २३वा अध्याय
पाच लोक (पच जना) १५५।९–१९ २४०।११–१४
पाडित्य (वेदो का पण्डितो के हाथ में जाना) २०
पाजस् १२०।२७
पारसी धर्म ६०।२३–२७
पाश्चात्य अनुसधानप्रणाली १।१७ से २
पितर १९, २० अध्याय
पुराण १९।१४ से २०।६ ५१।१५
पुरोहित ५५।१३ से ५६।४
पूषा का अकुश ३३१।१३ से ३३२।१० ३३३।६–१४
प्रतीकवाद (वेद का) ५५–६१ २४वा अध्याय
प्राण-शुद्धि १५६।१५ से १५७।२
वृहत् ५८।२० से ५९।२० ८४
वृहस्पति (और अगिरस्) २२४–२२७ २४८।१८ से २४५।७ २४९।२५ से २५०
बौद्ध धर्म १८।१५ १९।१४
ब्रह्म (शब्द) २४८।२४ से २४९
ब्राह्मण ग्रथ १६ से १७।८
भग ७२।१६–२२ ७३।२३, २४
भद्र ८७।९–२४
भारती मही १२३–१२६।६
भाषाविज्ञान ६४।२५ से ७२
भाषाविज्ञान (तुलनात्मक) ३७।२२ से ४०।८
मति ५१।२१
मति और धी ९७।७–२१
मधुमय लहर (मधुमा ऊर्मि) १३३।१२–२७ १३८।१४–२०
मनीषा, मनीषी ५१।२१, २३
मय ५९।१४ ८७।२२–२४
मरुत् और अगिरस् २२९–२३०
मर्त्य अमर्त्य मे आदान-प्रदान ८६।१०
मर्त्य (मानवीय) और दिव्य २८६।३–१२
मह ५९।९–११ ८४।२३

महाकार्य २७० से सारा अध्याय
महायात्रा १९-२०वा अध्याय
मही (भारती) १२३-१२६।६
मत्र (वैदिक मत्र) १३।५-२३
मित्र ७३।२३ ९९।७-१२
मित्र वरुण ९८।११ से ९९।१२
मेधातिथि (काण्व) ७५।१८
यज्ञ ५४।१-१६
यज्ञ किसका प्रतीक ८५।१६
यज्ञ यजमान ५५।८-१४
यम ३०५।१६ से ३०६।१८
यात्रा (विजययात्रा) २५५-२५८।१४
यात्रा का लक्ष्य २६७।१७ से २६८
यास्क कोप २०।१६, १७
यास्क (निरुक्तिकार तथा निघटुकार) २३।२५ से २४।२५
युद्ध-यज्ञ-यात्रा २४५।२६ मे २४७
योरोपियन वैदिक पाडित्य ३०-३२
योरोपियन भाष्य तथा सायण भाष्य ३ ४।१०-२३
रथ २४९।१७ से २५०।१
रहस्यवाद का युग ७-२१
रहस्यवाद (वैदिक) ८
राये, रयि, रत्न ५३।१४
लोक ५८।२० मे ५९।२०
वरुण ७३।२४, २५ ९९।१, २ १४५।५-१४
वरुण मित्र ९८।११ से ९९।१२
वर्ण ३१०।२५ से ३१७।२०
वल १८४।९, १०, २२-२४
वसिष्ठ ७५।१९
वाज ५३।१६, २१
वायु-इन्द्र ९५-९६
विचार और गो ३१७।१९ मे ३२१
विपश्चित् ५१।२४
विप्र ५१।२४
विरोधी शक्तिया २५७।९ मे २५८।१४ २७५।६-१३
विश्वामित्र ७५।२०
विश्वेदेवा ११२।६ से ११६।१२
विष्णु १४०।९-१७
वृक ७१।१४-२३
वृत्र १८४
वृत्र और पणि ३१०।४-६
वेद का केंद्रभूत विचार ५९।२१ से ६०।४ ८९।७-१५ १०१।२२ मे १०२।७
वेद का विषय १२।७ से १३।४
वेद का सारभूत विचार १८।१५ मे १८२।११
वेद का सार विषय २४वा अध्याय
वेद की रचना १३।५ मे १४।१७
वेदात और वेद १८।१७ से १९।१३ ४६।५-८

व्याहृति ५८।२० से ५९।२०
शुन शेप २१६।१-६
श्रवस् ५२।१ ८२।१०-२३ १८०।
१-८
श्रुति और दृष्टि ११।१५-१८ ८२।
१४-१६ ८५।२
श्वेत (अश्व) १७८।१२-२१
सत्य (अग्नि का) ८७।१०
सत्य और ऋत ८४।१६, १७ ८५।
२४-२७ ८७।७, ८
सत्य ऋत बृहत् ५९।१
सत्य की महिमा ३२१।११-२२
सप्त १२६।२३ से १२७।४
सप्त ऋषि २३४।१९ से २३५।११
२६८।६-८
सप्त गाव १६०
सप्त लोक ५८।२० से ५९।२०
१२७।४, ५
सभ्यता (आर्य) तथा मिश्र (खाल्दि-
यन) का भेद ३४।८-१७
सभ्यता (चीन मिश्र खाल्दियन असी-
रिया) ३२।१४-१७
समुद्र १४०।१४
समुद्र और जल ११४।१५-१७
समुद्र (दो) १३३।७-१० १३५।
७-१२ १३९।१२-१६
समुद्र (हृद्य) १३४।२४ से १३५।११
सरमा ४७।१४ से ४८।८ ९४।२७
२९०-२९४ २१वा अध्याय
सरमा-सरस्वती-इडा २८९।१८ से
२९०।८
सरस्वती ६।२६ ४७।१४-२० ९४।
२६, २७ ११६।१६-२६
११७।५, ६ १२१।२६, २७
१२३।२६, २७ १२९।५-११
१०वा अध्याय १३०-१३२
१४०।२०-२३
सरस्वती-सरमा-इडा २८९।१८ से
२९०।८
संस्कृति (ग्रीक कैल्ट) ३२।१८-
२४
संस्कृति कैल्टिक ३४।१८ से ३५।२
सात (वस्तुए) २४४।१८ से २४५।१६
सात नदिया १४७-१४८ १५३
१२वा अध्याय २७३।९ से
२७४।११
सात लोक २४०।५-१५
सात-सिरोवाला विचार २४१।६-१२
२४५।६, ७ १८वा अध्याय
सायण के अर्थ ५२।४-१७
सायण भाष्य २०।१७-१९ २४।२०
से २९ तक ५१।१६, १७
सायण भाष्य (तथा योरुपीय भाष्य)
३ ४।१०-२३

नारमेयी ३०५।१६ मे ३०६
मुनहला ३११।९–२२
सूनृता १७५।१२–२४
सूर्य ७।२–७ ७३।२४ १२८।१८–
२१ १४३।३–५
सूर्य का फिर प्रकट होना १६वा अध्याय
सूर्या ११०
मोम ७।१३–१५ ९५।२० से ९६।१०
१०९।२२ से १११।८
सोममद २४७।२९ मे २४८
स्तुभ २४९।१९, २०
स्व ९५।१०–१९ १४३।३–५
१९८–२०४
स्वत प्रकाश ज्ञान ११।१७ मे १२।१
स्वरशुद्धि की महिमा २१।८–१५
स्वसर ११५।२५–२७
हवि ५६
हवि के फल ५७
हृद्य समुद्र १३४।२८ मे १३५।११

अनुक्रमणिका (२)

(इस ग्रथ मे उल्लिखित वैदिक मत्रो तथा मत्राशो की)*

अ

अकर्म ते स्वपसो ४ २ १९ (२८५)
अक्रो न वभ्रि ३ १ १२ (१४९)
अगच्छदु विप्रतम ३ ३१ ७ (२२८, २९७)
अग्निर्जज्ञे जुह्वा ३ ३१ ३ (२९५)
अग्निर्जातो ५ १४ ४ (१९५, ३१०)
अग्निमच्छा ५ १ ४ (१७९)
अग्निमुप ब्रुव ७ ४४ ३ (१९७)
अग्निर्होता कविक्रतु, १ १ ५ (७९, २१९)
अग्नीषोमा चेति १ ९३ ४ (१८८, २०५, ३३४)
अच्छा वोचेय ४ १ १९ (२८०)
अच्छा हि त्वा ८ ६० २ (२२१)
अचेतयद् धिय ३ ३४ ५ (३१६)
अजनयत् सूर्य २ १९ ३ (२०९)
अजयो गा अजय १ ३२ १२ (१९६)
अतिद्रव सारमेयौ १० १४ १० (३०६)
अतृष्यन्तीरपसो १ ७१ ३ (२७२)
अदित्सन्त ६ ५३ ३ (३३१)
अदेदिष्ट वृत्रहा ३ ३१ २१ (२९९)
अध जिह्वा ६ ६ ५ (२१९)
अधा मातुरुषस ४ २ १५ (२८३)
अधा यथा न ४ २ १६ (२८४)
अधा ह यद् ४ २ १४ (२८३)
अधा ह्यग्ने ४ १० २ (१०१)
अधि श्रिय १ ७२ १० (३०३)
अनूनोदत्र ५ ४५ ७ (२३६, २९३)
अप त्य वृजिन ६ ५१ १३ (३३४)
अपा गर्भ ३ १ १३ (१४९)
अपामनीके समिथे ४ ५८ ११ (१३८)
अपो यदद्रि ४ १६ ८ (३००)
अभि जैत्रीरसचन्त ३ ३१ ४ (२०९, २९६)
अभि नक्षन्तो २ २४ ६ (२४४, २४७)
अभूदु पारमेतवे १ ४६ ११ (१६९)

*इस अनुक्रमणिका में मत्रो के आगे लिखे तीन अक क्रमश मडल, सूक्त, और मत्र को सूचित करते हैं और उसके आगे कोष्ठ में लिखी सख्या इस पुस्तक के पृष्ठ को सूचित करती है।

अभूदु भा उ १ ४६ १० (१६९)
अभूदुषा इन्द्रतमा ७ ७९ ३ (२३०)
अयमकृणोदुषस ६ ४४ २३ (१९३)
अय देव सहसा ६ ४४ २२ (१८८, १९३, ३३४)
अय द्यावापृथिवी ६ ४४ २४ (१९३)
अय द्योतयदद्युतो ६ ३९ ३ (३२१)
अयमुशान ६ ३९ २ (३२०)
अय रोचयदरुचो ६ ३९ ४ (३२१)
अया रुचा हरिण्या ९ १११ १ (३१८)
अयुयुत्सन्ननवद्यस्य १ ३३ ६ (२२८)
अर्चन्त एके महि ८ २९ १० (२०५)
अरित्र वा १ ४६ ८ (१६९)
अवर्धयन् ३ १ ४ (१८८)
अवेयमश्वैद्युवति १ १२४ ११ (३३५)
अश्मास्यम् २ २४ ४ (२४०)
(अश्विना यज्वरी) १ ३ १ (१०९)
अश्विनावर्त्ति १ ९२ १६ (१६८)
(अश्विना पुरुदससा) १ ३ २ (१०९)
अस्थुरु चित्रा ४ ५१ २ (३३५)
अस्मा उक्थाय ५ ८५ ३ (२९१)
अस्माकमत्र ८ १ १३ (२१०, २७८)
अस्मे वत्स १ ७२ २ (३०१)
असेन्या व १० १०८ ६ (३३०)

आ

आ च गच्छान् १० १०८ ३ (३३०)
आदारो वा १ ४६ ५ (१६९)
आदङ्गिरा प्रथम १ ८३ ४ (३३७)
आदित् पश्चा ४ १ १८ (२८०)
आदित्ते विश्वे १ ६८ २ (२७३)
आ नो गव्या ८ ३४ १८ (१९३)
आ नो नावा १ ४६ ७ (१६९)
आ नो यज्ञ १० ११० ८ (१२३)
आपो य व ७ ८७ १ (१८६)
आ ये विश्वा १ ७२ ९ (२७१, ३०२)
आ युवान कवयो ६ ८९ ११ (२३०)
आ यूथेव क्षुमति ८ २ १८ (२८८)
आरे द्वेषांसि ५ ८५ ५ (२९३)
आ रोदसी बृहती १ ७२ ४ (३०१)

इ

इत्था यदद्भि ६ १८ ५ (२५०)
इदमु त्यत् ४ ५१ १ (३३५)
इन्द्र ओषधी ३ ३४ १० (३१५)
इन्द्र यत्ते जायते ३ ३९ १ (२५९)
इन्द्रायाहि चित्रभानो १ ३ ४ (१११)
इन्द्रायाहि तूतुजान १ ३ ६ (११२)
इन्द्रायाहि धियेषितो १ ३ ५ (१११)
इन्द्रस्तुजो बर्हणा ३ ३८ ५ (३१६)
इन्द्रस्य कर्म सुकृता ३ ३२ ८ (२०८)
इन्द्रस्याङ्गिरसां १० ६२ ३ (३०५)

इन्द्रेण युजा १० ६२ ७ (२१८)
इन्द्रो नृभि ३ ३१ १५ (१९६)
इन्द्रो मधु ३ ३९ ६ (२६१)
इन्द्रो या वज्री ७ ४९ १ (१४५)
इन्द्र मति ३ ३९ १ (२५८)
इन्द्र मित्र वरुण १ १६४ ४६ (४२,७४)
इन्द्र यो विदानो ६ २१ २ (३१९)
इन्द्र स्वर्षा जनयन् ३ ३४ ४ (२०२, ३१६)
इमा या गाव ६ २८ ५ (१८३)
इमा धिय १० ६७ १ (२३५)
इळा सरस्वती १ १३ ९ (१२३)

उ

उच्छन्तीरद्य ४ ५१ ३ (३३५)
उच्छन्नुषस सुदिना ७ ९० ४ (१९५, २०९)
उत नो गोषणिं ६ ५३ १० (३३२)
उदु ज्योतिरमृत ७ ७६ १ (२६५)
उद्गा आजदभिनद् २ २४ ३ (२३९, ३२१)
उप त्वाग्ने १ १ ७ (७९)
उप न सवना १ ४. २ (१६३)
उपह्वरे यदुपरा १ ६२ ६ (२४३)
उपेदह धनदामप्रतीत १ ३३ २ (३२६)
उभा पिवतमश्विनोभा १ ४६ १५ (१६९)
उरु यज्ञाय ७ ९९ ४ (१९६, २०२)
उरु नो लोकम् ६ ४७ ८ (२००)
उरूणसावसुतृपा १० १४ १२ (३०६)
उरौ महाँ ३ १ ११ (१४९)
उषा याति ज्योतिषा ७ ७८ २ (१७७)

ऋ

ऋतधीतिभि ६ ३९ २ (३२०)
ऋतयुग्भि अश्वै ४ ५१ ५ (१७४)
ऋतस्य देवी ४ ५१ ८ (१७५)
ऋतस्य पन्थाम् १ १२४ ३ (१७३)
ऋतस्य प्रषा १ ६८ ३ (२७३)
ऋतस्य बोधि ४ ३ ४ (२८५)
ऋतस्य हि धेनवो १ ७३ ६ (२७३)
ऋतावान २ २४ ७ (२४४)
ऋतेन ऋत ४ ३ ९ (२८६)
ऋतेन गाव ४ २३ ९ (३२१)
ऋतेन देवी ४ ३ १२ (२८७)
ऋतेन हि ष्मा ४ ३ १० (२८६)
ऋतेनाद्रिं ४ ३ ११ (२८७)
ऋतेनाभिन्दन् १० ६२ २ (२३९)
ऋतेन मित्रावरुणा १. २ ८ (९०)
ऋत चिकित्व ५ १२ २ (१४८)
ऋत शसन्त १० ६७ २ (२५०)

ए

एना अर्षन्ति ४ ५८ ५ (१३७)
एता धिय ५ ४५ ६ (२९३)
एतायामोपगव्यन्त १ ३३ १ (३२६)
एना विश्वा ४ ३ १६ (२८७)
एते त्ये भानवो ७ ७५ ३ (२३२)
एतो न्वद्य सुध्यो ५ ४५ ५ (२९३)
एवा च त्व १० १०८ ९ (३३०)
एवा ह्यस्य १ ८ ८ (१२४)
एष पुरु ९ १५. २ (१११)
एषा नेत्री ७ ७६ ७ (१७७, २६८)
एषो उषा १ ४६ १ (१६९)
एह गमन्नृषय १० १०८ ८ (२३५ २३८)

ओ

(ओमासश्चर्षणी) १ ३ ७ (११६)

क

कमेत त्वम् ५ २ २ (१८६)
कया ते अग्ने ८ ८४ ४ (२२१)
कविं शशासु ४ २ १२ (२८३)
कवी नो मित्रावरुणा १ २ ९ (९०)
कामस्तदग्रे १० १२९ ४ (१३९)
कुमारं माता ५ २ १ (१८६)
कुविदग नमसा ७ ९१ १ (२०५)
के मे मर्यक ५ २ ५ (१८७)
क्षेत्रादपश्य ५ २ ४ (१८६)

ग

गवा जनित्री १ १२४ ५ (१७६)
गिर प्रति १ ९ ४ (२५१)
गुहाहित गुह्य ३ ३९ ६ (२६३)
गूळ्ह ज्योति ७ ७६ ४ (२५०)
गृणानो अगिरोभि १ ६२ ५ (१९६, २०८, २४३)
गोमति अश्वावति १ ९२ १४ (१७७)
गोमतीरश्वावती १ ४८ २ (१७६, १७८)
गोरनि वीर ६ ६५ २६ (३३६)

च

चक्षाणाम परीणह १ ३३ ८ (३७१)
चक्रु दिवो १. ७१ २ (२३२)
चिकित्विन् ८ ५२ ४ (१७६)
चित्रामचित्ति ८ २ ११ (२८१)
चोदयित्री सूनृताना १ ३. ११ (१३०)
चोष्कूयमाण इन्द्र १. ३३ ३ (३२८)

ज

जनाय चिद् ६ ७३ २ (१९२)
जनयन्तो दैव्यानि ७. ७५. ३ (२३२)
जही न्यत्रिण ६ ५१ १४ (३२६, ३३४)
ज्योतिर्विश्वस्मै १ ९२ ४ (१६४, २०६)
ज्योतिर्वृणीत ३ ३९ ७(२६२, २६३)

त

त इद्देवाना सधमाद ७ ७६ ४ (२६७)
तत सूर्यो १ ८३ ५ (३३७)
तत्तदिदश्विनो १ ४६ १२ (१६९)
तद्देवाना देवतमाय २ २४ ३ (२०७)
तन्न प्रत्न ६ १८ ५ (२५८)
तम आसीत्तमसा १० १२९ ३ (१३९, ३२३)
तमङ्गिरस्वन्नमसा ३ ३१ १९ (२९९)
तमीमण्वी ९ १ ७ (११०)
तमु न पूर्वे ६ २२ २ (२४९)
तमूर्मिमापो ७ ४७ २ (१४६)
तमेव विश्वे २ २४ ४ (२४१)
तव श्रिये व्यजिहीत २ २३ १८ (२२६)
त्वमग्ने प्रथमो १ ३१ १ (२२२)
त्वमग्ने वाघते ४ २ १३ (२८३)
त्व वलस्य १ ११ ५ (१८९)
त्वमेतान् रुदतो १ ३३ ७ (३२८)
त्व त्यत् पणीना ९ १११ २ (३१८)
तवेद विश्वम् ७ ९८ ६ (२०८)
तावस्मभ्य दृशये १० १४ १२ (३०६)
तानीदहानि ७ ७६ ३ (२६७)
ता योधिष्टमभि ६ ६० २ (१८८, १९५)
त्वामग्ने अगिरसो ५ ११ ६ (२२१)
तिरश्चीनो १० १२९ ५ (१३९)
तिस्रो यदग्ने १ ७२ ३ (३०१)
त्रिधा हित ४ ५८ ४ (१३५)
त्रि सप्त यद् १ ७२ ६ (३०२)
त्रिरस्य ता परमा ४ १ ७ (२७९)
तुरण्यवोऽङ्गिरसो ७ ५२ ३ (२५६)
ते अङ्गिरस १० ६२ ५ (२१८)
ते गव्यता मनसा ४ १ १५ (२७८)
ते मन्वत प्रथम ४ १ १६ (२७८)
ते मर्मृजत ४ १ १४ (२७८)

द

दधन्नृत १ ७१ ३ (२७१)
दस्योरोको न १ १०४ ५ (३२२)
(दस्रा युवाकव) १ ३ ३ (१०९)
दिति च रास्व ४ १ ७ (२८२)

दिवश्चिदा पूर्व्या ३ ३९ २ (२५९)
दिवस्कण्वास १ ४६ ९ (१६९)
दुरितानि परासुव ५ ८२ ५ (८७)
दूरमित पणयो १० १०८ ११ (३३१)
दृळ्हन्य चिद् ६ ६२ ११ (१८८)
देवाना चक्षु ७ ७७ ३ (१७८)
द्युतद्यामानम् ५ ८० ,१ (१७८)
द्विता वि वव्रे १ ६२ ७ (२४३)

ध

धन्या चिद्धि त्वे ६ ११ ३ (२२४)
धामन् ते विश्व ४ ५८ ११ (१३५)
धिय वो अप्सु ५ ४५ ११ (२३६)

न

नकिरेषा ३ ३९ ४ (२१०, २६१)
न पञ्चभिर्दशभि ५ ३४ ५ (३१३)
न ये दिव १ ३३ १० (३२९)
नि काव्या वेवस॰ १ ७२ १ (३०१)
नि गव्यता ३ ३१ ९ (२९७)
निण्या वचासि ४ ३ १६ (२८८)
नि सर्वसेन १ ३३ ३ (३२६)
नाह त वेद १० १०८ ८ (३३०)
नाह वेद भ्रातृत्व १० १०८ १० (३३१)
नू नो गोमद् ७ ७५ ८ (१६५)
नेशत् तमो ४ १ १७ (२८०)
न्यक्रून् ग्रथिनो ७ ६ ३ (३३५)

प

परा चिच्छीर्षा १ ३३ ५ (३२७)
परि तृन्धि ६ ५३ ५ (३३१)
परि यदिन्द्र १ ३३ ९ (३२८)
पणीना वर्षिष्ठे ६ ४५ ३१ (३३६)
पावका न सरस्वती १ ३ १० (१३०)
पितुश्च गर्भ ३ १ १० (१४९)
पितुश्चिदूधर्जनुषा ३ १ ९ (१४९)
पिप्रे चिच्चक्रु ३ ३१ १२ (२९८)
पुनाति ते ९ १ ६ (११०)
पूर्वामनु प्रदिश ९ १११ ३ (३१९)
पूर्वे पितरो ६ २२ २ (२३४)
प्रजावत् मावो ५ ८२ ४ (८७)
प्रति त्वा स्तोमैरीळते ७ ७६ ६ (२६८)
प्रति यत् स्या १ १०८ ५ (३९०)
प्र ओवयोप १ १२८ १० (३३५)
प्र ब्रह्माणो अगिरसो ७ ४२ १ (२८९, २५७)
प्र ब्रह्मंतु सदनाद् ७ ३६ १ (३३५)
प्र मे पन्था ७ ७६ २ (२६६)
प्र मार्य जातं ४ १ १२ (२८७)
प्र मन्महे शवसानाय १० ४७ ६ (३३६)

प्राचोदयत् सुदुघा ५ ३१ ३ (२०७)
प्राञ्च यज्ञ ३ १ २ (१४८)

व

वभ्राण सूनो ३ १ ८ (१४९)
बृहन्त इद् ३ १ १४ (१४९)
बृहस्पति प्रथम ४ ५० ४ (१८८, २२७)
बृहस्पति समजयत् ६ ७३ ३ (१८९, १९२)
ब्राह्मणास पितर ६ ७५ १० (२४९)

भ

भजन्त विश्वे १ ६८ २ (२७३)
भद्रा. . ऋत० ४ ५१ ७ (१७४)
भिनद् वलम् २ १५ ८ (१९६)
भास्वती नेत्री १ ९२ ७ (१७५)

म

मनोजवा ५ ७७ ३ (१०७)
मयो दधे ३ १ ३ (१४८)
महि क्षेत्र पुरु ३ ३१ १५ (२९९)
मही यदि धिषणा ३ ३१ १३ (२९८)
महे नो अद्य ७ ७५ २ (२३२)
महो अर्ण १ ३ १२ (१३०)
महो महानि ३ ३४ ६ (३१६)
मन्द्रस्य कवे ६ ३९ १ (३२०)
माता देवानाम् १ ११३ १९ (१७२)
मिह पावका ३. ३१. २० (२९९)
मित्र हुवे १ २ ७ (९०)

य

य सूर्यं २ १२ ७ (२०४)
य इन्द्र ८ ९७ ३ (१९४)
यजमाने सुन्वति ८ ९७ २ (१९४)
यजानो १ ७५ ५ (८८)
यज्ञैरथर्वा प्रथम १ ८३ ५ (३३७)
यत्र ज्योतिरजस्र ९ ११३ ७ (३०६)
यत्र सोम ४ ५८ ९ (१३८)
यदङ्ग दाशुषे १ १ ६ (७९)
यदा वीरस्य ७ ४२ ४ (२५५)
यमस्य जातम् १ ८३ ५ (३३७)
यमा चिदत्र ३ ३९ ३ (२६०)
यमिन्द्र दधिषे ८ ९७ २ (१९४)
यमो नो गातु १० १४ २ (३०६)
यस्मै त्व सुकृते ५ ४ ११ (२०१)
यस्य मदे . अप ३ ४३ ७ (१९६)
यस्य वायोरिव ६ ४५ ३२ (३३६)
या सूर्यो रश्मिभि ७ ४७ ४ (१४७)
या आपो दिव्या ७ ४९ २ (१४५)
या गोमतीरुषस १ ११३ १८ (१७९)

या ते अष्टा ६ ५३ ९ (३३२)
या दस्रा सिन्धू १ ४६ २ (१०७, १६९)
या न पीपरदश्विना १ ४६ ६ (१०७, १६९)
याभिरङ्गिरो मनसा १ ११२ १८ (१८८)
या वहसि पुरु ७ ८१ ३ (१७५)
या शश्वन्तम् ६ ६१ १ (३३८)
याना राजा वरुणो ७ ४९ ३ (१८५)
यासु राजा वरुणो ७ ४९ ४ (१८५)
या पूषन् ६ ५३ ८ (३३१)
युज वज्रम् १. ३३ १० (२०७)
युव सूर्यं विविदयु ६ ७२ १ (१९९)
युवोरुषा अनु १ ४६ १४ (१६९)
यूय हि देवी ४ ५१ ५ (१७४)
ये अग्ने परि १० ६२ ६ (२१८)
ये ते शुक्राम ६ ६ ४ (२१०)
येन ज्योति० ८ ८९ १ (२०५)
येन सिन्धु ८ १२ ३ (२८८)
येना दशग्वमध्रिगु ८ १२ २ (२८८)
येभि नूर्यमुपग ६ १७ ५ (२१०)
यो अद्रिभित् प्रथमजा ६ ७३ १ (१८९, १९२, २२६)
यो अपाचीने ७ ६ ४ (३३६)
यो देह्यो अनमयद् ७ ६ ५ (३३६)
यौ ते श्वानौ १० १४ ११ (३०६)

र

रजन्तमध्वराणा १ १ ८ (७९)
रयिं श्रवस्युम् ७ ७५ २ (१८०)

व

वर्चोर्हि दस्यु १ ३३ ४ (३२७)
वयमु त्वा पथस्पते ६ ५३ १ (३३१)
वय नाम प्र ब्रवामा ४ ५८ २ (१३४)
वयाजा नौ ३ १ ६ (१८९)
वावशाना विवस्वति १ ४६ १३ (१६९)
(वायविन्द्रश्च चेतथ) १ २ ५ (९६)
(वायविन्द्रश्च सुन्वत) १ २ ६ (९६)
वि नद्ययुरुरुण ६ ६५ २ (१७८)
वि ते विश्वग्वात० ६ ६ ३ (२१९)
विलक्षण नमूनौ ५ ३४ ६ (३१३)
विदद् यदी ३ ३१ ६ (२०५, २०६)
विदन् मर्तो १ ७२ ८ (३०३)
विदा दिवो ५ ४५ १ (२९१)
(विशान्त्वाविशान्त्व) [illegible] ११ (२८२)
विद्वां अग्ने १ ७२ ७ (३०३)
वि नूनमुच्छाद् १ १२४ ११ (१६४, १७६)

वि पथो वाज० ६ ५३ ४ (३३१)
वि पूषन्नारया ६ ५३ ६ (३३१)
विश्वरूपा अगिरसो १० ७८ ५ (२३०)
विश्वस्य वाच १ ९२ ९ (१७६)
विश्वानि देवी १ ९२ ९ (१७६)
विश्वे अस्या ५ ४५ ८ (२९४)
(विश्वे देवासो अप्तुर) १ ३ ८ (११६)
(विश्वे देवामो अस्रिध) १ ३ ९ (११६)
विश्वेषामदिति ८ १ २० (२८१)
वि सूर्यो अमति ५ ४५ २ (२९१)
वीळु चिद् १ ७१ २ (२७१)
वीळौ सतीरभि ३ ३१ ५ (२०९, २९६)
व्यञ्जते दिवो ७ ७९ २ (२३०)
व्यस्तभ्नाद् रोदसी ६ ८ ३ (२०१)
व्युषा आवो ७ ७५ १ (१७४, २३२)
व्यू व्रजस्य तमसो ४ ५१ २ (२०७)

श

शतपवित्रा ७ ४७ ३ (१४६)
शुक्रेभिरगै ३ १ ५ (१४८)
श्रुधि ब्रह्म ६ १७ ३ (२०८)
श्रोणन् उप स्थाद् १ ६८ १ (२७२)

स

स इत्तमोऽवयुन ६ २१ ३ (३१९)
स क्षेति अस्य ४ १ ९ (२७६)
सखा ह यत्र ३ ३९ ५ (२१०, २३५, २६१)
स गोरश्वस्य ८ ३२ ५ (१९३)
स चेतयन् मनुषो ४ १ ९ (२७६)
स जातेभिर्वृत्रहा ३ ३१ ११ (२९८)
स जायत प्रथम ४ १ ११ (२७७)
सत सत प्रतिमान ३ ३१ ८ (२९७)
स तू नो अग्नि ४ १ १० (२७६)
सतो बन्धुमसति १० १२९ ४ (३२३)
सत्या सत्येभि ७ ७५ ७ (१६५, १७४, १८७)
सत्रासाह वरेण्य ३ ३४ ८ (३१४)
सनत् क्षेत्र सखिभि १ १०० १८ (१९५, २०४)
सना ता काचिद् २ २४ ५ (२४१)
सनाद् दिव १ ६२ ८ (२४४)
सनेम मित्रावरुणा ७ ५२ १ (२५६)
सनेमि सख्य १ ६२ ९ (२४४)
स मातरिश्वा १ ९६ ४ (३०५)
समान ऊर्वे ७ ७६ ५ (२६८)
समी पणेरजति ५ ३४ ७ (३१३)
समुद्रज्येष्ठा ७ ४९ १ (१४४)
समुद्रादूर्मिर्मधुमा ४ ५८ १ (१३३)

नमुद्रार्या या ७ ४९ २ (१८५)
सम्यक् स्रवन्ति ४ ५८ ६ (१३७)
सरण्युभि फल्गिगम् १ ६२ ४ (२०८)
समानात्यौं उत ३ ३४ ९ (३१५)
स सुष्टुभा स ऋक्वता ४ ५० ५ (१८८, २२७)
स सुष्टुभा स स्तुभा १ ६२ ४ (२८२)
सहस्रसामाग्निवेशि ५ ३४ ९ (३१३)
सहस्रसावे ३ ५३ ७ (२४७)
स जानाना उप १ ७२ ५ (३०२)
सपस्यमाना जमदग्निभि ३ ३१ १० (२९८)
स यज्जनौ ५ ३४ ८ (३१३)
साकं सूर्यं ६ ३० ५ (२०८)
सिन्धोरिव ४ ५८ ७ (१३७)
सुकर्माणः सुरुचो ४ २ १७ (२८४)
सुगन्ते अग्ने ९ ४७ २ (२५४)
सुम्पत्रून्तुमूनये १ ८ १ (१६३)
सो अग्निस्सामृनया २ २० ५ (२८९)
सो अगिरोभि १ १०० ४ (२२७)
स्त्रीणां अस्य ३ १ ७ (१४९)
स्वयंदेदि सुदृशीक ८ १६ ४ (१९९)
स्वादुपसद ६ ७५ ० (२२८)
स्वाधीभिर्ऋक्वभि ६ ३२ २ (२५०)
स्वाध्यो दिव आ १ ७२ ८ (१९५, २३८, ३०२)

ह

हृमाविव ५ ७८ १ (१०७)
हिरण्यदन्तम् ५ २ ३ (१८६)

वेद-रहस्य

के

द्वितीय तथा तृतीय खण्ड

वेद-रहस्य के द्वितीय खण्ड का नाम 'देवताओं का स्वरूप' है। इसमें वे १३ अध्याय हैं जो श्रीअरविन्द ने Selected Hymns नाम से लिखे थे। इनमें इन्द्र, अग्नि आदि वैदिक देवताओं में से एक एक को लेकर उनका स्वरूप निर्धारण किया गया है और उदाहरण के रूप में उस उस देवता के एक एक सूक्त का भाष्य दिया गया है।

तृतीय खण्ड में अग्नि देवता के सूक्तों का चयन है। इसका नाम 'अग्नि-स्तुति' है। यह Hymns to the Mystic Fire का अनुवाद है। इसमें श्रीअरविन्द द्वारा अभी हाल में लिखी ३६ पृष्ठों की विस्तृत भूमिका भी है।

मिलने का पता

अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्दाश्रम, पांडिचेरी

तथा

श्रीअरविन्द-निकेतन, कनाट सरकस,

नयी देहली

वेद-रहस्य

के

द्वितीय तथा तृतीय खण्ड

वेद-रहस्य के द्वितीय खण्ड का नाम 'देवताओं का स्वरूप' है। इसमें वे १३ अध्याय हैं जो श्रीअरविन्द ने Selected Hymns नाम से लिखे थे। इनमें इन्द्र, अग्नि आदि वैदिक देवताओं में से एक एक को लेकर उनका स्वरूप निर्धारण किया गया है और उदाहरण के रूप में उस उस देवता के एक एक सूक्त का भाष्य दिया गया है।

तृतीय खण्ड में अग्नि देवता के सूक्तों का चयन है। इसका नाम 'अग्नि-स्तुति' है। यह Hymns to the Mystic Fire का अनुवाद है। इसमें श्रीअरविन्द द्वारा अभी हाल में लिखी ३६ पृष्ठों की विस्तृत भूमिका भी है।

वेद-रहस्य

के

द्वितीय तथा तृतीय खण्ड

वेद-रहस्य के द्वितीय खण्ड का नाम 'देवताओं का स्वरूप' है। इसमें वे १३ अध्याय हैं जो श्रीअरविन्द ने Selected Hymns नाम से लिखे थे। इनमें इन्द्र, अग्नि आदि वैदिक देवताओं में से एक एक को लेकर उनका स्वरूप निर्धारण किया गया है और उदाहरण के रूप में उस उस देवता के एक एक सूक्त का भाष्य दिया गया है।

तृतीय खण्ड में अग्नि देवता के सूक्तों का चयन है। इसका नाम 'अग्नि-स्तुति' है। यह Hymns to the Mystic Fire का अनुवाद है। इसमें श्रीअरविन्द द्वारा अभी हाल में लिखी ३६ पृष्ठों की विस्तृत भूमिका भी है।